प्रकाशक :
विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी,
'विद्या-विहार, ४ बलवीर ऐवेन्यू,
देहरादून

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
कनाट सरकस
नई दिल्ली

विषय-सूची

बृहदारण्यक-उपनिषद्

प्रथम अध्याय--(पहला ब्राह्मण)

(सृष्टि का हय, वाजी, अर्वा तथा अश्व-रूप में एव ब्रह्म का मृत्यु रूप मे वर्णन)

उपनिषदो के ऋषि 'ज्ञात' से 'अज्ञात' का वर्णन करते हुए 'पिंड' से 'ब्रह्माड' का वर्णन किया करते थे--उनकी वर्णन-शैली का यह मूलमन्त्र था। उपनिषत्काल मे जो यज्ञ होते थे, उन्हे भी वे परमार्थ मे ही घटाने का यत्न करते थे। इन्ही यज्ञो मे 'अश्वमेध'-यज्ञ था। जिस प्रकार यज्ञ-मण्डप मे 'अश्वमेध'-यज्ञ हो रहा है, इसी प्रकार मानो इस विशाल ब्रह्माड मे भी 'अश्वमेध'-यज्ञ ही रचा जा रहा है, यह सृष्टि-रूप-यज्ञ एक 'विराट्-अश्वमेध'-यज्ञ है। कैसे ? ऋषि कहते है :--

सृष्टि ही मानो मेध्य-अश्व है, विराट् अश्व है। इस 'विराट्-अश्व' का सिर 'उषा' है, इसकी आंख 'सूर्य' है, इसका प्राण 'वायु' है, इसका खुला हुआ मुंह 'वैश्वानर-अग्नि' है, इस मेध्य-अश्व का आत्मा 'संवत्सर' है--'समय' है। इसकी पीठ 'द्यु-लोक' है, इसका उदर 'अन्तरिक्ष-लोक' है, इसके खुर 'पृथिवी-लोक' है, पासे 'दिशाएं' है, पसलियां 'अवान्तर-दिशाएं' है, अंग 'ऋतुएं' है, जोड़ 'मास और

ॐ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः सूर्यश्चक्षुर्वात. प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माऽश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि। ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥१॥

ओम्--सर्वरक्षक आदि गुरु ईश्वर का नाम स्मरण कर, **उषाः वै**--उषा (प्रात सूर्योदय से पूर्व की आभा) ही, **अश्वस्य**--भोग्य, गतिमय, व्यापक

अर्धमास' है, स्थिति-स्थान 'अहोरात्र' है, अस्थियां 'नक्षत्र' है, मांस 'बादल' है, पेट में पड़ा आधा-पचा भोजन सिकता—'रेत'—है, अंतड़ियां 'नदियां' है, जिगर-फेफड़े 'पहाड़' है, लोम 'ओषधि तथा वनस्पतियां' है, पूर्वार्ध 'उदीयमान-सूर्य' है, उत्तरार्ध 'अस्त होता हुआ सूर्य' है। अश्व जैसे जभाई लेता है, सृष्टि में वह 'चमकना' है, अश्व जैसे शरीर को झाड़ता है, सृष्टि में वह 'कड़कना' है, अश्व जैसे मूत्रोत्सर्ग करता है, सृष्टि में वह 'बरसना' है, अश्व जैसे हिनहिनाता है, सृष्टि में वह 'गरजना' है ॥१॥

(सृष्टि का), **मेध्यस्य**—जानने योग्य, सस्कृत करने योग्य, (**अश्वस्य मेध्यस्य**—इस जानने योग्य, पालन योग्य, उपयोगी अश्व—विराट् जगत्—सृष्टि का), **शिरः**—सिर (स्थानीय) है, **सूर्यः**—सूर्य, **चक्षुः**—नेत्र समान, **वातः**—वायु, **प्राण.**—प्राण (श्वास-प्रश्वास), **व्यात्तम्**—(खुला) मुख, **अग्निः**—अग्नि, **वैश्वानरः**—वैश्वानर (सजक अग्नि), **संवत्सरः**—पूर्ण वर्ष (काल), **आत्मा**—शरीर (धड) है, **अश्वस्य मेध्यस्य**—इस ज्ञेय, अश्वरूप विराड्-जगत् का, **द्यौः**—द्यु-लोक, **पृष्ठम्**—पीठ; **अन्तरिक्षम्**—अन्तरिक्ष (आकाश), **उदरम्**—पेट के समान, **पृथिवी**—पृथ्वी, **पाजस्यम्**—पाद-तल (तलवा), **दिशः**—दिशाए, **पार्श्वे**—(दक्षिण-वाम) पासे, **अवान्तरदिशः**—(मध्यवर्ती) उप-दिशाएं, **पर्शवः**—पसलिया, **ऋतवः**—छ ऋतु, **अंगानि**—अग है, **मासा च अर्धमासाः च**—पूर्णमास और पक्ष (कृष्ण-शुक्ल), **पर्वाणि**—पर्व (पोरे, जोड), **अहोरात्राणि**—दिन-रात, **प्रतिष्ठा**—स्थिति-स्थान (आधार), **नक्षत्राणि**—नक्षत्र, **अस्थीनि**—हड्डिया है, **नभः**—बादल, **मांसानि**—मास, **ऊवध्यम्**—उदर-स्थित भोजन, **सिकताः**—रेत (बालू), **सिन्धव**—नदिया, **गुदा.**—पेट की अन्तडियां (नाडिया), **यकृत् च**—जिगर, **क्लोमान. च**—और पिपासा-स्थान (जिगर के पास का अग), **पर्वताः**—पहाड, **ओषधयः च वनस्पतयः च**—ओपधिया और वनस्पतिया, **लोमानि**—रोए, बाल हैं, **उद्यन्**—उगता हुआ सूर्य, **पूर्वार्द्ध**—नाभि से ऊपर (अगला) भाग, **निम्लोचन्**—छिपता हुआ सूर्य, **उत्तरार्ध.**—नाभि से निचला (पिछला) भाग, **यद् विजृम्भते**—जो जम्हाई लेता है (जम्हाई), **तद् विद्योतते**—वह बिजली चमकती है (बिजली की चमक), **यद् विधूनुते**—जो शरीर को कपाता (फुरफुरी लेता) है (अग-चालन), **तत् स्तनयति**—वह (मानो) बादल की गरज है, **यत् मेहति**—जो मूत्र करता है, **तद् वर्षति**—वह पानी का बरसना है, **वाग् एव**—जगत् की वाणी (शब्द), **अस्य**—इस (मेध्य-अश्व-विराड्-जगत्) की, **वाग्**—वाणी (हिनहिनाना) है ॥१॥

अश्व के आगे-पीछे जैसे उसकी महिमा को गाने वाले घुंघरू लगाये जाते हैं, सृष्टि में 'दिन'-रूपी घुंघरू उसकी अगली और 'रात्रि'-रूपी घुंघरू उसकी पिछली महिमा का बखान कर रहे हैं। दिन का उदय 'पूर्व-समुद्र' से होता है, रात्रि का प्रारंभ 'अपर-समुद्र' से होता है। (कोई समय था जब कि भारत के पूर्व-भाग मे भी समुद्र था, यह भूगर्भ-वेत्ताओं ने पता लगाया है। उसी काल मे ये उपनिषद् लिखी गई होगी।) ये दोनों—दिन और रात—सृष्टि-रूपी अश्व को आगे और पीछे दोनों तरफ़ से महिमा बनकर घेरे हुए हैं। अश्व के चार नाम हैं—'हय'-'वाजी'-'अर्वा'-'अश्व'। यह सृष्टि 'हय' है, अर्थात् 'हेय' है, 'त्याज्य' है। 'देव-गण' इस सृष्टि-रूपी घोड़े पर इसे 'हय' समझ कर बैठते हैं, इसे त्यागना है यह समझ कर, इसका भोग करते हैं। यह सृष्टि 'वाजी' है, अर्थात् वाज-वाली, अन्नवाली है, 'भोग्य' है। 'गन्धर्वगण', अर्थात् विलासी लोग इस सृष्टि रूपी घोड़े पर इसे 'वाजी' समझ कर बैठते हैं, संसार भोग के ही लिये है, यह समझ कर इसका भोग करते हैं। यह सृष्टि 'अर्वा' है, 'अर्व', अर्थात् 'वध' का स्थान है, हिंसा से ही यहां काम चलता है। 'असुर-गण' इस सृष्टि-रूपी घोड़े पर इसे 'अर्वा' समझ कर बैठते हैं, संसार में संहार द्वारा ही अपनी जीवन-यात्रा करते हैं। यह सृष्टि 'अश्व' है, 'अश', अर्थात् 'भोजन' मिल जाने का स्थान है। 'मनुष्य-गण', साधारण-लोग इस सृष्टि-रूपी घोड़े पर इसे 'अश्व' समझ कर बैठते हैं, पेट भर जाय, जीवन-यात्रा का निर्वाह हो जाय, इतने मात्र से सन्तुष्ट रहते हैं। इस प्रकार देव, गन्धर्व, असुर तथा मनुष्य इस सृष्टि-रूपी विराट् अश्व की हय, वाजी, अर्वा, अश्व रूप में सवारी

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः संबभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः ॥२॥

अहः वै—दिन (सृष्टि-रचना) ही, अश्वम्—(विराड्-जगत् रूप) अश्व के, पुरस्तात्—पहले, आगे, महिमा—बडप्पन, महत्त्व, अनु+अजायत—उत्पन्न हुआ, तस्य—उस (दिन) का, पूर्वे—पूर्व दिशा के, पूर्ण, समुद्रे—समुद्र

कर रहे हैं। इन सब का बन्धु, इन सब का कारण 'समुद्र' है--'समुद्र' अर्थात् जिस में सब दौड़ते हुए जाकर मानो जैसे बन्धु में लीन हो जाते हों वैसे उसमें लीन हो जाते हैं। वही कारण-रूप 'प्रकृति' अथवा 'पर-ब्रह्म' ही मानो समुद्र है जिसमें सब ऐसे लीन हो जाते हैं जैसे बन्धु में सब प्रेम से समा जाते हैं ॥२॥

प्रथम अध्याय---(दूसरा ब्राह्मण)

(मृत्यु तथा सृष्टि)

इस प्रकरण मे ऋषि ने ब्रह्म की कल्पना 'मृत्यु' के रूप मे की है। ब्रह्म को मृत्यु-रूप मानकर कैसे पहले जड-जगत् उत्पन्न हुआ, जड़ के उत्पन्न होने के वाद कैसे चेतन-जगत् उत्पन्न हुआ---इस सव आध्यात्मिक प्रक्रिया का साहित्यिक वर्णन करते हुए ऋषि कहते है :---

---

मे, ब्रह्म मे, **योनिः**---उत्पत्ति-स्थान, आधार है, **रात्रिः**---रात, प्रलय, **एनम्**---इस (उत्पन्न विराड्-जगत्-रूप) अश्व की, **पश्चात्**---पिछली, पीछे, **महिमा**---महत्त्व; **अनु+अजायत**---हुई, **तस्य**---उस (रात्रि रूप महिमा) का; **अपरे**---दूसरे, पश्चिम दिशा मे (के), **समुद्रे**---समुद्र मे, **योनिः**---उत्पत्ति-स्थान है, **एतौ**---ये दोनो (दिन और रात या सृष्टि-रचना और प्रलय); **वै**---ही, **अश्वम् अभितः**---(विराड्-जगद्-रूप) अश्व के चारो ओर, **महिमानौ**---महिमाए, **संवभूवतु**---सम्भव हुईं, (यह विराड्-जगत्-रूप अश्व) **हयः**---हेय-त्याज्य (रूप से), **भूत्वा**---होकर, **देवान्**---देवो (इन्द्रिय-जयी विद्वानो) को; **अवहत्**---वहन करता (सवारी देता) है, आगे-आगे ले जाता है, **वाजी**---वीर्य-पराक्रम-भोग्य सामग्री से युक्त (रूप मे होकर), **गन्धर्वान्**---आमोद-प्रमोद में लीन संसारी मनुष्यो को, **अर्वा**---हिंस्र (रूप होकर---हत्या-घात के साधन) होकर, **असुरान्**---अपने स्वार्थ मे लीन असुरो (दुष्ट-स्वभाव मनुष्यो) को; **अश्वः**---भोग-सामग्री वाला, भोग्य होकर, **मनुष्यान्**---मनुष्यो को (आगे-आगे ले जाता है), **समुद्रः**---समुद्र, परमात्मा, **एव**---ही, **अस्य**---इस अश्व (विराड्-जगत्) का, **बन्धुः**---बन्धन स्थान, नियन्ता है, **समुद्रः**---परमात्मा ही, **योनिः**---इसका उत्पत्ति-स्थान (निमित्त कारण) है ॥२॥

सृष्टि के प्रारंभ में यहां, यह जो-कुछ दीख रहा है, कुछ नहीं था। भूखी मृत्यु से यह सब ढक चुका था। मृत्यु का क्या काम है? यह खा जाती है। भूखा ही तो खाता है। और जो इस विशाल को खा जाये, कितनी उसकी भूख होगी! परन्तु मृत्यु खाती भी क्या है, पेट में ही तो रख लेती है। खाने वाला वस्तु को पेट ही में तो रख लेता है। मृत्यु ने भी यह सब जगत् पेट मे ढांप रखा था। मृत्यु का रूप ही 'अशनाया' है, 'भूख' है। इस प्रकरण में मृत्यु ब्रह्म के उस रूप का नाम है, जिसने संसार को भोजन बनाकर अपने में ढांप रखा है। मृत्यु-रूप-ब्रह्म का प्रकृति ही तो शरीर था। प्रलयावस्था में जब प्रकृति-रूपी इस शरीर को वह खा गया, तो उसका अपना शरीर भी न रहा, खाये किस से, और खाये क्या? सृष्टि की अवस्था में अपने शरीर से ही तो वह अपने शरीर को खा रहा था---यही तो मत्स्य-न्याय है! बड़ी मछली छोटी मछली को निगल रही है, कोई भोक्ता है, कोई भोग्य है। ब्रह्म के मृत्यु-रूप शरीर में ही तो यह चर्बण चल रहा है। जब इस चर्बण के होते-होते चर्बण को ही कुछ न रहा, प्रलय हो गई, तब मृत्यु रह गई, और उसकी भूख रह गई, बाकी कुछ न रहा। अब मृत्यु अपनी क्षुधा-पूर्ति का क्या उपाय करे? ऐसी अवस्था में उसका मन किया कि फिर 'आत्मन्वी' हो जाऊं, फिर शरीर धारण करूं, अब फिर सृष्टि की रचना करूं, ताकि फिर खा-खाकर अपनी भूख मिटाऊं! उसने अर्चना शुरू की, परमाणुओं की खुशामद शुरू की कि आओ भाई, करो मदद, सृष्टि को बना डालें! इस प्रकार अर्चना करते हुए उसने परमाणुओं में गति दी। मृत्यु-रूप-

---

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। अशनाययाऽशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं कं ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद॥१॥

न एव—नहीं ही, इह—यहां, किंचन—कुछ भी, अग्रे—(जगदुत्पत्ति से) पहिले, आगे, आसीत्—था, मृत्युना—मृत्यु (अथवा जगत् के संहर्त्ता प्रभु) से, एव—ही, इदम्—यह (अवकाश-स्थान), आवृतम्—घिरा हुआ, व्याप्त, आसीत्—था, अशनायया—अशनाया (भूख, कर्म-फलभोग की इच्छा)

ब्रह्म की इस अर्चना से 'आप्' उत्पन्न हुए, अर्थात् द्रवावस्था में प्रकृति प्रकट हुई। 'आप्' का अर्थ यहां जल नहीं, अपितु द्रवावस्था के रूप में प्रकृति है। यह देखकर कि अब उसका शरीर बनने लगा उसे 'कम्' हुआ, 'कम्' अर्थात् सुख हुआ। 'अर्च' का 'अर्' और 'कम्' का 'क' मिलकर 'अर्+क'='अर्क' बनता है—क्योंकि 'अर्चना' करते हुए उसे 'कम्' अर्थात् सुख हुआ था इसीलिये द्रवावस्था-रूप प्रकृति को 'अर्क' कहते हैं, यही 'अर्क' का 'अर्कत्व' है। जो इस प्रकार अर्क के अर्कत्व को जानता है उसे सुख प्राप्त होता है ॥१॥

यह 'आप्' और 'अर्क' एक ही बात है—प्रकृति की द्रवावस्था का नाम 'आप्' है, और इसी का नाम 'अर्क' है। 'आप्', अर्थात् द्रवावस्था प्रकृति का जो शर था, अर्थात् ऊपर-ऊपर का हिस्सा था, वह महान् हो गया, कड़ा हो गया। आधे बिलोये दही में ऊपर-ऊपर जो झाग आ जाती है उसे 'शर' कहते हैं, वह मक्खन बनकर कड़ी

से (आवृत था), **अशनाया**—भूख, भोग की कामना, **हि**—वास्तव मे, **मृत्युः**—मृत्यु (का कारण) है, **तत्**—उस मृत्यु ने, **मनः**—चिन्तन, सकल्प, **अकुरुत**—किया, (**मनः अकुरुत**—चिन्तन-ईक्षण-सकल्प किया), **आत्मन्वी**—आत्मा वाला (देह-मूर्ति, प्रगट); **स्याम्**—होऊ (अपने को व्यक्त करु), **इति**—यह (मनन किया), **सः**—वह (मृत्यु—सहर्ता), **अर्चन्**—पूजा (सकल्प-मनन) करता हुआ, **अचरत्**—फिरने लगा, गतिमय हुआ, **तस्य**—उसका; **अर्चतः**—अर्चना (पूजा) करते हुए, **आपः**—जल (तन्मात्राए), **अजायन्त**—उत्पन्न हुईं, **अर्चते वै मे**—अर्चना करने वाले मेरे लिए, **कम्**—जल, सुख, **अभूद्**—उत्पन्न हुआ, **इति**—यह, **तद् एव**—वह (अर्चना करते हुए 'क'—जल का होना) ही, **अर्कस्य**—'अर्क' शब्द की, **अर्कत्वम्**—अर्कता ('अर्च+क' रूप में निरुक्ति–व्युत्पत्ति) है, **कम्**—जल व सुख, **ह वै**—ही, भी, **अस्मै**—इसके लिए, **भवति**—होता है, **यः**—जो, **एवम्**—इस प्रकार, **एतत्**—यह, इस, **अर्कस्य**—'अर्क' शब्द की, **अर्कत्वम्**—अर्कता (रूप, व्युत्पत्ति) को, **वेद**—जान लेता है ॥१॥

आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्ततताग्निः ॥२॥

आपः—जल, **वै**—ही, **अर्कः**—'अर्क' (शब्द का वाच्य) है, **तद् यद्**—तो जो, **अपाम्**—जलो का; **शरः**—कठोर भाग, ऊपर तैरता भाग, **आसीत्**—

हो जाती है, ऐसे ही 'आप्' का ऊपर का हिस्सा जमकर कड़ा पड़ गया, वही 'पृथिवी' बन गया, नीचे का हिस्सा तरल होकर 'जल' बन गया। उसमें फिर मृत्यु-रूप-ब्रह्म ने श्रम किया। उसके श्रम करने पर, और तप उठने पर, उसके तेज का रस निकल पड़ा, जिसे 'अग्नि' कहा जाता है। इस प्रकार 'आप्', अर्थात् द्रवावस्था प्रकृति से जल, पृथिवी और अग्नि——ये तीन पदार्थ उत्पन्न हो गये ।।२।।

अब मृत्यु-रूप-ब्रह्म ने अपने तेजोमय-रूप शरीर को तीन स्थानो मे बांट लिया। उसका 'अग्नि'-रूप पृथिवी पर रहा, 'आदित्य'-रूप द्यु मे और 'वायु'-रूप अन्तरिक्ष में चला गया। इस प्रकार तेजोमय ब्रह्म का प्राण तीन स्थानों में बंट गया, और द्यु-लोक से लेकर पृथिवी तक विशाल शरीर को धारण कर तेजोमय-रूप वह ब्रह्म जड़-जगत् के रूप मे शरीर-धारी हो गया। उसके विशाल जड़-जगत्-रूपी शरीर का वर्णन कौन करे? पूर्व-दिशा उसका सिर है, और देखो 'वह' और 'वह'——उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व——दूर तक जा रही ये दिशाएं उसकी दोनों भुजाएं है। पहले सृष्टि को अश्व मानकर वर्णन किया गया है, इसलिये इस सृष्टि-रूपी-अश्व की कोई पूंछ भी तो चाहिये! वह देखो, पश्चिम-दिशा उसकी पूंछ है, और देखो 'वह' और 'वह'——

था, तत्—वह, **समहन्यत**—इकट्ठा हुआ, कठोर (दृढ) हुआ, **सः**—वह (जल का सहत शर), **पृथिवी**—पृथिवी (रूप), **अभवत्**—हो गया, **तस्याम्**—उस (पृथिवी) मे, **अश्राम्यत्**—(सहर्ता मृत्यु-रूप ब्रह्म ने) श्रम किया, **तस्य**—उस, **श्रान्तस्य**—(पहले) श्रम किये हुए, **तप्तस्य**—(अतएव) तपे हुए का, **तेजः**—तेज, **रसः**—सार, **निरवर्तत**—निकला, प्रगट हुआ, **अग्निः**—(उसका ही नाम) अग्नि है ।।२।।

स त्रेधात्मानं व्यकुरुतादित्यं तृतीय वायुं तृतीयँ स एष प्राणस्त्रेधा विहितः। तस्य प्राची दिक्शिरोऽसौ चासौ चेर्मौ। अथास्य प्रतीची दिक्पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्व चैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ।।३।।

सः—उस (अग्नि) ने, **त्रेधा**—तीन रूप मे, **आत्मानम्**—अपने (स्वरूप) को, **व्यकुरुत**—विकृत किया, परिवर्तित किया, **आदित्यम्**—सूर्य, **तृतीयम्**—तीसरा (तीनो मे से एक), **वायुम् तृतीयम्**—तीनों मे से एक (तीसरे) वायु को, (तीसरा स्वय अग्निरूप); **सः एषः**—वह यह, **प्राणः**—प्राण, **त्रेधा**—

उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम--दूर तक जा रही ये दिशाएं उसकी दोनों रानें हैं। दक्षिण और उत्तर दिशा उसके दोनों पासे हैं, द्यौः पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी छाती है, और यह विशाल-काय सृष्टि-रूपी-अश्व जो मृत्यु-रूप-ब्रह्म का ही शरीर है, 'आप्' में से, द्रवावस्था-रूप प्रकृति में से उठकर खड़ा हुआ है, इसलिये उसी में प्रतिष्ठित है। जो इस रहस्य को जानता है वह जहां-कहीं जाता है वहीं प्रतिष्ठा पाता है ॥३॥

(उपनिषदो तथा गीता मे इस विशाल विश्व को ही ब्रह्म का प्रत्यक्ष-शरीर कहा है। जैसे आत्मा का शरीर यह पिंड प्रत्यक्ष दीखता है वैसे ब्रह्म का शरीर यह ब्रह्माड प्रत्यक्ष दीख रहा है। ब्रह्म को देखने कही दूर जाना नही पड़ता, यह विशाल पृथिवी, यह असीम आकाश, यह अथाह समुद्र, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे--यही प्रत्यक्ष ब्रह्म है, यही ब्रह्म का शरीर है।)

जड़-जगत् उत्पन्न होने के बाद उसका एक शरीर पूरा हो गया, अब उसके अन्दर अपने दूसरे शरीर को, चेतन-जगत् को, जिस जगत्

तीन रूप मे, **विहितः**—किया गया, **तस्य**—उस (जड़-जगत्) का, **प्राची दिक्**—पूर्व दिशा, **शिरः**—सिर (स्थानीय) है, **असौ च असौ च**—यह और यह (पूर्व दिशा से दक्षिण और उत्तर के भाग या कोण), **ईर्मौ**—बाहु है, **अथ**—और, **अस्य**—इस (जड़-जगत्) की, **प्रतीची दिक्**—पश्चिम दिशा, **पुच्छम्**—पूछ (पिछला या निचला भाग) है, **असौ च असौ च**—यह और यह (पश्चिम दिशा मे उत्तर-दक्षिण के भाग या कोण), **सक्थ्यौ**—रान, जाघ हैं, **दक्षिणा च**—दक्षिण दिशा, **उदीची च**—और उत्तर दिशा, **पार्श्वे**—पासे हैं, **द्यौः**—द्यु-लोक, **पृष्ठम्**—पीठ है, **अन्तरिक्षम्**—अन्तरिक्ष (अवकाश), **उदरम्**—पेट है, **इयम्**—यह (पृथिवी), **उरः**—छाती है, **सः एषः**—वह यह (त्रि-रूप तेज); **अप्सु**—जलो में, **प्रतिष्ठितः**—स्थिति (आधार) वाला है, **यत्र क्व च**—जहा कही भी; **एति**—आता-जाता है, **तद् एव**—वहा ही, **प्रतितिष्ठति**—प्रतिष्ठा (स्थान-आदर) पाता है, **एवम्**—इस प्रकार, **विद्वान्**—जानने वाला (ज्ञानी) ॥३॥

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनं समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः संवत्सर आस तमेतावन्तं कालमबिभः। यावान्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्सैव वागभवत् ॥४॥

में 'मन' तथा 'वाणी' का व्यवहार होता है—उसे उत्पन्न करने की कामना उठी। उसने चाहा मेरा दूसरा शरीर भी हो जाय। पहले मृत्यु-रूप-ब्रह्म को संसार को खा जाने की भूख लगी थी, तो उसने प्रलय पर जाकर दम लिया था, जहां कुछ न रहा था; अब उसे सृष्टि उत्पन्न करने की भूख लगी है, अब वह प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करने की अपनी भूख को मिटाकर ही दम लेगा, भूख से मर जो रहा है, ब्रह्म ठहरा तो क्या! अपने इस दूसरे शरीर, अर्थात् चेतन-जगत् को उत्पन्न करने के लिये उसने 'मन' को 'वाणी' से जोड़ दिया—ऐसी सृष्टि होने लगी जो 'मन' तथा 'वाणी' से काम लेने लगी। ब्रह्म की प्रथम-शरीर की रचना के लिये जो भावना थी, उसने 'आप्' का रूप धारण किया था जिससे जड़-जगत् की सृष्टि हुई, अर्थात् 'आप्' से जल, पृथिवी और अग्नि पैदा हुए, अब इस द्वितीय-शरीर, अर्थात् चेतन-जगत् की रचना के लिये ब्रह्म की जो भावना हुई उसने 'संवत्सर' का, काल का, समय का रूप धारण किया। चेतन-जगत् की उत्पत्ति से पहले संवत्सर का, समय का ज्ञान नहीं था। अग्नि-आदित्य-वायु, अर्थात् जड़-जगत् के लिये दिन-रात की मर्यादा क्या अर्थ रखती है, जीव-धारी के लिये ही समय का ज्ञान कुछ अर्थ रखता था, अतः चेतन-जगत् की उत्पत्ति के अनन्तर समय का विभाग काम में आने लगा। तो, अब तक क्या संवत्सर, अर्थात् समय था ही नहीं? था, परन्तु छिपा हुआ था, और इतनी देर तक छिपा रहा जितनी देर से अब यह प्रकट हो रहा है। महान् काल तक जड़-जगत् ही रहा, इतनी देर तक संवत्सर का नामोनिशान न था, इसके अनन्तर जब चेतन-जगत् हुआ तब संवत्सर की, काल की रचना की गई। जब संवत्सर उत्पन्न हुआ, तो मृत्यु-रूप-ब्रह्म ने उसकी तरफ अपना

सः—उस (सहर्ता 'मृत्यु'नामी ब्रह्म) ने, **अकामयत**—कामना की, चाहा, **द्वितीयः**—दूसरा (पिण्ड रूप), **मे**—मेरा, **आत्मा**—शरीर (व्यक्त रूप), **जायेत**—हो जाये, **इति**—यह (कामना की), **सः**—वह, उसने, **मनसा**—मन के साथ, **वाचम्**—वाणी को, **मिथुनम्**—(इन दोनो का) जोडा, **समभवत्**—हो गया, उत्पन्न किया, **अशनाया**—(कामना रूप) भूख, **मृत्युः**—मृत्यु है, **तद्**—तो, **यद्**—जो, **रेतः**—जल, वीर्य, **आसीत्**—था, **सः**—वह, **संवत्सरः**—

भूखा मुंह खोला, सोचा अब सृष्टि उत्पन्न हो गई, फिर खाना शुरू करूं! इतने में संवत्सर चिल्ला पड़ा, भाण्-भाण् करने लगा, बस तभी से 'वाणी' की उत्पत्ति हो गई, 'भाण्' शब्द 'वाणी' से जो मिलता है। सृष्टि के इस द्वितीय-क्रम के, अर्थात् जड़-जगत् से चेतन-जगत् के आने में जबकि 'वाणी' का व्यवहार प्रारम्भ हुआ, बहुत भारी समय लगा, इतना समय कि मृत्यु-रूप-ब्रह्म भूख से व्याकुल होकर समय की प्रतीक्षा न कर सका, समय को ही खाने को दौड़ पड़ा। तब जाकर 'वाक्-शक्ति' का जन्म हुआ, उस शक्ति का जो जड़ तथा चेतन का भेद करती है, जो अदृश्य-रूप मे 'मन' तथा दृश्य-रूप में 'वाणी' कहलाती है ।।४।।

अब उस मृत्यु-रूप-ब्रह्म ने सोचा, मै तो अपनी भूख मिटाने के लिये एक विशाल शरीर की रचना कर फिर उसे खाने में लग जाना चाहता था, यह क्या, यह तो नन्ही-सी-बच्ची—'वाणी'—उत्पन्न हो गई, इसे खा जाऊंगा, तो क्या अन्न बनेगा! ऐसा सोचकर उसने इस छोटी-सी वाणी से ही यह सब रच डाला, ऋचाएं, यजु, साम, छन्द, यज्ञ,

---

वर्ष (काल), **अभवत्**—हो गया, **न ह**—नही तो, **पुरा**—पहले, **ततः**—उससे, **संवत्सरः**—वर्ष (काल का ज्ञान), **आस**—था, **तम्**—उसको, **एतावन्तम्**—इतने, **कालम्**—समय तक, **अबिभः**—धारण (पालन-पोषण) किया, **यावान्**—जितना; **संवत्सरः**—वर्ष (होता है), **तम्**—उसको, **एतावतः**—इतने, **कालस्य**—समय के, **परस्तात्**—बाद मे, **असृजत**—बनाया, उत्पन्न किया, **तम् जातम्**—उत्पन्न हुए उसको (के), **अभि**—ओर, **व्याददात्**—(मुख) खोला, **सः**—उसने (डर कर), **भाण्**—'भाण्' शब्द (भण्—अव्यक्ते शब्दे), **अकरोत्**—किया, अथवा (**भाण् अकरोत्**—कुछ कहा), **सा एव**—वह ही, **वाग् अभवत्**—वाणी हुई (तब से वाणी का प्रसार हुआ) ।।४।।

स ऐक्षत यदि वा इममभिमंस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति स तया वाचा तेनात्मनेदं सर्वमसृजत यदिदं किंचर्चो यजूंषि सामानि च्छन्दांसि यज्ञान्प्रजाः पशून्। स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वं सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ।।५।।

सः ऐक्षत—उस (मृत्यु—संहर्ता ब्रह्म) ने सोचा, **यदि वै**—अगर (मैं), **इमम्**—इस (वाणी रूप कुमार) को; **अभिमंस्ये**—मारूंगा या इसका ही अभिमान

मनुष्य और पशु। इस प्रकार उसका चेतन-जगत् के रूप में दूसरा शरीर भी तय्यार हो गया। अब जो-जो कुछ उसने रचा था, उसे फिर खाने लगा। वह सब खा जाता है, तभी मृत्यु को 'अदिति' कहते है, अदिति का अदितिपन ही यही है कि वह सब 'अद्-भक्षणे' के अनुसार भक्षण कर जाता है, सफा-चट्ट कर जाता है। जो इस प्रकार अदिति के अदिति-रूप को जानता है, वह सबका 'अत्ता' हो जाता है, संसार का सब-कुछ उसके सामने 'अन्न' की तरह ढेर हो जाता है ॥५॥

अब तक सृष्टि-रूप दो यज्ञ हुए—'जड़-जगत्' और 'चेतन-जगत्'। उस मृत्यु-रूप-ब्रह्म ने फिर कामना की, एक भारी यज्ञ से फिर यज्ञ करूं। इस उद्देश्य से उसने श्रम किया। उसके श्रम तथा तप कर चुकने पर उसके 'यशोवीर्य' का उदय हुआ। 'प्राण' ही

करूंगा तो, **कनीयः**—छोटा, अत्यल्प, **अन्नम्**—भोग्य पदार्थ, **करिष्ये**—रचूंगा (जो पर्याप्त नही होगा), **इति**—ऐसे (विचार कर), **सः**—उसने, **तया वाचा**—उस वाणी के द्वारा, **तेन आत्मना**—उस आत्मा (शरीर) से, **इदम् सर्वम्**—इस सब को, **यद् इदम् किंच**—जो यह कुछ (दिखाई देता) है, **ऋचः** ऋग्वेद को, **यजूंषि**—यजुर्वेद को, **सामानि**—सामवेद को, **छन्दांसि**—अथर्ववेद को, **यज्ञान्**—यज्ञो (सत्कर्मों) को, **प्रजाः**—प्रजाओ को, **पशून्**—पशुओ को, **सः**—उस (मृत्यु) ने, **यद् यद् एव असृजत**—जो-जो ही रचा (बनाया), **तत् तद्**—उस-उस को ही, **अत्तुम्**—खाने के लिए, **अध्रियत**—रखा (सब ही अन्त मे विनाश होनेवाला ही था), **सर्वम् वै**—सब को ही, **अत्ति**—खा लेता है, **इति**—अत, **तद्**—वह (खाना–प्रलय करना), **अदितेः**—अदिति (मृत्यु-ब्रह्म) की, **अदितित्वम्**—अदिति-स्वरूप या शब्दार्थ है, **सर्वस्य एतस्य**—इस (उत्पन्न) सारे (पदार्थों) का, **अत्ता**—भोक्ता, **भवति**—होता है, **सर्वम्**—सब कुछ ही, **अस्य**—इसका, **अन्नम्**—भोग्य (वस्तु), **भवति**—होता है, **यः**—जो, **एवम्**—इस प्रकार, **एतद्**—इस, **अदितेः**—अदिति (मृत्यु) की, **अदितित्वम्**—सर्व-भोग्यत्व (सब का सहर्त्ता—प्रलयकर्ता रूप) को, **वेद**—जानता है ॥५॥

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति। सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशोवीर्यमुदक्रामत्। प्राणा वै यशोवीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरं श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत् ॥६॥

सः—उस (रचयिता) ने, **अकामयत**—कामना की, **भूयसा**—(इन दो यज्ञो से) अधिक बड़े, **यज्ञेन**—यज्ञ (रचना) से, **यजेय**—यजन करू (और

'यशोवीर्य' है। 'यशोवीर्य का उदय हुआ'––का अभिप्राय है, यशस्वी और वीर्यवान् प्राणों का सब जगह संचार हुआ। यद्यपि सृष्टि उत्पन्न हो जाने पर उसने उसका भक्षण प्रारम्भ कर दिया था, तथापि इस भक्षण के साथ-साथ सृष्टि में प्राण-शक्ति का विस्तार बढ़ता गया, बढ़ती होती ही चली गई, और बढ़ती होती ही जा रही है। भक्षण होते हुए भी बढ़ती होते जाना मृत्यु-रूप-ब्रह्म का भारी तीसरा यज्ञ है। प्राणों के सब जगह फैल जाने पर ब्रह्म का शरीर––जड़-चेतन––बढ़ने लगा। जैसे कृषक का मन खेत में लगा रहता है, वैसे मृत्यु-ब्रह्म का मन अपने शरीर की वृद्धि में लगा रहा ।।६।।

मृत्यु-ब्रह्म ने कामना की कि मेरे शरीर की 'वृद्धि' तो होती जा रही है, यह शरीर यों ही न फूलता जाय, इसमें 'पवित्रता' अवश्य हो। उसने यह चाहा कि मैं 'आत्मन्वी'––आत्मा, अर्थात् शरीर

उत्कृष्ट रचना करू), इति––यह (कामना की); सः अश्राम्यत्––उसने श्रम किया, सः तपः अतप्यत––उसने तप भी किया, तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य––श्रम और तप किये हुए उसका, यशःवीर्यम्––यशोबल, उदक्रामत्––ऊपर उठा, निकला, उत्पन्न हुआ, प्राणाः––प्राण (श्वास-प्रश्वास, इन्द्रिया), वै––ही, यशोवीर्यम्––यशोवीर्य (शब्द के वाच्य) हैं, तत्––तो, प्राणेषु उत्क्रान्तेषु––प्राणो के उत्पन्न हो जाने पर, शरीरम्––(उनका अधिष्ठान) शरीर, श्वयितुम्––गति करने और वृद्धि के लिये, अध्रियत––धारण किया, (श्वयितुम् अध्रियत––गति करने और निरन्तर बढने लगा), तस्य––उसका, शरीरे एव––शरीर मे ही, मनः आसीत्––मन था (शरीर का ही मनन करता था) ।।६।।

सोऽकामयत मेध्यं म इदँ स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति। ततोऽश्वः समभवद्यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम्। एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद। तमनवरुध्यैवामन्यत। तँ संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत। पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत्। तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते। एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्माऽयमग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ। सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्यात्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति ।।७।।

सः अकामयत––फिर उसने चाहा, मेध्यम्––पवित्र, मे––मेरा, इदम्––यह शरीर या यशोवीर्य (प्राण), स्यात्––होवे, आत्मन्वी––उत्कृष्ट आत्मा (शरीर) वाला, अनेन––इस (पवित्र हुए शरीर) से, स्याम्––मैं होऊ, इति

वाला--तो होऊं, परन्तु 'मेध्य', अर्थात् पवित्र शरीर वाला होऊं। क्योंकि मृत्यु-ब्रह्म का शरीर बढ़ता जा रहा था, इसलिये इसे 'अश्व' कहते हैं, 'अश्व' का अर्थ है, बढ़ना, फूलना, और क्योंकि वह उसे 'मेध्य'--पवित्र--चाहता था, इसलिये इस विकसित सृष्टि का नाम 'अश्वमेध' हुआ। यही अश्वमेध का अश्वमेधपना है, और जो इस रहस्य को समझता है वही अश्वमेध के वास्तविक-रूप को जानता है। जैसे 'अश्वमेध' का घोड़ा एक वर्ष तक बिना रोके खुला विचरता है, वैसे सृष्टि-रूप-अश्व को मृत्यु-ब्रह्म ने बिना रोके बढ़ने दिया, परन्तु फिर जैसे अश्वमेध के घोड़े को वापस बुला लिया जाता है, वैसे संवत्सर के बाद फिर उस अश्व-रूप-सृष्टि का ब्रह्म ने अपने में ग्रहण कर लिया, तभी तो एक वर्ष बाद शीत-उष्ण-शरद्-वसन्त का चक्र फिर दोबारा चल पड़ता है। सृष्टि का जो मुख्य--'अश्व'-रूप--था उसका तो मृत्यु-ब्रह्म ने स्वयं भोग लगाया, और जो गौण--'पशु'-रूप--था उसे अन्य देवताओ के सुपुर्द कर दिया। मृत्यु-ब्रह्म तो सूर्य-चन्द्र-पृथिवी आदि को भोगता है, और सूर्य-चन्द्र-पृथिवी आदि अन्य-अवान्तर-जगत् को भोगते है। इस प्रकार यह विशाल-संसार सब देवताओ का सिचा-सिचाया प्राजापत्य-भोग है--यह मानो एक निरन्तर अश्व-मेध-यज्ञ हो रहा है।

—यह (चाहा), तत—उसके वाद, उससे, **अश्वः**—गति व वृद्धिवाला, **समभवत्**—हो गया, **यद्**—जो, **अश्वत्**—वढा था, **तद्**—वह, **मेध्यम्**—पवित्र, मेधा-बुद्धि का पात्र (ज्ञेय), यज्ञिय (यज्ञ का अधिकारी), **अभूत्**—हुआ, **इति**—अतएव, **तद्**—वह, **अश्वमेधस्य**—अश्वमेध (शव्द की), **अश्वमेधत्वम्**—अश्वमेध (अर्थ) है (जो वढने के साथ पवित्र, समझदार एव सत्कर्मकर्ता हो), **एषः ह वै**—यह ही, **अश्वमेधम्**—अश्वमेध को, **वेद**—(वस्तुत) जानता है, **यः एनम् एवं वेद**—जो इसको इस प्रकार जानता है, **तम्**—उसको, **अनवरुध्य**—न रुक कर (न रुकनेवाला), **एव**—ही, **अमन्यत**—माना, समझा, **तम्**—उसको, **संवत्सरस्य**—वर्ष के, **परस्तात्**—वाद, **आत्मने**—अपने लिए, आत्मा के लिए, **आलभत**—ग्रहण (स्वीकार) किया, **पशून्**—पशुओ को, **देवताभ्य**—देवताओ के लिए, **प्रत्यौहत्**—सर्मपित कर दिया, **तस्मात्**—उस कारण से, **सर्वदेवत्यम्**—सव देवताओ के लिए हितकर, **प्रोक्षितम्**—शुद्ध-पवित्र, **प्राजापत्यम्**—प्रजापति-सम्वन्धी, **आलभन्ते**—स्वीकार करते है, लेते है, **एषः ह वै**—यह ही,

(उपनिपदो मे याज्ञिक-क्रियाओ को हेय माना है । जहा-तहा उनका कर्मकाड-परक अर्थ न करके ज्ञानकाड-परक अर्थ किया है । इस स्थल मे भी अश्वमेध-यज्ञ का कर्मकांड-परक अर्थ न करके ज्ञानकाड-परक अर्थ किया गया है ।)

अथवा, यह जो 'सूर्य' तप रहा है, यह भी 'अश्वमेध'-यज्ञ हो रहा है । 'संवत्सर' इसका शरीर है । 'संवत्सर' के अन्दर-ही-अन्दर यह अपना यज्ञ पूरा कर लेता है । तपना ही इसका यज्ञ है । अथवा यह 'अग्नि', जिसे 'अर्क' भी कह सकते हैं, 'अश्वमेध' ही कर रही है । 'लोक' इसके शरीर है, सब लोकों में यह व्याप्त है । 'अश्व' बढ़ने का नाम है, सब लोको में निहित अग्नि सभी को बढ़ा रही है, यह 'अश्वमेध' ही है ! इस प्रकार ये दोनों 'अर्क'––सूर्य तथा अग्नि–– 'अश्वमेध' ही है । अन्त में जाकर सूर्य, अग्नि आदि सब देवता मृत्यु-ब्रह्म में एक ही हो जाते हैं––वही इन सब पर छा रहा है । वह मृत्यु को जीत लेता है, उसे मृत्यु प्राप्त नहीं होती, मृत्यु उसका आत्मा हो जाता है, वह इन देवताओ में एक हो जाता है, जो इस रहस्य को जान लेता है ॥७॥

अश्वमेध.—अश्वमेध (पद-वाच्य) है, **यः एष.**—जो यह, **तपति**—तप रहा है, तप करता है, **तस्य**—उस (आदित्य) का, **सवत्सर**—वर्ष, **आत्मा**—शरीर (धड) है, **अयम्**—यह, **अग्नि**—अग्नि, **अर्क.**—अर्क (पद-वाच्य) है, **तस्य**—उसके, **इमे**—ये, **लोका**—लोक-लोकान्तर, **आत्मानः**—शरीर है, **तौ एतौ**—वे ये दोनो (अग्नि और सूर्य), **अर्क+अश्वमेधौ**—अर्क और अश्वमेध (पदो से अभिप्रेत) है, **सा+उ**—वह तो, **पुन.**—फिर, **एका+एव**—एक ही, **देवता**—देवता, **भवति**—होता है (रह जाता है), **मृत्युः एव**—(जिसका नाम) मृत्यु (महर्त्ता ब्रह्म) ही है, **अप पुन. मृत्युम् जयति (पुन मृत्युम् अपजयति)**—फिर मृत्यु (मरण) को जीत लेना (अपने से दूर कर देता) है, **न+एनम्**—नही इसको, **मृत्यु.**—मौत (विनाश), **आप्नोति**—प्राप्त होती है, **मृत्यु**—मृत्यु (महारक ब्रह्म), **अस्य**—इस (ज्ञानी) का, **आत्मा**—शरीर (धर्ता, पोपक), **भवति**—हो जाता है, **एतासाम्**––इन, **देवतानाम्**—देवताओ का (मे), **एक**—एक, **भवति**—हो जाता है (देव-रूप हो जाता है) ॥७॥

प्रथम अध्याय——(तीसरा ब्राह्मण)

(प्राण के सम्बन्ध मे देवासुर-कथा)

प्रजापति की दो प्रकार की सन्तानें थीं, देव और असुर। देव छोटे और असुर बड़े थे। वे ब्रह्मांड मे, अर्थात् पृथिव्यादि लोकों में, और पिंड मे, अर्थात् इन्द्रियादि लोकों में अपना आधिपत्य पाने के लिये एक-दूसरे से स्पर्धा करने लगे। देवों ने सोचा, ये ब्रह्मांड तथा पिंड तो यज्ञ हैं, फिर क्यो न उद्गीथ द्वारा हम असुरों से आगे बढ़ जांय ॥१॥

उन्होंने 'वाणी' को कहा, तू हमारा उद्गाता बन। वाणी ने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड में तथा पिंड मे उद्गाता बन देवों के लिये गाने लगी। उसने यह तो कह दिया कि मेरे कर्म का फल सब देव, अर्थात् सब इद्रियां भोगें, परन्तु साथ यह भी चाहने लगी कि जो अच्छा-अच्छा फल हो, वह मैं अपने लिये रख लूं। उसकी इस स्वार्थ-भावना को असुरों ने जान लिया। वे कहने लगे, इस उद्गाता द्वारा

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥१॥

द्वयाः——दो (प्रकार के), **ह**—ही, **प्राजापत्याः**—प्रजापति के (पुत्र), **देवाः च**—(एक तो) देव (शुभ सकल्प-कर्म-वाणी वाले), **असुराः च**—(और दूसरे) असुर (अशुभ सकल्प-कर्म-वाणी वाले), **अतः**—अतएव, **कानीयसाः**—छोटे, गिनती मे कम, **एव**—ही, **देवाः**—देव, **ज्यायसाः**—बडे, अधिकसख्यक, **असुराः**—असुर, **ते**—वे (देव-असुर), **एषु लोकेषु**—इन लोको मे, **अस्पर्धन्त**—स्पर्धा (डाह-कलह) करने लगे, **ते ह देवाः**—उन देवो ने, **ऊचुः**—(आपस मे) कहा, **हन्त**—अरे, तो, **असुरान्**—असुरो को, **यज्ञे**—यज्ञ (शुभ कर्म) मे, **उद्गीथेन**—उद्गीथ (प्रणव-जप, ईश्वर स्तुति-गान) से, **अत्ययाम**—अतिक्रमण कर जाए, पीछे छोडे दे, आगे बढ जाए, **इति**—यह (कहा) ॥१॥

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत्।
यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याण वदति तदात्मने।
ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूप वदति स एव स पाप्मा ॥२॥

ते ह—उन देवो ने, **वाचम्**—वाणी को, **ऊचुः**—कहा, **त्वम्**—तू, **नः**—हमारे लिए, **उद्गाय**—गान कर, **इति**—यह (कहा), **तथा+इति**—

देव लोग हमसे आगे निकलना चाहते हैं ? उन्होंने जाकर वाणी को पाप से बींध दिया, वही जो पाप कहलाता है, उससे । अब वाणी 'अप्रतिरूप' अर्थात् झूठ भी बोलने लगी, यह झूठ---अर्थात् पाप । इससे देव सफल न हुए ।।२।।

तब देवों ने 'प्राण' को कहा, तू उद्‌गाता बन । प्राण ने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड में तथा पिंड में उद्‌गाता बन देवों के लिये गाने लगा । उसने यह तो कह दिया कि मेरे कर्म का फल सब देव, अर्थात् सब इन्द्रियां भोगें, परन्तु साथ ही यह भी चाहने लगा कि जो अच्छा-अच्छा फल हो, वह मैं अपने लिये रख लूं । उसकी इस स्वार्थ-भावना को असुरों ने जान लिया । वे कहने लगे, इस उद्‌गाता द्वारा देव लोग हमसे आगे निकलना चाहते हैं ? उन्होंने जाकर प्राण को पाप से बींध दिया, वही जो पाप कहलाता है, उससे । अब प्राण 'अप्रति-रूप', अर्थात् बुरा भी सूंघने लगा, यह दुर्गन्ध---अर्थात् पाप । इससे देव सफल न हुए ।।३।।

वैसे ही हो, बहुत अच्छा, **तेभ्यः**---उन (देवों) के लिए, **वाग्**---वाणी ने, **उदगायत्**---गान किया, **यः**---जो, **वाचि**---वाणी मे, **भोगः**---भोग (फल) है, **तम्**---उस (भोग) को, **देवेभ्यः**---देवो के लिए, **आगायत्**---गान (प्रार्थना) की, **यत्**---जो, **कल्याणम्**---शुभ, **वदति**---बोलती है, **तद्**---उसको, **आत्मने**---अपने लिए (गान किया), **ते**---उन (असुरो) ने, **विदुः**---जान लिया, **अनेन वै**---इस (वाणी) रूप ही, **नः**---हम मे, **उद्‌गात्रा**---उद्‌गाता द्वारा, **अत्येष्यन्ति**---आगे बढेगे, **इति**---यह (जान लिया), **तम्**---उसको, **अभिद्रुत्य**---ओर दौड कर, हमला कर, **पाप्मना**---पाप से, **अविध्यन्**---बींध दिया, युक्त कर दिया, **सः यः**---वह जो, **सः पाप्मा**---वह पाप है, **यद् एव इदम्**---जो ही यह, जिस ही इस, **अप्रतिरूपम्**---उलटा, प्रतिकूल, अनुचित, असत्य, **वदति**---बोलती है, **स. एव स. पाप्मा**---वह ही वह पाप है ।।२।।

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्‌गायेति तथेति तेभ्य. प्राण उदगायद्य
प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याण जिघ्रति तदात्मने।
ते विदुरनेन वै न उद्‌गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मना-
ऽविध्यन्स य. स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा ।।३।।

अथ ह---इसके बाद, **प्राणम्**---प्राण, घ्राण (नासिका) को, **ऊचुः**---बोले, **त्वम् न. उद्‌गाय इति**---तू हमारे लिए उद्‌गान कर, **तथा इति**---वैसे ही

तब देवों ने 'चक्षु' को कहा, तू उद्गाता बन। चक्षु ने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड मे तथा पिंड में उद्गाता बन देवों के लिये गाने लगा। उसने यह तो कह दिया कि मेरे कर्म का फल सब देव, अर्थात् सब इन्द्रियां भोगें, परन्तु साथ ही यह भी चाहने लगा कि जो-जो अच्छा फल हो, वह मैं अपने लिये रख लूं। उसकी इस स्वार्थ-भावना को असुरों ने जान लिया। वे कहने लगे, इस उद्गाता द्वारा देव लोग हम से आगे निकलना चाहते हैं ? उन्होंने चक्षु को पाप से बींध दिया, वही जो पाप कहलाता है, उससे। अब चक्षु 'अप्रतिरूप', अर्थात् बुरा भी देखने लगा। इससे देव सफल न हुए ॥४॥

तब देवों ने 'श्रोत्र' को कहा, तू उद्गाता बन। श्रोत्र ने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड में तथा पिंड में उद्गाता बन देवों के लिये गाने

हो, **तेभ्यः**—उन (देवों के लिए), **प्राणः**—घ्राण (नासिका) ने, **उदगायत्**—उद्गान किया, **यः**—जो, **प्राणे**—नासिका मे, **भोगः**—घ्राण-शक्ति (भोग) है, **तम् देवेभ्यः आगायत्**—उसका देवो के लिए गान किया, **यत्**—जो; **कल्याणम्**—अच्छा (शुभ), **जिघ्रति**—सूघती है, **तद् आत्मने**—वह अपने लिए, **ते विदुः** **सः पाप्मा**—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायत्। यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ॥४॥

अथ ह—इसके बाद, **चक्षुः**—नेत्र को, **ऊचुः**—कहा, **त्वम् नः उद्गाय इति**—तू हमारे लिए उद्गान (स्तुति) कर, **तथेति**—बहुत अच्छा (कहकर); **चक्षुः उदगायत्**—नेत्र ने उद्गान (स्तुति) की, **यः चक्षुषि भोगः**—जो नेत्र मे भोग (दर्शन-शक्ति) है, **तम् देवेभ्यः आगायत्**—उसका देवो के लिए गान किया, **यत् कल्याणम्**—जो शुभ, **पश्यति**—देखता है, **तद् आत्मने**—वह अपने (अपनी प्रीति के) लिए, **ते विदुः** **सः पाप्मा**—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य. श्रोत्रमुदगायद्य. श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं शृणोति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं शृणोति स एव स पाप्मा ॥५॥

अथ ह—इसके बाद, **श्रोत्रम्**—कान को, **ऊचुः**—बोले, **त्वम् नः उद्गाय इति**—तू हमारे लिए उद्गान (स्तुति) कर, **तथा इति**—तथास्तु, **तेभ्यः**

लगा। उसने यह तो कह दिया कि मेरे कर्म का फल सब देव, अर्थात् सब इन्द्रियां भोगें, परन्तु साथ ही यह भी चाहने लगा कि जो-जो अच्छा फल हो, वह मैं अपने लिये रख लूं। उसकी इस स्वार्थ-भावना को असुरों ने जान लिया। वे कहने लगे, इस उद्गाता द्वारा देव लोग हम से आगे निकल जाना चाहते हैं? उन्होंने श्रोत्र को पाप से बींध दिया। अब श्रोत्र 'अप्रतिरूप', अर्थात् बुरा भी सुनने लगा। इससे देव सफल न हुए ॥५॥

तब देवों ने 'मन' को कहा, तू उद्गाता बन। उसने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड में तथा पिंड में उद्गाता बन देवों के लिये गाने लगा। उसने यह तो कह दिया कि मेरे कर्म का फल सब देव, अर्थात् सब इन्द्रियां भोगें, परन्तु साथ ही यह भी चाहने लगा कि जो-जो अच्छा फल हो, वह मैं अपने लिये रख लूं। उसकी इस स्वार्थ-भावना को असुरों ने जान लिया। वे कहने लगे, इस उद्गाता से देव लोग हम से आगे निकलना चाहते हैं? उन्होंने मन को पाप से बींध दिया। अब मन 'अप्रतिरूप', अर्थात् बुरा संकल्प भी करने लगा। इससे देव सफल न हुए॥६॥

श्रोत्रम् उदगायत्—उनके लिए कान ने गान (स्तुति) किया, **य. श्रोत्रे भोग.**—जो कान में भोग (कर्म-फल या श्रवण-शक्ति) है, **तम् देवेभ्यः आगायत्**—उसको देवों के लिए गान किया, **यत् कल्याणम् शृणोति तद् आत्मने**—जो अच्छा-अच्छा सुनता है व अपने लिए (रख लिया), **ते विदुः स: पाप्मा**—अर्थ पूर्ववत् ॥५॥

> अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उदगायद्यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणँ संकल्पयति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपँ संकल्पयति स एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन् ॥६॥

अथ ह—इसके बाद, **मनः**—मन (अन्तःकरण) को, **ऊचुः**—बोले, **त्वम् नः उद्गाय इति**—तू हमारे लिये उद्गीथ का गान कर, **तथा इति**—तथास्तु (कहकर), **तेभ्यः मनः उदगायत्**—उनके लिए मन ने उद्गान किया, **यः**—जो, **मनसि**—मन में, **भोग**—भोग (मननशक्ति या कर्मफल) है, **तम् देवेभ्यः आगायत्**—उसको देवों के लिये गान (प्रार्थना) किया, **यत् कल्याणम्**—जो अच्छा (शुभ), **संकल्पयति**—सोचविचार (मनन) करता है, **तद् आत्मने**—

तब देवों ने मुख में निवास करने वाले 'प्राण' को कहा, तू उद्-गाता बन। उसने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड तथा पिंड में उद्गाता बन देवो के लिये गाने लगा। असुरों ने कहा, अच्छा, अब इसके सहारे देव लोग हम से आगे निकलना चाहते है ? उन्होंने स्वार्थ-हीन प्राण के सामने आकर ज्यों ही उसे पाप से बींधना चाहा कि जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर से टकराकर चूर-चूर हो जाता है, वैसे ही असुर भी प्राण से टकराकर चूर-चूर हो गये, और विध्वंस होते हुए ढेले की तरह चारों-तरफ़ बिखर कर नष्ट हो गये। तब देव बढ़े, असुर हारे। जो इस रहस्य को जान लेता है वह आत्मा के संसर्ग में आ जाता है, और उससे द्वेष करने वाले शत्रु परास्त हो जाते है ॥७॥

वह अपने लिए (रख लिया), **ते विदुः सः पाप्मा**—अर्थ पूर्ववत्, **एवम् उ खलु**—इस प्रकार ही तो, **एताः**—ये, **देवताः**—(ज्ञानसाधन इन्द्रिय रूप) देवता, **पाप्मभिः**—पापो से, **उपासृजन्**—लिप्त हो गये, **एवम्**—इस प्रकार, **एताः**—इन (इन्द्रियों) को, **पाप्मना**—पाप से, **अविध्यन्**—असुरो ने बींध दिया (युक्त कर दिया) ॥६॥

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यथाऽश्मानमृत्वा लोष्ठो विध्वँसेतैवँ हैव विध्वंसमाना विष्वञ्चो विनेशुस्ततो देवा अभवन् परा-सुरा भवत्यात्मना परास्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥७॥

अथ ह—इसके बाद, **इमम्**—इस, **आसन्यम्**—मुख मे होने वाले, **प्राणम्**—प्राण को, श्वास-प्रश्वास को, **ऊचुः**—कहा, **त्वम् नः उद्गाय इति**—तू हमारे लिए उद्गीथ-गान कर, **तथा+इति**—तथास्तु कहकर, **तेभ्यः**—उन देवो के लिए, **एषः प्राणः**—इस प्राण ने, **उदगायत्**—उद्गान किया, **ते**—उन (असुरो) ने, **विदुः**—जाना, समझा, **अनेन वै**—इस ही, **नः**—हमे, **उद्गात्रा**—उद्गाता द्वारा, **अत्येष्यन्ति**—पराजित करेगे, हमे पीछे छोड आगे वढ जायगे, **इति**—यह (जानकर), **तम्**—उस (प्राण) को, **अभिद्रुत्य**—झपट्टे से हमला (आक्रमण) कर, **पाप्मना**—पाप मे, अविध्यन्—वीध (युक्त कर) दिया, **सः**—वह, **यथा**—जैसे, **अश्मानम्**—पत्थर को, **ऋत्वा**—जाकर (पास पहुँच कर), **लोष्ठः**—मट्टी का डला, **विध्वसेत**—नष्ट हो जाये (जाता है), **एवम् ह एव**—इस प्रकार ही, **विध्वंसमानाः**—(वे पाप) नष्ट-भ्रष्ट (टूट-फूट) होते हुए, **विष्वञ्चः**—चारो ओर, इधर-उधर, **विनेशुः**—नष्ट हो गये, **ततः**—उसके बाद,

देव अपनी विजय देखकर बोले, कहां है वह जिसने हमारा इस प्रकार साथ दिया ? उन्हे मालूम हुआ, अरे यह—'अयम्'—तो मुख के भीतर—'आस्ये'—बैठा हुआ है। इसीलिये प्राण को 'अयास्य' कहते हैं, और 'आंगिरस' भी कहते हैं। 'अयम्' का 'अय', और 'आस्ये' का 'आस्य' मिलकर 'अयास्य' बना, और क्योंकि वह अंगों का रस है, अतः उसे 'आंगिरस' कहा गया ॥८॥

इस प्राण-देवता को 'दूर्' भी कहते है, मृत्यु प्राण से दूर भागती है। जो इस रहस्य को समझता है उससे मृत्यु दूर रहती है ॥९॥

तब, **देवाः**—देव, **अभवन्**—सत्ता-सम्पन्न हो गये (जीत गये), **परा (अभवन्)** पराभूत हो गये, हार गये, **असुराः**—असुर (दुष्प्रवृत्तियाँ, पापात्मा, दुराचारी), **भवति**—(युक्त) होता है, **आत्मना**—आत्मा से (अपने स्वरूप से), **अस्य**—इसका, **द्विषन्**—द्वेष करता हुआ, **भ्रातृव्य**—शत्रु, **परा भवति**—पराजित होता है, **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥७॥

ते होचुः क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरिति
सोऽयास्य आंगिरसोऽङ्गानां हि रसः ॥८॥

ते ह ऊचु—उन देवो ने (आपस मे) कहा (पूछा, जानना चाहा), **क्व नु**—कहाँ तो, **स**—वह, **अभूत्**—था, रहता है, **य.**—जो, **नः**—हमको, **इत्थम्**—इस प्रकार, **असक्त**—आसक्त हुआ, हमारा साथ दिया, **इति**—यह (पूछा), **अयम्**—यह (हमारा साथी), **आस्ये**—मुख मे (के), **अन्तः**—अन्दर (रहता है), **इति**—यह (उत्तर मिला), **सः**—वह, **अयास्यः**—(मुख-निवासी होने के कारण) अयास्य (कहलाता) है, (और) **आंगिरस.**—(उसका) आगिरस (नाम भी) है, **अङ्गानाम्**—अगो का, **हि**—क्योकि, **रसः**—सारभूत या आनन्दित (प्रफुल्लित) करनेवाला है ॥८॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरं ह्यस्या मृत्युर्दूरं
ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥९॥

सा वै एषा—वह ही यह (प्राणनामी), **देवता**—देवता (इन्द्रिय-राज), **दूः**—'दू', **नाम**—नामवाली है, **हि**—क्योकि, **दूरम्**—दूर, परे-परे, **अस्याः**—इस देवता (प्राण) से, **मृत्युः**—मौत (रहती है), **दूरम्**—दूर, **ह वै**—निश्चय ही, **अस्मात्**—इस (ज्ञानी) से, **मृत्यु.**—मौत, **भवति**—रहती है, **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥९॥

प्राण-देवता ने इन्द्रियों के पापों को, जो कि उनकी मानो मृत्यु है, उनमे से हटाकर जहां इन दिशाओ का अन्त है वहां पहुंचा दिया, वहां इनके पापों को ले जाकर रख दिया। पापी लोग लुके-छिपे ही तो रहते है, मानो दिशाओं के अन्त मे रहते हों। ऐसे जनो का संसर्ग न करे, न ही ऐसी जगह जाय, कही ऐसा न हो कि पाप का, जो मृत्यु-रूप है, उसका संसर्ग हो जाय ॥१०॥

प्राण-देवता इन्द्रियों के पाप-रूप-मृत्यु को दूर हटाकर इन्हे मृत्यु के पार लंघा ले गया ॥११॥

उसने पहले-पहल 'वाणी' को मृत्यु के पार लंघाया। वाणी जब

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां
दिशामन्तस्तद्गमयांचकार तदासां पाप्मनो विन्यदधा-
त्तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥१०॥

सा वै एषा—वह ही यह (प्राण सज्ञक), **देवता**—देवता, **एतासाम्**—इन, **देवतानाम्**—(वाणी आदि) इन्द्रियो के, **पाप्मानम्**—पाप को, **मृत्युम्**—विनाशक (मृत्युरूप), **अपहत्य**—नष्ट कर, दूर भगा कर, **यत्र**—जहाँ, **आसाम्**—इन, **दिशाम्**—दिशाओ का, **अन्तः**—अन्त है, **तद्**—वहाँ, **गमयांचकार**—चलता कर दिया, वहुत दूर पहुचा दिया, **तद्**—वहाँ, **आसाम्**—इन (इन्द्रिय-नामी देवो) के, **पाप्मनः**—पापो को, **विन्यदधात्**—रख (गाड) दिया, **तस्मात्**—उस कारण से, **न**—नही, **जनम्**—मनुष्य (समुदाय) मे, **इयात्**—जावे, **न**—नही, **अन्तम्**—(दिशाओ के) अन्त को (निर्जन स्थान को), **इयात्**—जावे, (**न अन्तम् इयात्**—किसी कार्य मे अन्त (अति) न करे), **न इत्**—न कही, **पाप्मानम् मृत्युम्**—पाप-रूप मृत्यु (नाश) को, **अनु+अव+आयानि**—पुन (उससे) ससक्त, अनुगत होऊ (पाप फिर से न चिपट जाये), **इति**—यह (ध्यान रक्खे) ॥१०॥

सा वा एषा देवतैतासा देवताना पाप्मानं
मृत्युमपहत्याथैना मृत्युमत्यवहत् ॥११॥

सा वै एषा—उस ही इस (प्राण), **देवता**—देवता ने, **एतासाम्**—इन (इन्द्रिय), **देवतानाम्**—देवो के, **पाप्मानम् मृत्युम्**—विनाशक पाप (स्वार्थ) को; **अपहत्य**—दूर हटा कर, **अथ**—बाद मे, **एना**—इन (देवता-इन्द्रियो) को, **मृत्युम्**—मृत्यु को (से), **अत्यवहत्**—पार कर दिया, पाप से मुक्त कर दिया ॥११॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत
सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्नि. परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥१२॥

मृत्यु के बन्धन से छूट गई, वह 'अग्नि' हो गई। ब्रह्मांड की 'अग्नि' ही तो पिंड में कैद होकर 'वाणी' हो गई थी। यह वाणी ही मृत्यु के पार पहुंची हुई अग्नि-रूप में देदीप्यमान हो रही है ॥१२॥

फिर 'प्राण' को पार लंघाया। 'प्राण' जब मृत्यु के बन्धन से छूट गया, वह 'वायु' होगया। ब्रह्मांड की 'वायु' ही तो पिंड में कैद होकर 'प्राण' हो गई थी। यह प्राण ही मृत्यु के पार पहुंच कर वायु होकर वह रहा है ॥१३॥

फिर 'चक्षु' को पार लंघाया। 'चक्षु' जब मृत्यु के बन्धन से छूट गया, वह 'आदित्य' हो गया। ब्रह्मांड का 'आदित्य' ही तो पिंड में कैद होकर 'चक्षु' होगया था। यह चक्षु ही मृत्यु के पार पहुंच कर आदित्य होकर तप रहा है ॥१४॥

सा वै—वह (प्राण-देवता) ही, **वाचम् एव**—वाणी को ही, **प्रथमाम्**—प्रथम, पहिले, **अत्यवहत्**—पार ले गया, **सा**—वह (वाणी), **यदा**—जब, **मृत्युम्**—मृत्यु (पाप) को (से), **अत्यमुच्यत**—सर्वथा छूट गई, **सः**—वह, **अग्निः**—अग्नि, **अभवत्**—हो गई, **स. अयम् अग्निः**—वह यह अग्नि, **परेण**—परे, दूर, **मृत्युम्**—मृत्यु को, **अतिक्रान्तः**—लांघी हुई, पार कर गई, **दीप्यते**—प्रदीप्त हो रही है, चमक रही है ॥१२॥

अथ प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स
वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥१३॥

अथ—तत्पश्चात्, **प्राणम्**—घ्राण (नासिका) को, **अत्यवहत्**—पार कराया; **स. यदा मृत्युम् अत्यमुच्यत**—वह (प्राण, घ्राण) जब मृत्यु से सर्वथा मुक्त हो गया; **स. वायुः अभवत्**—वह वायु हो गया, **सः अयम् वायुः**—वह यह वायु, **परेण**—दूर, **मृत्युम् अतिक्रान्त**—मृत्यु से मुक्त, **पवते**—वह रहा है ॥१३॥

अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभ-
वत्सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥१४॥

अथ—(नासिका के) पश्चात्, **चक्षुः**—नेत्र को **अति+अवहत्**—पार ले गया, **तद्**—वह (नेत्र), **यदा**—जब, **मृत्युम् अत्यमुच्यत**—मृत्यु को छोड गया, **सः आदित्यः अभवत्**—वह आदित्य (सूर्य) हो गया, **स. असौ आदित्यः**—वह यह आदित्य (सूर्य), **परेण**—परे, दूर, **मृत्युम् अतिक्रान्त.**—मृत्यु से उन्मुक्त हुआ, **तपति**—तप रहा है, गर्मी दे रहा है ॥१४॥

फिर 'श्रोत्र' को पार लंघाया। 'श्रोत्र' जब मृत्यु के बन्धन से छूट गया, वह 'दिशाएं' हो गया। ब्रह्मांड की 'दिशाएं' ही तो पिंड में कैद होकर 'श्रोत्र' हो गई थी। ये श्रोत्र ही मृत्यु के पार पहुंच कर दिशाएं बनी हुई हैं ॥१५॥

फिर 'मन' को पार लंघाया। 'मन' जब मृत्यु के बन्धन से छूट गया, वह 'चन्द्रमा' हो गया। ब्रह्मांड का 'चन्द्र' ही तो पिंड में कैद होकर 'मन' हो गया था। यह मन ही मृत्यु के पार पहुंचकर चन्द्र बनकर अपनी आभा दिखा रहा है। जो इस रहस्य को जान लेता है उसे प्राण-देवता मृत्यु से पार तरा ले जाता है ॥१६॥

(यहां तक प्राण के द्वारा, विराट्-रूप इस ब्रह्मांड तथा क्षुद्र-रूप इस पिंड में एकात्मता दर्शाई गई है। इन्द्रिय तथा प्राण के सम्बन्ध में ऐसा ही वर्णन केन ३, प्रश्न २-३, बृहदा० ३-१ में भी पाया जाता है।)

इस प्रकार सब इन्द्रियों को मृत्यु के पार लंघा चुकने के बाद

अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशो-
ऽभवँस्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥१५॥

अथ—(नेत्र के) बाद, **श्रोत्रम्**—कान को, **अत्यवहत्**—मुक्त (पार) किया, **तत्**—वह (कान), **यदा**—जब, **मृत्युम् अत्यमुच्यत**—मृत्यु को पीछे छोड गया, **ताः**—वे, **दिशः**—दिशाए (अवकाश), **अभवन्**—हो गई, **ताः इमाः दिशः**—वे ये दिशाए, **परेण**—दूर, **मृत्युम्**—मृत्यु को, **अतिक्रान्ता**—पार कर चुकी है, मृत्यु से मुक्त हैं ॥१५॥

अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा
अभवत्सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवँ
ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥१६॥

अथ—(इन सब के) बाद, **मनः**—मन को, **अत्यवहत्**—(मृत्यु से) पार ले गया, **तद्**—वह (मन), **यदा**—जब, **मृत्युम् अत्यमुच्यत**—मृत्यु से छूट गया, **स.**—वह, **चन्द्रमा.**—चन्द्रमा, **अभवत्**—हो गया, **सः असौ चन्द्रः**—वह यह चन्द्रमा, **परेण**—दूर, **मृत्युम् अतिक्रान्तः**—मृत्यु से मुक्त, **भाति**—चमक रहा है, **एवम् ह वै**—इस प्रकार ही, **एनम्**—इस (ज्ञाता) को, **एषा**—यह (प्राण), **देवता**—देवता, **मृत्युम् अतिवहति**—मृत्यु से पार कर देता है, **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥१६॥

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किंचान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥१७॥

'प्राण' ने अपने लिये खाना गाया। ('खाना गाया' का क्या अर्थ है ? गाने मे गाने वाला जो गाता है, वह दूसरो को मिलता है, उसका मानो प्रवाह वहने लगता है, और दूसरे लोग उस प्रवाह का पान करने लगते है। चक्षु आदि अन्य इन्द्रिया तो अपने लिये सोचने लगी थी, प्राण ने अपने लिये नही दूसरो के लिये सोचा, अपना वल दूसरो को दिया, ठीक ऐसे, जैसे गाते हुए गाने वाला अपना संगीत दूसरो के हृदयो तक मे वैठा देता है। 'खाना गाया' का अर्थ है, प्राण का जो-कुछ खाना था, भोजन था, और इस भोजन से उसे जो वल मिला था, उसे सगीत की तरह सिर्फ अपना ही वल न रखकर दूसरों का वल वना दिया, सब इन्द्रियो मे अपने वल को वांट दिया। प्राण ने पहले अपना वल 'वाणी' को दिया, वह अग्नि-सदृश हो गई, फिर वह वल 'घ्राण' को दिया, वह वायु-सदृश हो गया, फिर वह वल 'चक्षु' को दिया, वह आदित्य-सदृश हो गया, 'श्रोत्र' को दिया, वह दिशाओ-सदृश हो गया, 'मन' को दिया, वह चन्द्र-सदृश हो गया। इस प्रकार अपना वल दूसरों को देना ही प्राण का गाना है, इस गाने-रूपी खाने से प्राण वलशाली हो गया।) **जो-कुछ अन्न खाया जाता है, प्राण ही तो खाता है, प्राण ही में तो जाकर वह ठहरता है ।१७।।**

इन्द्रियां बोलीं, अन्न ही तो दुनिया मे सब-कुछ है, वह तूने अपने

अथ—इसके वाद, आत्मने—अपने लिए, अन्नाद्यम्—भोज्य अन्न को, **आगायत्**—गान किया (प्रार्थना की), **यद् यद् हि**—जो-जो (जो कुछ) ही, **अन्नम्**—अन्न, **अद्यते**—खाया जाता है, **अनेन**—अन (प्राण) से, इससे, इस (प्राण) के द्वारा, **एव**—ही, **तद्**—वह (अन्न), **अद्यते**—खाया जाता है; **इह**—इस (प्राण) मे; **प्रतितिष्ठति**—प्रतिष्ठा (आधार) पाता है, स्थिर होता है ।।१७।।

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदं सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माऽभिसंविशतेति तथेति तं समन्तं परिण्यविशन्त। तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्त्येवं ह वा एनं स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वानां श्रेष्ठ. पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उ हैवंविदं स्वेषु प्रतिप्रतिर्बुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैतमनुभवति यो वैतमनु भार्यान् बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ।।१८।।

लिये गा लिया। हमे भी इस अन्न में हिस्सा दो। प्राण ने कहा, हिस्सा चाहती हो, तो मुझ मे अच्छी तरह से प्रविष्ट हो जाओ। इन्द्रियो ने कहा, अच्छा, और यह कहकर प्राण में चारों ओर से प्रवेश कर गई। इसी से प्राण जो खाता है उससे इन्द्रियां तृप्त हो जाती है। जो इस रहस्य को जानता है, प्राण का अनुसरण करता है, स्वयं खाकर ही तृप्त नहीं हो जाता, इन्द्रियां जैसे प्राण में वैसे उसके अपने मानो उसी में प्रवेश कर जाते हे, अपनों का वह भर्ता हो जाता है, श्रेष्ठ कहलाता है, अग्र-गामी, अन्नाद और अधिपति हो जाता है। अपनों में ही अगर कोई प्राण-सरीखे स्वार्थहीन व्यक्तियों का शत्रु उठ खड़ा होता है तो वह, जैसे असुर समर्थ नही हो सके, वैसे समर्थ नही हो सकता, किसी का भर्ता नहीं बन सकता। जो प्राण

ते—वे, **देवाः**—देव (इन्द्रिया), **अब्रुवन्**—बोली, **एतावद् वै**—इतना ही, **इदम्**—यह, **सर्वम्**—सारा, **यद् अन्नम्**—जो अन्न है, **तद्**—उस (अन्न) को; **आत्मने**—अपने लिए, **आगासीः**—गायन किया, प्राप्त किया, भाग लिया, **नः**—हमको, **अस्मिन्**—इस, **अन्ने**—अन्न मे, **अनु आभजस्व**—भाग दे, बाट कर दे, **इति**—यह (कहा), **ते वै**—वे सब (इन्द्रिय-देवता), **मा**—मुझ को (मे), **अभिसविशत**—सब ओर से प्रवेश करो (मेरे मे लीन हो जाओ, मेरा ही अवयव हो जाओ), **इति**—यह (प्राण-देवता का वचन सुनकर), **तथा+इति**—वैसे ही (करते है), **तम्**—उसको (मे), **समन्तम्**—पूर्णतया, सब ओर, **परि+नि+अविशन्त**—प्रविष्ट हो गये, लीन हो गये, **तस्मात्**—उस कारण से, **यद्**—जो, **अनेन**—इस (प्राण) के द्वारा, **अन्नम्**—अन्न को, **अत्ति**—खाता है, **तेन**—उस (भुक्त अन्न) से, **एताः**—ये (इन्द्रिय-देवता), **तृप्यन्ति**—तृप्त (छक) हो जाते है, **एवम् ह वै**—इस प्रकार ही, **एनम्**—इस (ज्ञाता) को, **स्वाः**—अपने बन्धु-बान्धव, **अभिसंविशन्ति**—(उसके पास) एकत्र हो जाते है, **भर्त्ता**—भरण-पोषण करनेवाला, **स्वानाम्**—बन्धु-बान्धवो का, **श्रेष्ठः**—श्रेष्ठ (माननीय), **पुरः**—आगे, **एता**—चलने वाला, (**पुरः एता**—अग्रणी, नेता), **भवति**—होता है, **अन्नादः**—(स्वय भी) अन्न का भोक्ता, **अधिपतिः**—शासक, पालक, **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार (प्राण के रहस्य को) जानता है, **यः उ ह**—जो तो, **एवंविदम्**—ऐसे प्राण को जाननेवाले की प्रति, **स्वेषु**—अपने बन्धु-बान्धवो मे, **प्रति पतिः**—प्रतिकूल, प्रतिस्पर्धी (प्राण का ज्ञान न होते हुए भी) पति-रक्षक, **बुभूषति**—होना चाहता है (वह), **न ह एव**—नही ही, **अलम्**—(पालन करने मे) समर्थ, **भार्येभ्यः**—भरण करने योग्य (आश्रित) जनो

की स्वार्थ-हीनता को अनुभव करता है, जो भरण-योग्य व्यक्तियों का पालन करना चाहता है, वह प्राण की तरह 'भर्ता' बनकर इन्द्रियों को 'भार्या'---पोष्य---बनाने में समर्थ हो जाता है, ठीक ऐसे जैसे प्राणरूपी 'भर्त्ता' की इन्द्रियां मानो 'भार्या' हैं ।।१८।।

यह 'अयास्य'---प्राण---'आंगिरस' है, क्योंकि यह अंगों का रस है। प्राण अंगों का रस है, और क्योंकि प्राण अंगों का रस है इसलिये जिस-किसी अंग से प्राण निकल जाता है, वही सूख जाता है, अंगों का रस जो ठहरा ।।१९।।

यह 'बृहस्पति' भी कहलाता है। 'वाणी' बृहती है, महान् है, और

के लिये, भवति—होता है, (य उ ह एवंविदं प्रति स्वेषु पतिः बुभूषति, भार्येभ्यः अलम् न ह एव भवति—जो प्राण-रहस्य-ज्ञाता के अपने ही बन्धुओं में बिना भरण-पोषण किये ही प्रतिस्पर्धी होना चाहता है, वह आश्रितों के भरण-पोषण में समर्थ नहीं होता), अथ—और, यः एव—जो ही, एतम्—इस (प्राण की स्वार्थहीनता और पर-पोषकता) को, अनुभवति—अनुभव करता है, समझता है, यः वै—जो ही, एतम्—इस (प्राण) के, अनु—अनुसार, भार्यान्—भरण योग्य (आश्रितों) को, बुभूर्षति—भरण, (पालन-पोषण) करना चाहता है, सः ह एव—वह ही, अलम्—(भरण करने में) समर्थ, भार्येभ्यः—आश्रित-जनों के लिए, भवति—होता है ।।१८।।

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः प्राणो वा अङ्गानां
रसः प्राणो हि वा अङ्गानां रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चा-
ङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानां रसः ।।१९।।

सः—वह, अयास्यः—मुख में रहने वाला (अयास्यः—बिना परिश्रम के इन्द्रिय-जेता), आङ्गिरसः—आङ्गिरस (कहलाता है), अङ्गानाम् हि—क्योंकि (वह प्राण) अंगों का, रसः—रस (सार, जीवनप्रद, आनन्दयिता) है, प्राणः—प्राण, वै—ही, अङ्गानाम् रसः—अंगों का रस है, प्राण हि—क्योंकि प्राण, वै—ही, अङ्गानाम् रसः—अंगों का रस है, तस्मात्—अतएव, यस्मात् कस्मात् च—जिस किसी, अङ्गात्—अंग से, प्राणः—प्राण, उत्क्रामति—निकल जाता है, तद् एव—वह ही, शुष्यति—सूख जाता है, नीरस हो जाता है, एषः हि वै—क्योंकि यह (प्राण) ही, अङ्गानाम् रसः—अंगों का रस (जीवन) है ।।१९।।

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ।।२०।।

एषः उ एव—यह (प्राण) ही तो, बृहस्पतिः—बृहस्पति (-संज्ञक) है,

यह वाणी का भी पति है क्योंकि वाणी को इसी ने तो मृत्यु के पार लंघाया था, इसलिये यह बृहस्पति है ॥२०॥

यह 'ब्रह्मणस्पति' भी कहलाता है। 'वाणी' ब्रह्म है, उसका यह पति है, इसलिये ब्रह्मणस्पति है ॥२१॥

प्राण ही साम है। 'वाणी' 'सा' है, 'प्राण' 'अम' है, 'सा' और 'अम' मिलकर ही साम का सामपन बनता है। अथवा प्राण को 'साम' इसलिये कहते हैं क्योंकि यह घुण के समान है, मच्छर के समान है, हाथी के समान है, तीनों लोको के समान है, इस सम्पूर्ण-विश्व के समान है, प्राण ही तो सब में समाया हुआ है, सब के समान है, इसलिये प्राण ही साम है। समानता और साम मिलते-जुलते-से शब्द जो ठहरे। जो प्राण के इस साम-रूप को जानता है वह साम-रूप की 'सायुज्यता' और 'सलोकता' को प्राप्त होता है। 'सायुज्यता', अर्थात् समानता, 'सलोकता', अर्थात् एक ही जगह रहना। ऐसा व्यक्ति प्राण के समान स्वार्थ-हीन हो जाता है, उसके साथ एक हो जाता है, उसी के लोक में वास करता है ॥२२॥

वाग् वै—वाणी (का नाम), **बृहती**—बृहती (है), **तस्या**—उस बृहती (वाणी) का, **एषः**—यह (प्राण), **पतिः**—स्वामी, रक्षक है, **तस्माद् उ**—इस कारण से, **बृहस्पतिः**—(यह प्राण) बृहस्पति (नामवाला) है ॥२०॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग् वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्माद् ब्रह्मणस्पतिः ॥२१॥

एषः उ एव—यह (प्राण) ही तो, **ब्रह्मणस्पतिः**—ब्रह्मणस्पति (नाम वाला) है, **वाग् वै**—वाणी (का नाम) ही, **ब्रह्म**—'ब्रह्मन्' है, **तस्याः**—उस (ब्रह्म-संज्ञक वाणी) का, **एषः पतिः**—यह रक्षक (स्वामी) है, **तस्माद् उ**—अतएव, **ब्रह्मणस्पतिः**—(यह प्राण) ब्रह्मणस्पति (नामवाला) है ॥२१॥

एष उ एव साम वाग् वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्न सामत्वम्। यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्यं सलोकतां य एवमेतत्साम वेद ॥२२॥

एषः उ एव—यह (प्राण) ही तो, **साम**—साम (संज्ञक) है, **वाग् वै सा**—वाणी (का वाचक) 'सा' है, **अम एष**—यह (प्राण) 'अम' (साथ रहने-वाला, अनिवार्य), **सा च अमः च इति**—(साम मे दो पद है) 'सा' और 'अम' ये (दोनो मिलकर साम हुआ), **तत्**—वह, **साम्नः**—साम की, **सामत्वम्**—

प्राण ही उद्गीथ है । 'वाणी' गीथा है, प्राण 'उत्' है । प्राण 'उत्' इसलिये है क्योंकि प्राण से ही तो सब उठ खड़ा हुआ है, और उठ खड़े होकर सब प्रभु का गुण-गान कर रहे हैं । यह खड़े-खड़े जो सब जगह प्राण द्वारा प्रभु का गान हो रहा है, यही उद्गीथ है ॥२३॥

प्राण ही वाणी द्वारा प्रभु का गुण-गान करता है, इस विषय में एक आख्यायिका है । किसी समय ब्रह्मदत्त चैकितानेय सोम-पान कर रहे थे । वे बोले, अयास्य-आंगिरस प्राण अगर वाणी के बिना उद्-गीथ का गान करे, तो सोम राजा उसका सिर फोड़ दे । अर्थात्, प्राण इकला उद्गीथ-गान नहीं कर सकता, वाणी तथा प्राण के मेल से ही उद्गीथ-गान हो सकता है ॥२४॥

साम-रूप (वाणी और प्राण का योग) है, यद्+उ+एव—(अथवा) जो तो, **समः**—समान, **प्लुषिणा**—घुण या दीमक (चीटी) के, **समः**—समान, **मशकेन**—मच्छर के, **समः**—समान, **नागेन**—हाथी के, **समः**—समान; **एभिः त्रिभिः लोकैः**—इन तीन लोको के, **समः**—समान, **अनेन सर्वेण**—इस सब (दृश्यमान चर-अचर जगत्) के, **तस्माद् उ एव**—उस कारण से ही, **साम**—'साम' (कहलाता) है, **अश्नुते**—प्राप्त होता है, भोग करता है, **साम्नः** साम की, **सायुज्यम्**—समान योग, समानरूपता को, **सलोकताम्**—सह-निवास को, **यः एवम्**—जो इस प्रकार, **एतत् साम**—इस साम को, **वेद**—जानता है ॥२२॥

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदँ सर्वमु-
त्तब्धं वागेव गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥२३॥

एषः उ वै—यह साम ही तो, **उद्गीथः**—उद्गीथ (प्रणव-गान, स्तुति-गान) है, **प्राणः वै**—प्राण ही, **उद्**—उत् (शब्द से वाच्य) है, **प्राणेन हि**—क्योंकि प्राण से ही, **इदम् सर्वम्**—यह सब कुछ, **उत्तब्धम्**—(अपने) ऊपर थामा हुआ है, **वाग् एव**—वाणी (का नाम) ही, **गीथा**—गीथा (गायक) है, **उत् च**—(ऊपर उठानेवाला प्राण) उत्, **गीथा च**—और (गायक वाणी) गीथा, **इति**—ये (मिलकर), **सः उद्गीथ**—वह (रूप) उद्गीथ है ॥२३॥

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य
राजा मूर्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्ये-
नोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ॥२४॥

तद्—तो, **ह**—कभी पहले, **अपि**—भी, **ब्रह्मदत्तः**—ब्रह्मदत्त (नामी) ने, **चैकितानेयः**—चिकितान के पौत्र, **राजानम्**—(औषध-राज) सोम को, **भक्षयन्**—(यज्ञ मे) खाते हुए, **उवाच**—कहा था, **अयम् राजा**—यह राजा

वाणी साम-गान करती है, परन्तु साम का धन, उसका सर्वस्व 'स्वर' है। जो साम के धन को जानता है, वह धनी होता है। 'स्वर' ही साम का धन है, इसलिये ऋत्विक् का कार्य करना हो, तो स्वर ठीक करे। स्वर से सम्पन्न वाणी से ऋत्विक्-कार्य करे। तभी तो यज्ञ में स्वर वाले को ढूंढते है, जिसकी वाणी में स्वर का धन होता है। जो इस प्रकार साम के धन को, सुरीली-वाणी को जानता है, वह साम का धनी हो जाता है ॥२५॥

सोम, **त्यस्य**—उसके, **मूर्धानम्**—सिर को, **विपातयतात्**—गिरा देवे, फोड दे (लज्जित, नतमस्तक कर दे), **यद्**—जो, **इतः**—इससे, यहाँ से (आगे), **अयास्यः आगिरसः**—मुखवर्ती अगो का सार (प्राण), **अन्येन**—(वाणी से) भिन्न दूसरे से, **उदगायत्**—गान किया हो, **वाचा च**—वाणी से, **हि एव**—ही, **स.**—उसने, **प्राणेन च**—और प्राण से (के द्वारा), **उदगायत्**—उद्गीथ-गान किया था, **इति**—ऐसे ॥२४॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्य करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसपन्नयार्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव। अथो यस्य स्व भवति भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥२५॥

तस्य ह—उस ही, **एतस्य**—इस, **साम्न.**—साम के, **यः**—जो, **स्वम्**—धन (सम्पादक साधन) को, **वेद**—जान लेता है, **भवति ह**—होता ही है, **अस्य**—इस (ज्ञाता) का, **स्वम्**—धन, **तस्य वै**—उस (साम) का, **स्वरः**—स्वर, **एव**—ही, **स्वम्**—सम्पत्ति (साधक) है, **तस्मात्**—अतएव, **आर्त्विज्यम्**—ऋत्विक् (उद्गाता) का कर्म, **करिष्यन्**—करना चाहता हुआ, **वाचि**—वाणी मे, **स्वरम्**—(मधुर) स्वर को, **इच्छेत**—चाहे, **तया**—उस, **वाचा**—वाणी से, **स्वर-संपन्नया**—स्वर से युक्त (सधी हुई), **आर्त्विज्यम्**—ऋत्विक् (उद्गाता) का कर्म, **कुर्यात्**—करे, **तस्मात्**—उस कारण से, **यज्ञे**—यज्ञ मे, **स्वरवन्तम्**—(मधुर) स्वर वाले (उद्गाता) को, **दिदृक्षन्ते**—(यजमान) देखना चाहते (तलाश करते) है, **एव**—ही, **अथ उ**—और (उसको देखते है); **यस्य**—जिस (उद्गाता) का, **स्वम्**—(स्वर रूप) धन, **भवति**—होता है, **भवति ह अस्य स्वम्**—निश्चय ही इस (ज्ञाता) का भी (स्वर-रूप) धन होता है, **यः एवम्**—जो ऐसे, **एतत्**—इस, **साम्नः**—साम के, **स्वम्**—(स्वर-रूप) धन को, **वेद**—जान लेता है ॥२५॥

साम का 'धन' स्वर है, साम का 'सुवर्ण' अर्थात् 'सोना' क्या है ? जो साम के सोने को जानता है, उसके पास सोना-ही-सोना हो जाता है। 'स्वर' ही साम का 'सुवर्ण' है। 'सु-वर्ण'—'वर्ण' अर्थात् अक्षरो का शुद्ध-शुद्ध पाठ ही साम का 'सुवर्ण' अर्थात् सोना है। जो साम के 'सुवर्ण' को, अर्थात् शुद्धोच्चारण को जानता है उसके पास 'सुवर्ण' अर्थात्, सोना हो जाता है, प्रभु का गुण-गान-रूपी सोना उसे प्राप्त होता है ॥२६॥

साम की जो 'प्रतिष्ठा' को जानता है, 'आधार' को जानता है, वह प्रतिष्ठित होता है। 'वाणी' ही साम की प्रतिष्ठा है, यह 'प्राण' 'वाणी' में प्रतिष्ठित होकर प्रभु का गुण-गान करता है। प्राण वाणी मे आकर स्वर-गान करता है, यह एक मत है। दूसरा मत यह है कि प्राण अन्न के सेवन से स्वर-गान में उच्चता तथा मधुरता देता है ॥२७॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै
स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥२६॥

तस्य ह एतस्य साम्नः—उस इस 'साम' के, यः—जो, सुवर्णम्—सुन्दर (ललित) वर्ण (अक्षर) को, सोने को, वेद—जान लेता है, भवति ह अस्य—इस (ज्ञाता) को प्राप्त होता है, सुवर्णम्—सोना, तस्य वै—उस (साम) का, स्वरः एव—स्वर ही, सुवर्णम्—सोना, भवति ह अस्य सुवर्णम्—इस (ज्ञाता) को सुवर्ण (सोना) प्राप्त होता है, य एवम् एतत्—जो इस प्रकार इस, साम्नः—साम के, सुवर्णम्—(स्वर-रूप) सुवर्ण (सोना-धन) को, वेद—जान लेता है ॥२६॥

तस्य हैतस्य साम्नो य प्रतिष्ठां वेद प्रति ह
तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष
एतत्प्राण प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहु ॥२७॥

तस्य ह एतस्य साम्नः—उस इस 'साम' की, य—जो, प्रतिष्ठाम्—आश्रय, आधार को, वेद—जानता है, ह प्रतितिष्ठति—निश्चय ही आश्रय (आधारवाला) होता है, प्रतिष्ठित (समादृत) होता है, तस्य वै—उस (साम) की, वाग् एव—वाणी ही, प्रतिष्ठा—आधार है, वाचि—वाणी मे, हि—क्योंकि, खलु—निश्चय रूप मे, एषः—यह, एतत्-प्राण—यह प्राण, प्रतिष्ठितः—प्रतिष्ठित (आश्रित, आधारवाला), गीयते—गाया जाता है,

प्राण की इस आख्यायिका से यह बतलाकर कि उद्गाता को प्राण-सदृश होना चाहिये ऋषि ने उद्गीथ, साम-गान और वाणी के महत्त्व को समझाया। अब इस उपदेश के अन्त में कहते हैं :—

ऊपर जो बातें कही हैं, उन्हें समझकर पवमान-मन्त्रों का अभ्यारोह करे, उनका प्रवाह बहा दे। प्रस्तोता जब साम-गान प्रारम्भ करे तो इन मन्त्रों को पहले जपे—'असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय'। 'असतो मा सद् गमय' जब वह कहता है, तब वह अस्ल में 'मृत्योऽर्मामृतं गमय' ही कहता है, क्योंकि 'असत्' मृत्यु है, 'सत्' अमृत है, उसके कहने का अभिप्राय यही होता है कि मुझे अमृत प्रदान करो। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' जब वह कहता है, तब भी वह अस्ल में 'मृत्योर्मामृतं गमय' ही कहता है, क्योंकि 'तम' मृत्यु है, 'ज्योति' अमृत है, उसके कहने का अभिप्राय यही होता है कि मुझे अमृत प्रदान करो। 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' का अर्थ तो स्पष्ट ही है, मुझे मृत्यु से अमृत की तरफ़ ले चलो। उक्त

अन्ने—अन्न में (साम या प्राण प्रतिष्ठित है), इति उ ह—ऐसे भी, एके—कई (विचारक, दार्शनिक), आहुः—कहते है ॥२७॥

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः। स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेत्। असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमयेति। स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति। अथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तँ स एष एवंविदुद्गातात्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्यताया आशाऽस्ति य एवमेतत्साम वेद ॥२८॥

अथ अतः—अब इसके पश्चात्, पवमानानाम्—पवमान-सूक्त या मन्त्रों का, एव—ही, अभ्यारोहः—जपकर्म-विधि है, चढाव, विस्तार, प्रवाह है, सः वै खलु—वह तो, प्रस्तोता—प्रस्तोता (ऋत्विक्), साम—साम-गान, प्रस्तौति—प्रारम्भ करता है, सः—वह, यत्र—जहाँ, जिसमें (जब), प्रस्तुयात्—(साम गान) प्रारम्भ करे, तद्—तो, वहा, एतानि—इन तीन (वाक्यों-मन्त्रों) का,

तीन पवमान-स्तोत्रों से आध्यात्मिक-प्रसाद, अर्थात् 'अमृत' मांगने के वाद उद्गाता अन्य स्तोत्रो से अपने लिये जो भौतिक-पदार्थ चाहे मांगे । यही तरीका ठीक-ठीक वर मांगने का, और जिस-जिस वस्तु की कामना हो उसे पाने का है। जो उद्गाता इस रहस्य को जानता है, वह अपने लिये अथवा यजमान के लिये जो कामना चाहता है उसे गा लेता है, और वह लोकजित् हो जाता है। जो इस प्रकार साम को जानता है और लौकिक-पदार्थ मांगता है वह 'लोकजित्' तो हो जाता है, परन्तु उससे 'अलोक्यता' की आशा नहीं की जा सकती, यह आशा नहीं की जा सकती कि वह इस लोक को पार करके 'पर-लोकजित्' भी हो जायगा ॥२८॥

जपेत्—जप करे; (१) असतः मा सद् गमय; (२) तमसो मा ज्योति. गमय; (३) मृत्योः मा अमृतम् गमय; इति—इन (तीन मत्रो का जप करे), सः—वह (प्रस्तोता), यद्—जो, जव, आह—कहता है, असत'—'असत्' से, मा—मुझ को, सत्—'सत्' को, गमय—प्राप्त करा, इति—यह (जपता है), मृत्युः वै—मृत्यु ही, असद्—सत्ताशून्य, अनित्य है, अथवा (मृत्यु. वै असत्—मृत्यु का पर्याय ही 'असत्'-पद है), सद्—सदा सत्तावान्, अविनाशी, अमृतम्—अमर (व्रह्म) है, (इसका अर्थ यह हुआ कि) मृत्योः मा अमृतम् गमय—मृत्यु से (मरणशीलता) से मुझको अमर वना दो, अर्थात् अमृतम्—अमर, मा—मुझको, कुरु—कर दो, इति एव—यह ही, एतद्—यह (वाक्य), आह—कहता (प्रकट करता) है, तमसः—अन्धकार से, अज्ञान से, तमोगुण से, मा—मुझ को, ज्योतिः—प्रकाश को, ज्ञान को, सत्त्वगुण को, गमय—प्राप्त करा, इति—यह (जव जप करता है तो भी) मृत्युः वै—मृत्यु ही, तमः—'तमस्'-पद से अभिप्रेत है, ज्योतिः—ज्योति (पद का पर्याय), अमृतम्—अमर-पद है, (इस दूसरे वाक्य का भी अर्थ हुआ कि) मृत्योः मा अमृतम् गमय—मृत्यु से (छुडा कर) मुझको अमर कर दो, अमृतम् मा कुरु—मुझ को अमर कर दो, इति एव—यह ही, एतद्—यह दूसरा मत्र, आह—कहता, प्रगट करता है अथवा एतद् आह—यह भाव ही, प्रार्थयिता इस वाक्य से भी प्रगट करता है, मृत्योः मा अमृतम् गमय—मृत्यु से छुडाकर मुझको अमर कर दो, इति—इस (तीसरे वाक्य मे), न अत्र—नही इस (वाक्य मे), तिरोहितम् इव—छुपा हुआ-सा, अस्पष्ट-जैसा, अस्ति—है, अथ—और, यानि—जौन से, इतराणि—दूसरे, स्तोत्राणि—स्तोत्र (स्तुतिपरक मत्र) है, तेषु—उन मत्रो मे (के द्वारा), आत्मने—अपने लिए, अन्नाद्यम्—भोजन और भोजन-शक्ति, आगायेत्—

प्रथम अध्याय—(चौथा ब्राह्मण)
(सृष्टि-रचना)

ब्रह्मांड की रचना से पूर्व जैसे पहले 'पुरुष' था, अर्थात् ब्रह्म था, वैसे पिंड की रचना से पूर्व पहले 'आत्मा' था, अर्थात् जीव था। 'पुरुष' ने अपने चारों तरफ़ देखा, तो अपने अतिरिक्त कुछ न पाया—पृथिवी, सूर्य आदि देवताओं की सृष्टि तब तक नहीं हुई थी, 'आत्मा ने भी अपने चारों तरफ़ देखा तो अपने अतिरिक्त कुछ न पाया—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की सृष्टि तब तक नहीं हुई थी। उसने चारों तरफ़ देखकर कहा, 'अहम् अस्मि'—मैं हूं—इसलिये उसका नाम 'अहम्' हो गया। (बायबल मे उसका नाम आदम, अर्थात् 'अदम'-'अहम्' कहा है)। **इसीलिये जब किसी को पुकारते हैं, तो पहले**

गान (द्वारा प्रार्थना) करे, **तस्माद् उ**—उस कारण से, **तेषु**—उन मत्रो मे, **वरम्**—वरणीय (काम्य) वस्तु को; **वृणीत**—वरण करे, मागना चाहे, (अर्थात्) **यम्**—जिस, **कामम्**—कामना, भोग को, **कामयेत**—चाहे, इच्छा करे, **तम्**—उस (कामना) को (वरण करे), **सः एषः**—वह यह, **एवविद् उद्गाता**—इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता, **आत्मने वा**—या तो अपने लिए, **यजमानाय वा**—या (अपने) यजमान के लिए, **यम् कामम् कामयते**—जिस कामना (भोग) को चाहता है, **तम्**—उसको (का ही), **आगायति**—गान (प्रार्थना) करता है, **तद् ह**—वह, **एतद्**—यह (साम या जप-कर्म), **लोक-जिद्**—लोक-प्राप्ति का साधक, **एव**—ही (निश्चय से है), **न ह एव**—नही ही, **अलोक्यतायाः**—(उस उद्गाता के लिए) लोक-प्राप्ति के अभाव की, इस लोक को पार करके परलोक-जित् होने की, **आशा**—प्रार्थना (कल्पना), **अस्ति**—है (की जा सकती है, अर्थात् लोकजित् एव सलोकतावान् अवश्य होता है), **यः एवम् एतद् साम वेद**—जो इस प्रकार इस साम-गान को जानता है ॥२८॥

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहंनामाऽभवत्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाऽथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुष ओषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद ॥१॥

आत्मा—आत्मा (पिण्ड मे जीवात्मा, ब्रह्माण्ड मे परमात्मा), **एव**—ही, **इदम्**—यह, **अग्रे**—(सृष्टि-रचना से) पहले, **आसीत्**—था, **पुरुषविधः**—

'यह-मैं' कहकर, जो उसका अपना नाम होता है, वह उस नाम को 'मैं' के आगे बोलता है। जैसे ब्रह्म को पुरुष कहते हैं, वैसे आत्मा को भी पुरुष कहते हैं। 'पुरुष' का अर्थ है,'पुर'—पहले,'उष'—जलाना, सृष्टि से पहले ही जिसने पापों को जला रखा है, वह पुरुष है। वैसे तो मनुष्य पाप करता है, परन्तु इसका स्वाभाविक-रूप यही है जिसमें यह पाप को पहले ही, अर्थात् संकल्प में आने से पहले ही भस्म कर दे। जो इस रहस्य को जानता है वह, अगर पाप उससे आगे निकलना चाहता है, तो उसे भस्म कर डालता है ॥१॥

सृष्टि के प्रारम्भ में वह इकला था इसलिए डरा, इसलिये इकला डरा करता है। फिर उसने सोचा, जब मेरे सिवाय दूसरा कोई है

पुरुष (पुरी में शयन करनेवाला या पहिले ही दग्ध-पाप) के स्वरूप वाला, सः—उस (आत्मा) ने, अनुवीक्ष्य—पूरी तरह देख कर, न—नहीं, अन्यद्—दूसरा, भिन्न, आत्मनः—अपने से, अपश्यत्—देखा, सः—उसने, अहम् अस्मि—मैं (ही) हू, इति—ऐसे, अग्रे—सबसे पहिले, व्याहरत्—बोला, उच्चारण किया, ततः—उससे, अहम्-नामा—'अहम्'-(मैं) नामवाला, अभवत—हुआ, तस्मात्—उस कारण से, अपि—भी, एतर्हि—अब, (अपि एतर्हि—अब (आजकल) भी, आमन्त्रितः—पुकारा हुआ, बुलाया हुआ (पूछने पर), अहम् अयम्—मैं यह (अमुकनामा), इति एव—ऐसे ही, अग्रे—आगे, पहिले; उक्त्वा—कह कर, अथ—तत्पश्चात्, अन्यत्—दूसरा, नाम—(अपना वर्तमान) नाम, प्रब्रूते—बोलता है, यद्—जो (नाम), अस्य—इस (मनुष्य) का, भवति—होता है, सः—उस (आत्मा) ने, यद्—जो, पूर्वः—पहिले, अस्मात्—इस, सर्वस्मात्—सबसे, सर्वान्—सारे, पाप्मनः—पापों को, औषत्—जला दिया, भस्म (नष्ट) कर दिया, तस्मात्—उस कारण से, पुरुष—(यह) पुरुष (कहलाता) है, ओषति—जला देता है, ह वै—निश्चय ही, सः—वह, तम्—उसको, य—जो (पाप), अस्मात्—इससे, पूर्व—पहले, बुभूषति—होना चाहता है, यः—जो, एवम्—इसप्रकार (पुरुष के अर्थ को), वद—जानता है ॥१॥

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति स हायमीक्षांचक्रे यन्म-
दन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं
वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥२॥

सः—वह, अबिभेत्—डरा, तस्माद्—अतएव, एकाकी—इकला आदमी, बिभेति—डरता है, स ह अयम्—उस इस (आत्मा) ने, ईक्षाचक्रे—

ही नहीं, तो मैं क्यों भयभीत होता हूं ? यह सोचते ही उसका भय जाता रहा। बात भी ठीक है। वह किससे डरता ? दूसरे से ही तो डर होता है ॥२॥

वह इकला था, इसलिये उसका जी नही लगा। इसीलिये एकाकी पुरुष का जी नहीं लगता। उसने दूसरे की इच्छा की। वह इतना था, जितने स्त्री-पुरुष मिले हुए हों। उसने अपने इस ही शरीर को दो टुकड़ों में 'अपातयत्'—पटक दिया। पटकने के लिये 'पत्' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसी से 'पति' और 'पत्नी' बने, वे दो टुकड़े पति-पत्नी हो गये। इसी को देखकर याज्ञवल्क्य ऋषि का कथन था कि हमारा शरीर 'अर्ध-बृगल'—आधे दल—जैसे चने के या सीप के दो आधे-आधे दल होते हैं, उनके समान है। इसीलिये जैसे चने का आधा दल दूसरे दल से मिलकर पूरा बनता है, वैसे ही पुरुष के सामने का खाली आकाश स्त्री के साथ मिलने से ही पूरा जाता है। पुरुष-तत्त्व तथा स्त्री-तत्त्व का मेल हुआ, और उससे मनुष्य-जाति का निर्माण हुआ ॥३॥

देखा, **यद्**—कि, **मद्**—मुझ से, **अन्यद्**—भिन्न, दूसरा, **न+अस्ति**—नही है, **कस्मात्**—किससे, **नु**—तो, **विभेमि**—डरता हू, **इति**—ऐसे (सोचकर), **ततः एव**—उसके बाद ही, **अस्य**—इस (आत्मा) का, **भयम्**—भय, **वीयाय**—दूर हो गया, **कस्माद्**—किससे, **हि**—ही, **अभेष्यत्**—डरता, **द्वितीयाद् वै**—दूसरे से ही, **भयम्**—डर, **भवति**—होता है ॥२॥

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमाँसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्तत· पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मा-दयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ताँ समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त ॥३॥

सः वै—और वह, **न**—नही, **रेमे**—आनन्दित हुआ, क्रीडा कर सका, **तस्माद्**—अतएव, **एकाकी**—इकला आदमी, **न रमते**—नही प्रसन्न रहता है, जी नही लगता, **सः**—उसने, **द्वितीयम्**—दूसरे (साथी) को, **ऐच्छत्**—चाहा, इच्छा की, **स· ह**—वह (पुरुषविध आत्मा), **एतावान्**—इतना, ऐसा, **आस**—था, **यथा**—जैसे, **स्त्री-पुमासौ**—स्त्री और पुरुष, **संपरिष्वक्तौ**—खूब चिपटे हुए, एक-रूप हुए हो, **स·**—उसने, **इमम् एव**—इस (समिश्र, सश्लिष्ट) ही, **आत्मानम्**—(अपने) शरीर को, **द्वेधा**—दो प्रकार से, दो खण्ड मे, **अपातयत्**

(वायवल मे भी सृष्टि-रचना के प्रकरण मे कहा गया है---In the image of God created He him, Male and female created He them---जेनसिस १ २७। इसके आगे २य अध्याय की २२वी आयत मे लिखा है---And the rib, which the Lord God had taken from man, made He a woman, पुरुप की पसली निकालकर उसे स्त्री वना दिया। इसका भी यही अभिप्राय है कि सृष्टि-रचना से पूर्व पुरुप इतना था जितने स्त्री-पुरुष मिले हुए। इस विचार के ससार मे सर्वत्र फैलने का एक ही स्रोत है।)

स्त्री-तत्त्व ने सोचा, मुझे अपने शरीर में से ही उत्पन्न करके यह कैसे मेरे साथ ही संयोग करता है, हाय, मै छिप जाऊं! वह छिपकर गौ हो गई, पुरुष-तत्त्व बैल बन गया, और उन दोनों से गो-जाति का निर्माण हुआ। फिर स्त्री-तत्त्व ने घोड़ी का रूप धारण किया, पुरुष-तत्त्व ने घोड़े का; फिर गधी-गधे का---इससे एक खुरवाले पशु

---गिराया, किया, **ततः**---तव से, **पतिः च**---पति, **पत्नी च**---और पत्नी, **अभवताम**---हो गये, **तस्माद्**---अतएव, **इदम्**---यह (नर-देह एव नारी-देह), **अर्ध-बृगलम् इव**---(अन्न के) आधे दाने के समान है, **स्व.**---अपना-अपना (शरीर), **इति**---ऐसे, **ह**---कभी पहिले, **स्म आह (आह स्म)**---कहा था, **याज्ञवल्क्यः**---याज्ञवल्क्य ने, **तस्माद् अयम्**---अत एव यह, **आकाशः**---अवकाश (दूसरा आधा भाग), **स्त्रिया**---स्त्री (पत्नी) द्वारा (गृहाश्रम मे), **पूर्यते**---(दोनो के मिलने पर) पूर्ण होता है, **ताम्**---उस (स्त्री-पत्नी) को (से), **सम्+अभवत्**---सगत, सश्लिप्ट हुआ, **ततः**---उस (सभूति---रति) से, **मनुष्याः**---मनुष्य, **अजायन्त**---उत्पन्न हुए ॥३॥

सा हेयमीक्षांचक्रे कथ नु माऽऽत्मन एव जनयित्वा सभवति हन्त तिरोऽसानीति सा गौरभवद् ऋषभ इतरस्तां समेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त वडवेतराऽभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्तां समेवाभवत्तत एकशफमजायताऽजेतराऽभवद् वस्त इतरोऽविरितरा मेष इतरस्तां समेवाभवत्ततोऽजावयोऽजायन्तैवमेव यदिदं किंच मिथुनमा पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत ॥४॥

सा ह---उस (स्त्री) ने, **ईक्षांचक्रे**---देखा, विचारा, **कथम् नु**---कैसे, क्योकर, **मा**---मुझको, **आत्मन.**---अपने (शरीर) से, **एव**---ही, **जनयित्वा**---उत्पन्न कर, **संभवति**---(पुत्री-रूप मुझ से) सयुक्त होता, रति-कर्म करता है, **हन्त**---अरे, तो, **तिर. असानि**---छिप जाऊँ, तिरोभाव कर लू, **इति**---ऐसा (सोचकर), **सा**---वह नारी, **गौः**---गाय, **अभवत्**---हो गई, **ऋषभः**---बैल

उत्पन्न हुए। फिर वे बकरी-बकरा, भेड़-भेड़ा बने और उनसे बकरियों और भेड़ों की जाति उत्पन्न हुई। इसी प्रकार चिउंटी-पर्यन्त जितने संसार के जोड़े हैं, उन्हें पुरुष-तत्त्व तथा स्त्री-तत्त्व ने उत्पन्न कर दिया ॥४॥

'आत्म-तत्त्व' ने अपने को 'पुरुष-तत्त्व' तथा 'स्त्री-तत्त्व' में परिणत किया था, फिर संसार के जीव-जन्तुओं के रूप में विकसित किया, यह सब कर चुकने पर वह कह उठा, मैं ही सृष्टि हूं, मैंने ही यह सब रचा है, मेरे रचने ही से तो यह सृष्टि हुई है। जो इस रहस्य को जानता है, वह 'आत्म-तत्त्व' की सृष्टि में जा पहुंचता है, जिस तत्त्व से सृष्टि का प्रवाह चलता है उस ऊंचे स्तर पर जा पहुंचता है, सृष्टि का विधायक बन जाता है ॥५॥

(साड), **इतरः**—दूसरा (पुरुष), **ताम्**—उस (गोरूप नारी) को, **सम् एव अभवत्** (**एव समभवत्**)—ही (रति मे) सयुक्त हुआ, **ततः**—उस (सयोग) से, **गाव.**—गौएँ, **अजायन्त**—पैदा हुई, (इसके बाद) **वडवा**—घोडी, **इतरा**—एक (आदि-नारी), **अभवत्**—हुई, **अश्ववृषः**—नर-घोडा, **इतरः**—दूसरा (आदि-नर), **गर्दभी**—गदही, **इतरा**—एक (आदि-नारी), **गर्दभः**—गदहा, **इतरः**—दूसरा (आदि-नर), **ताम्**—उस (घोडी व गदही) से, **सम्+एव—अभवत्**—सयुक्त हुआ, **ततः**—उस (सयोग) से, **एकशफम्**—एक सुमवाले (घोडे आदि), **अजायत**—उत्पन्न हुए, **अजा**—बकरी, **इतरा**—एक (नारी), **अभवत्**—हुई, **बस्त.**—नर-बकरा, **इतरः**—दूसरा (नर), **अविः**—भेड, **इतरा**—एक (आदि-नारी) हुई, **मेषः**—मेढा (नर-भेड), **इतरः**—दूसरा (आदि-नर), **ताम्**—उस (भेड व बकरी) को, **सम् एव अभवत्**—वह नर सयुक्त हुआ, **ततः**—उस (सयोग) से, **अजा+अवयः**—बकरी और भेडे, **अजायन्त**—उत्पन्न हुए, **एवम् एव**—इस प्रकार ही, **यद् इदम् किंच**—जो यह कुछ भी, **मिथुनम्**—(नर-नारी रूप मे) जोडे हैं, **आ पिपीलिकाभ्यः**—चीटी तक, **तत् सर्वम्**—उन सारे जोडो को, **असृजत**—उत्पन्न किया ॥४॥

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहँ हीदँ सर्वमसृक्षीति ततः
सृष्टिरभवत्सृष्ट्याँ हास्यैतस्या भवति य एवं वेद ॥५॥

सः—उस (नर-रूप—पुरुष-रूप आत्मा) ने, **अवेत्**—जाना, समझा, **अहम् वाव**—मैं (स्वय) ही तो, **सृष्टिः**—सृष्टि (का विकास-कर्ता), **अस्मि**—हू, **अहम्**—मैंने, **हि**—क्योकि, **इदम् सर्वम्**—इस सारे को, **असृक्षि**—उत्पन्न किया, रचा है, **इति**—ऐसे, **ततः**—तब ही तो, **सृष्टिः**—यह रचना, **अभवत्**

संसार में सब प्राणियों के जोड़े तो उत्पन्न हो गये, परन्तु अभी उसके आगे बढ़ने का कोई साधन नहीं हुआ। 'आत्म-तत्त्व' ने अब मन्थन शुरू किया। मुख का मन्थन किया, हाथों का मन्थन किया। मुख और हाथों के मन्थन से 'अग्नि' उत्पन्न हुई। 'मुख से अग्नि उत्पन्न हुई' का अभिप्राय है, 'वाणी' के रूप में ज्ञान उत्पन्न हुआ; 'हाथों से अग्नि उत्पन्न हुई' का अभिप्राय है, रगड़ने से 'आग' पैदा हुई। आध्यात्मिक तथा मानसिक उन्नति के लिये वाणी के रूप में ज्ञान-अग्नि और भौतिक उन्नति के लिये भौतिक-अग्नि को लेकर मानव-समाज अग्रगामी हुआ। यह आग रगड़ने से निकली, इसीलिये तो हाथ और मुख में लोम नहीं होते! यह जो लोग कहते हैं, इस देवता की स्तुति करो, उस देवता की स्तुति करो, एक-एक देवता का नाम लेकर कहते हैं, इनकी स्तुति करो, यह सब बेकार है, यह सृष्टि तो सिर्फ़ एक आत्म-तत्त्व-रूप देवता की है; वही सर्व-देव है। सृष्टि में जो-कुछ 'आर्द्र' है, जो-कुछ लहलहा रहा है, वह उसी 'आत्म-तत्त्व' के बीज से उत्पन्न हुआ है। 'आत्म-तत्त्व' के बीज का नाम ही 'सोम' है। सृष्टि में जो-कुछ है, या तो वह 'अन्न' है, या 'अन्नाद' है, अर्थात् या तो भोग्य है, या भोक्ता है। 'सोम' अन्न है; भोग्य है। आत्म-तत्त्व ने यह

—हुई है; सृष्ट्याम्—सृष्टि (रचना) में; ह—ही; अस्य—इस (आत्मा) की; एतस्याम्—इस; भवति—(स्वयं भी स्रष्टा) होता है; यः एवम् वेद—जो इस प्रकार (सृष्टि-रचना को) जानता है ॥५॥

अथेत्यभ्यमन्थत्स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतः। तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः। अथ यत्किंचेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत तदु सोम एतावद्वा इदं सर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिर्यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्यां हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥६॥

अथ इति—तो ऐसे अभ्यमन्थत्—मथन किया रगड़ा (मन में विचार किया); सः—उस (स्रष्टा) ने; मुखात् च—मुख (रूप योनि-उत्पत्ति स्थान) से; योनेः—उत्पत्ति-स्थान, उत्पत्ति-कारण; हस्ताभ्याम् च—और हाथों से (मथकर); अग्निम्—अग्नि को (ब्रह्माण्ड में, वाणी को पिण्ड में); असृजत

सोमात्मक, अन्नमय, भोग्य-पदार्थों से भरी हुई सृष्टि प्राणिमात्र के उपभोग के लिये बनाई है, 'अग्नि' अन्नाद है, भोक्ता है। आत्म-तत्त्व ने मनुष्य को अग्निमय रचा है, वह संसार को अग्नि-रूप होकर भोग डाले, उसे भस्म कर दे, स्वयं भस्म न हो जाय। ब्रह्म की यह 'अति-सृष्टि' है, ऊंची सृष्टि है, जिसमें श्रेष्ठ-लोग देव बन जाते हैं, और मर्त्य-लोग अमृत बन जाते हैं, तभी तो यह 'अति-सृष्टि' कहलाती है। जो इस रहस्य को जानता है, वह ब्रह्म की इस 'अति-सृष्टि' में जा पहुंचता है ॥६॥

—उत्पन्न किया, **तस्मात्**—उस (अभिमन्थन के कारण) से, **एतत्**—ये (योनि रूप); **उभयम्**—दोनो (मुख और हाथ), **अलोमकम्**—बे-रोए के है, **अन्तरतः**—अन्दर से, **अलोमका**—बे-रोए की, **हि**—क्योकि, **योनिः**—स्त्री-योनि, **अन्तरतः**—अन्दर की ओर, **तद्**—तो, **यद्**—जो, **इदम्**—यह, **आहुः**—(कर्मकाण्डी) कहते है, **अमुम्**—अमुक (देवता) को (का), **यज**—यजन (स्तुति-आदि) करो, **अमुम् यज**—अमुक का यजन करो, **इति**—इस प्रकार, **एक+एकम्**—(अलग-अलग) एक-एक, **देवम्**—देवता को, **एतस्य**—इस (आत्मा-प्रजापति) की, **एव**—ही, **सा**—वह (देव-रूप), **विसृष्टि**—विविध रचना है, **एषः उ हि एव**—यह ही तो, **सर्वे**—सारे, **देवाः**—देवताओ (का आदिकारण व आदि रूप है), **अथ**—और, **यत् किंच**—जो-जो कुछ, **इदम्**—यह, **आर्द्रम्**—गीला, हरा-भरा, जलमय है, **तद्**—उसको, **रेतस**—बीज से, वीर्य से (जल से), **असृजद्**—रचा, बनाया, **तद् उ**—वह आर्द्र (लहलहाता, हरा-भरा), **सोम**—सोम (नाम-वाला) है, **एतावद् वै**—इतने परिमाण वाला ही, **इदम् सर्वम्**—यह सब, **अन्नम् च**—या तो अन्न है, **अन्नादः च**—या अन्न-भोक्ता है, **सोमः**—सोम-सञ्ज्ञक आर्द्र (हरा-भरा, वनस्पति आदि), **एव**—ही, **अन्नम्**—अन्न है, **अग्निः**—अग्नि (जठराग्नि या ज्ञानी आत्मा), **अन्नादः**—अन्न का भोक्ता है, **सा+एषा**—वह यह, **ब्रह्मण**—जगत्स्रष्टा प्रजापति ब्रह्म की, **अति-सृष्टिः**—सामान्य-रचना से बढकर, ऊची रचना है, **यत्**—जो, कि, **श्रेयसः**—श्रेयोभागी, श्रेष्ठ, **देवान्**—देवो को, **असृजत**—बनाया, **यत्**—जो, **मर्त्य सन्**—मरण-धर्मा होते हुए भी मनुष्यो को, **अमृतान्**—अमर-पद को प्राप्त, **असृजत**—रचा, **तस्माद्**—अतएव, **अति-सृष्टि**—(यह) ऊची रचना है, **अतिसृष्ट्याम्**—ऊची रचना मे, **हि**—ही, **अस्य**—इस ब्रह्म की, **एतस्याम्**—इस, **भवति**—होता है (देव और अमृत बन जाता है), **यः एवम्**—जो इस प्रकार (सृष्टि और अति-सृष्टि को), **वेद**—जानता है ॥६॥

प्रारम्भ में तो सृष्टि 'अव्याकृत' थी, अस्फुट थी। अब तक 'वाणी' उत्पन्न हो चुकी थी। आत्म-तत्त्व ने इस सृष्टि को 'वाणी' द्वारा 'नाम' और 'रूप' से 'व्याकृत' कर दिया, स्फुट कर दिया, इसका यह नाम (Name) है, और यह रूप (Form) है—ऐसा स्पष्ट कर दिया ताकि संसार का व्यवहार चल सके। आज दिन भी प्रत्येक वस्तु का नाम-रूप से ही व्यवहार होता है, इस वस्तु का यह नाम है, यह रूप है। वह 'आत्म-तत्त्व' प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट है, नखो के अग्र-भाग तक प्रविष्ट है, ठीक-ऐसे जैसे छुरा नाई की पेटी में, और आग लकड़ी में! आत्म-तत्त्व को कोई देख नहीं पाता क्योंकि पूरा तो कहीं वह मिलता ही नहीं। जब शरीर में वह सांस लेने लगता है तब उसी का नाम हम 'प्राण' रख देते है, जब बोलने लगता है तब उसे 'वाक्', जब देखने लगता है तब 'चक्षु', जब सुनने लगता है तब 'श्रोत्र', जब मनन करने लगता है तब 'मन' कह देते है, ये-सब उसी के 'कर्म', उसी की क्रिया के नाम है। प्राण-वाक्-चक्षु आदि एक-एक को आत्मा समझकर, जो उस आत्म-तत्त्व की उपासना करता है, वह नासमझ है, क्योंकि इनमें से एक-एक को आत्मा समझने से तो वह अपूर्ण ही रह जाता है। उसकी तो 'आत्मा' के रूप में ही उपासना

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौनामायमिदं-रूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामायमिदं-रूप इति स एष इह प्रविष्टः। आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहित-स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये तं न पश्यन्ति। अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति। वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव। स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवति। तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽनेन ह्येतत्सर्वं वेद। यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिं श्लोकं विन्दते य एवं वेद ॥७॥

तत् ह इदम्—पहिले (जगद्-रचना के प्रारम्भ काल मे) वह यह (दृश्यमान-जगत्), तर्हि—तव, अव्याकृतम्—अप्रगट, अस्पष्ट, आसीत्—था, तत्—उस (रचना) को, नाम-रूपाभ्याम्—नाम (सज्ञा) और रूप (आकृति) से, एव—ही, व्याक्रियत—स्पष्ट (सुबोध) कर दिया, असौ-नामा—इस नामवाला (इसका यह नाम है), अयम्—यह (पदार्थ), इदं-रूपः—इस रूप (आकृति) वाला है,

करनी चाहिये, क्योंकि 'आत्म-तत्त्व' में ही सब एक होते हैं, वहीं सबका अहंकार मिट जाता है, उसके बाहर तो सब अपना-अपना सिर उठाने लगते हैं। इसलिये इसी को खोज निकालना चाहिये, यह जो सबका 'आत्मा' है, क्योंकि इसके जानने से सब जाना जाता है। जैसे खोये पशु को उसके पद-चिह्न से पा लेते हैं, ऐसे ही इस खोये आत्मा को इसके पद-चिह्नों से जो पा लेता है, वह कीर्ति और स्तुति को पा लेता है ॥७॥

इति—ऐसे (प्रकट किया), **तद्**—तो, **इदम् अपि**—यह भी, **एर्तीह**—अब—इस समय भी, **नामरूपाभ्याम्**—नाम और रूप से, **एव**—ही, **व्याक्रियते**—(स्पष्टता के लिए) वर्णन किया जाता है (कि), **असौ-नामा अयम्**—इस नाम-वाला यह है, **इदम्-रूपः**—(और) इस रूपवाला है, **इति**—ऐसे, **सः एषः**—वह यह (आत्मा), **इह**—यहाँ, इस (शरीर मे, **प्रविष्टः**—घुसा हुआ, व्यापक है, **आनखाग्रेभ्यः**—(सिर से लेकर) नखो की नोक तक, **यथा**—जैसे, **क्षुरः**—छुरा, उस्तरा, **क्षुरधाने**—नाई की पेटी (किस्बत) मे या मियान मे, **अवहितः**—रखा हुआ, **स्यात्**—होवे, **विश्वंभरः वा**—या आग, **विश्वंभर-कुलाये**—आग के घोसले मे या अगीठी मे, **तम्**—उस (गूढ-आत्मा) को, **न**—नही, **पश्यन्ति**—(उसके पूर्ण रूप मे) देख पाते है, (जिसे आत्मा समझते है वह) **अकृत्स्नः**—अपूर्ण, अधूरा, **हि सः**—वह है, **प्राणन्**—श्वास-प्रश्वास लेता हुआ, **एव**—ही, **प्राणः नाम भवति**—(उसका) प्राण नाम होता है, **वदन्**—बोलता हुआ, **वाक्**—वाणी (वक्ता), **पश्यन्**—देखता हुआ, **चक्षुः**—चक्षु (द्रष्टा), **शृण्वन्**—सुनता हुआ, **श्रोत्रम्**—श्रोत्र (श्रोता), **मन्वानः**—मनन-चिन्तन, सकल्प-विकल्प करता हुआ, **मनः**—मन (मन्ता), **तानि**—वे, **अस्य**—इस (आत्मा) के, **एतानि**—ये (प्राण आदि), **कर्मनामानि**—क्रिया (प्राणन-श्रवण आदि कर्म पर आश्रित)—नाम, **एव**—ही है, **सः यः**—वह जो, **अतः**—इनमे से, **एक-एकम्**—एक-एक की (अलग-अलग), **उपास्ते**—उपासना करता (किसी एक रूप मे समझता) है, **न सः वेद**—वह (उपासक) उसको नही जान पा रहा है, **अकृत्स्नः**—अपूर्ण (अधूरा), **हि**—क्योकि, **एषः**—यह (एक-एक क्रिया मे ज्ञात) आत्मा है, **अतः**—इस (उपासना से), **एक-एकेन**—एक-एक ही (कर्म से), **भवति**—(युक्त या ज्ञात) होता है, **आत्मा इति**—(उसको) आत्मा (शरीर मे प्रविष्ट-व्यापक) इस रूप मे, **एव**—ही, **उपासीत**—उपासना करे, जाने-समझे, **अत्र**—इस (नाम-रूप) मे, **हि**—क्योकि, **एते सर्वे**—ये सारे (कर्म-नाम), **एकं भवन्ति**—एकरूप (सम्मिलित) हो जाते है, **तद् एतद्**—

यह 'आत्म-तत्त्व' पुत्र से अधिक प्यारा है, वित्त से अधिक प्यारा है। यह जो अन्दर से भी अन्दर बैठा हुआ 'आत्म-तत्त्व' है, यह अन्य सब वस्तुओं से अधिक प्रिय है। अगर 'आत्म-तत्त्व' से अतिरिक्त किसी वस्तु को कोई प्रिय समझता है, तो उसे कह दे, मूर्ख ! तुझे अपने प्रिय आत्म-तत्त्व के निकट जाने मे यह विचार तुझे रोकेगा, चाहे तू ऐश्वर्यशाली भी क्यो न हो, आत्मा के अतिरिक्त किसी वस्तु को यदि तू प्रिय समझे बैठा है, तो वह वस्तु तुझे आत्म-तत्त्व की प्राप्ति न होने देगी। 'आत्म-तत्त्व' को ही प्रिय समझो, उसी की उपासना करो। जो 'आत्म-तत्त्व' को प्रिय समझकर उसकी उपासना करता है, उसका प्रिय कभी नष्ट नहीं होता ॥८॥

वह यह (आत्मा), **पदनीयम्**—प्राप्त करने योग्य, ज्ञेय है, **अस्य सर्वस्य**—इस सब (प्राण आदि) का, **यद् अयम्**—जो यह, **आत्मा**—(सब मे प्रविष्ट-व्याप्त) आत्मा है, **अनेन हि**—क्योंकि इस (आत्मा) के द्वारा, **एतत् सर्वम्**—ये सब (चक्षु आदि), **वेद**—जान कर पाते है (अथवा) **एतत् सर्वम् वेद**—इस सकल (जगत्) को जान सकते है, **यथा ह वै**—जैसे, **पदेन**—पद-चिह्न से, **अनुविन्देत्**—(खोये पशु आदि को) खोज लेते है, **एवम्**—इस प्रकार (पदनीय-ज्ञेय आत्मा को खोज कर जानना चाहिये), **कीर्त्तिम्**—यश को, **श्लोकम्**—प्रशंसा को, **विन्दते**—पाता है, **यः**—जो (जिज्ञासु), **एवम् वेद**—इस प्रकार (आत्म-स्वरूप को) जान जाता है ॥७॥

> तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥८॥

तद् एतत्—वह यह (आत्मा), **प्रेय**—अधिक प्रिय, **पुत्रात्**—पुत्र से, **प्रेय**—अधिक प्रिय, **वित्तात्**—धन से, कर्म करने के साधन (सामग्री) से, **प्रेय**—अधिक प्रिय, **अन्यस्मात्**—अन्य (और भी), **सर्वस्मात्**—सब कुछ (प्रिय वस्तुओं से), **अन्तरतरम्**—अधिक समीपवर्ती, अन्दरूनी है, **यद् अयम् आत्मा**—जो यह आत्मा है, **स य**—वह जो, **अन्यम्**—भिन्न, **आत्मन**—आत्मा से, (**आत्मनः अन्यम्**—आत्मा से भिन्न दूसरे पदार्थ को), **प्रियम्**—प्रिय, **ब्रुवाणम्**—कहनेवाले को, **ब्रूयात्**—कहे, **प्रियम्**—(तेरे) प्रिय को, **रोत्स्यति**—(पास आने—प्राप्त होने से) रोक देगा, **इति**—ऐसे, **ईश्वर**—समर्थ, प्रभु, **ह**—निश्चय से, **तथा एव स्यात्**—वैसा ही हो जायगा, **आत्मानम् एव**—

कई जिज्ञासु शंका करते हैं, और पूछते हैं—जो मनुष्य समझते हैं हम 'ब्रह्म-विद्या' से सब-कुछ बन जायेंगे, उनका क्या अभिप्राय होता है ? 'ब्रह्म-विद्या' द्वारा 'ब्रह्म' को किस बात का ज्ञान हुआ कि वह सब-कुछ हो गया ? ॥९॥

इस प्रश्न का ऋषि उत्तर देते हैं—सृष्टि के प्रारम्भ में 'ब्रह्म' था। उसने अपने को ही जाना—'मैं ब्रह्म हूं', यह जानकर वह सब-कुछ हो गया। देवो में, ऋषियों में, मनुष्यो में जो-जो यह जानता गया, वह-वह 'ब्रह्म' होता गया। (उपनिषदो मे ब्रह्म का अर्थ है,

---

(अपने) आत्मा को ही, **प्रियम्**—सब से प्रिय, **उपासीत**—जाने, समझे, उपासना करे, **सः यः**—वह जो, **आत्मानम् एव प्रियम् उपास्ते**—आत्मा को ही एकमात्र प्रिय समझता है, **न ह**—नही तो, **अस्य**—इस (उपासक) का, **प्रियम्**—प्रेम-पात्र, **प्रमायुकम्**—मृत्यु को प्राप्त, नष्ट, **भवति**—होता है ॥८॥

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या
मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्माऽवेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति ॥९॥

तद्—तो, **आहुः**—कई कहते (पूछते) है कि, **यद्**—जो, **ब्रह्मविद्यया**—ब्रह्म (परमेश्वर) के ज्ञान से, **सर्वम्**—सब कुछ, **भविष्यन्तः**—हो जायेंगे, प्राप्त कर लेंगे (ऐसा), **मनुष्याः**—मनुष्य, **मन्यन्ते**—मानते है, **किम् उ**—क्या व कैसा, **तद् ब्रह्म**—वह ब्रह्म है, **अवेत**—क्या उसे जान लिया है, अथवा (**किम् उ तद् ब्रह्म अवेत्**—क्या उन्होने उस ब्रह्म को जान लिया), **यस्मात्**—जिस (ब्रह्म) से, **तत् सर्वम**—वह सब कुछ, **अभवत्**—हुआ, प्राप्त हुआ, **इति**—ऐसे (पूछते है) ॥९॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत् तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवँ सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदँ सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्चनाऽभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषाँ स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवँ स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥१०॥

ब्रह्म वै—ब्रह्म (परमात्मा), **इदम्**—यह, **अग्रे**—(सृष्टि-रचना से) पहले या प्रारम्भ मे, **आसीत्**—सत्तावाला था, **तद्**—तो, उसने, **आत्मानम्**

'महान्' । 'मैं ब्रह्म हूं'--यह जानकर 'ब्रह्म' होता गया, अर्थात् 'मैं महान् हूं'--यह जानकर 'महान्' होता गया ।) इसी तत्त्व का साक्षात्कार कर ऋषि वामदेव ने कहा था, मैं ही मनु था, मैं ही सूर्य था ! आज-दिन भी जो यह जान जाता है कि 'मैं ब्रह्म हूं'--क्षुद्र नहीं, महान् हूं--वह सब-कुछ हो जाता है, देवता भी उसके ऐश्वर्य को नहीं रोक पाते, ब्रह्म होने के नाते वह देवताओं का भी आत्मा जो हो जाता है ! जो 'अन्य' देवता की उपासना करता है, अर्थात् वह 'अन्य' है, मैं 'अन्य' हूं--इस क्षुद्र-भाव को जन्म देता है, वह नासमझ है, वह मानो देवो के सामने पशु-सदृश है । जैसे बहुत-से पशु मिलकर एक-एक मनुष्य का पालन करते हैं, ऐसे ही 'अन्य' की उपासना करने वाले, अपने को क्षुद्र समझने वाले अनेक पुरुष मिल-कर देवो के मानो पशु बनकर उनकी पालना में लगे रहते हैं । एक पशु हाथ से निकल जाय तभी बुरा लगता है, ये मनुष्य-रूप पशु देवताओ के हाथ से निकल जांय, यह देवताओं को कैसे रुच सकता है ? इसलिये देव लोग नहीं चाहते कि मनुष्य लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं क्षुद्र नहीं, ब्रह्म हूं, महान् हूं'--के रहस्य को समझें, वे यही चाहते हैं कि मनुष्य, पशु अर्थात् क्षुद्र बने रहें, और उनकी सेवा करते रहें ॥१०॥ (यह ऋषि ने उपहास मे कहा है ।)

—अपने को, अपने स्वरूप को, **अवेत्**—जाना, **अहम् ब्रह्म अस्मि**—मैं ब्रह्म (बडा, महान्) हूं, **तस्मात्**—उससे, **तत् सर्वम्**—वह सब, **अभवत्**—उत्पन्न हुआ, **तद्**—तो, **य. यः**—जो-जो (जो कोई भी); **देवानाम्**—देवताओं में से, **प्रत्यबुध्यत**—ज्ञानी हुआ, समझ पाया, **स. एषः**—वह ही यह (देव), **तद्**—वह (ब्रह्म—महान्), **अभवत्**—हो गया, **तथा**—वैसे, **ऋषीणाम्**—ऋषियो मे से, **तथा**—वैसे, **मनुष्याणाम्**—मनुष्यो में से, **तद् ह**—तो कभी पहले, **एतद्**—इसको, **पश्यन्**—देखते-जानते हुए; **वामदेवः**—वामदेव ऋषि ने, **प्रतिपेदे**—प्रतिपादन किया, स्वीकार किया, बताया, **अहम्**—मैं, **मनुः**—मनु (मननशील); **अभवम्**—हुआ था, **सूर्यः च**—और सूर्य (सर्व-प्रेरक), **इति**—ऐसे, **तद् इदम् अपि एतर्हि**—तो आजकल भी, अब भी, **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है, **अहम्**—मैं; **ब्रह्म**—बडा, महान्, **अस्मि**—हूं, **सः**—वह, **इदम् सर्वम् भवति**—यह सब कुछ हो जाता है (जो चाहता है वह हो जाता है), **तस्य**—उस (ब्रह्म-ज्ञाता) के, **ह**—निश्चय से, **न**—नहीं,

सृष्टि के प्रारंभ में यह केवल एक 'ब्रह्म' था, 'ब्रह्म' अर्थात् वह सत्ता जिसमें बढ़ने की, महान् होने की शक्ति थी। वह इकला था, इसलिये कुछ हो न सकता था। वह 'ब्रह्म' था, अर्थात् उसमे बढ़ने की आन्तरिक सामर्थ्य थी, अतः इकला होने पर भी वह बढ़ा, महान् हुआ, उसने श्रेयोरूप को रचा—क्षत्र को, अर्थात् क्षात्र-धर्म को। देवो में क्षात्र-धर्म के प्रतिनिधि है, इन्द्र, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु,

---

देवा.+चन—देवता भी, **अभूत्यै**—अनैश्वर्य (अभाव, उन्नति मे बाधा) के लिए, **ईशते**—समर्थ होते है, **आत्मा हि**—आत्मा (प्रेरक-ज्ञाता) ही, **एषाम**—इन (देवों) का, **सः भवति**—वह हो जाता है, **अथ**—और, **यः**—जो, **अन्याम्**—(आत्मा से) भिन्न, **देवताम्**—देवता की, **उपास्ते**—उपासना करता (उसे 'ब्रह्म' समझता) है, **अन्यः असौ**—यह और (भिन्न) है, **अन्यः अहम् अस्मि**—मैं और हू, **इति**—ऐसे, **न सः वेद**—वह (परमार्थ को) नही जानता है, **यथा**—जैसे, **पशुः**—पशु (स्वामी-प्रेरित) होता है, **एवम्**—ऐसे ही, **सः**—वह (परमार्थ का न जाननेवाला), **देवानाम्**—देवताओ (इन्द्रिय आदियो) का (प्रेष्य–आज्ञानुवर्ती होता है), **यथा ह वै**—जैसे, **बहवः पशवः**—बहुत से पशु (मिलकर), **मनुष्यम्**—मनुष्य को, **भुञ्ज्यु.**—(भोग-सामग्री दुग्ध आदि द्वारा) पालन करते है, **एवम्**—ऐसे, **एक+एकः**—इकला एक, **पुरुष.**—मनुष्य, **देवान्**—देवो को, **भुनक्ति**—पालन करता है, भोग देता है, **एकस्मिन् एव**—एक ही, **पशौ**—पशु के, **आदीयमाने**—ले लेने पर (छिनने पर), **अप्रियम् भवति**—बुरा होता (लगता) है, **किम् उ बहुषु**—बहुतो के (छिन जाने पर) तो क्या कहना, **तस्मात्**—अत., **एषाम्**—इन (देवो) का, **तत्**—वह, **न**—नही, **प्रियम्**—अभीष्ट है, **यद्**—कि, **एतद्**—इस (ब्रह्म-आत्मा) को, **मनुष्याः**—मननशील पुरुष, **विद्युः**—जान लेवे ॥१०॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकँ सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूप-मत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म। तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एनँ हिनस्ति स्वाँ स योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेयाँसँ हिँसित्वा ॥११॥

ब्रह्म वै—ब्रह्म या ब्राह्मण ही, **इदम्+अग्रे**—इस रचना के प्रारम्भ में, **आसीत्**—था, **एकम् एव**—इकला ही, **तद्**—वह (ब्रह्म), **एकम् सत्**—

ईशान। क्षात्र-धर्म से बढ़ कर कुछ नहीं, इसीलिये राजसूय-यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठता है, अपने यश को क्षात्र-धर्म के सुपुर्द कर देता है। परन्तु क्षात्र-धर्म का आधार, उसका कारण है तो ब्रह्म ही, ब्रह्म अर्थात् वह सत्ता जो सृष्टि के प्रारम्भ में थी, इसलिये यद्यपि राजसूय-यज्ञ में राजा अर्थात् क्षत्रिय ब्राह्मण से ऊपर बैठता है, तथापि यज्ञ के अन्त में वह ब्राह्मण से नीचे ही आ बैठता है, क्योंकि ब्रह्म ही तो क्षत्र का कारण है। जो ब्रह्म की, अर्थात् उस सत्ता की जो सृष्टि के प्रारम्भ में थी, जिस में बढ़ने का बीज था, जिसके बढने से सब-कुछ बना, हिंसा करता है, उसका अनादर करता है, वह अपने ही कारण की हिंसा, अनादर करता है; जैसे मानो कोई श्रेष्ठ की हिंसा करके पाप का भागी बने, वैसे ही ब्राह्म-धर्म का अनादर करने वाला क्षात्र-धर्म पाप का भागी होता है ॥११॥

अकेला होने के कारण, न—नहीं, व्यभवत्—विभु हुआ, समर्थ हुआ, तत्—तो, उस (ब्रह्म) ने, श्रेयः रूपम्—कल्याणकारी (श्रेष्ठ) रूप को, अत्यसृजत—रचा, क्षत्रम्—क्षात्र-धर्म को, क्षत्रिय (रूप में), यानि+एतानि—जो ये, देवत्रा—देवों में, देव-रक्षक, क्षत्राणि—क्षात्र-धर्म वाले, इन्द्रः—इन्द्र, वरुणः—वरुण, सोमः—सोम, रुद्रः—रुद्र, पर्जन्यः—पर्जन्य (मेघ), ईशानः—ईशान (शंकर) देवता, इति—ये (जिनके नाम हैं उन्हें रचा), तस्मात्—उस (श्रेयोरूप होने) के कारण, क्षत्रात्—क्षत्रिय से, परम्—श्रेष्ठ, बढकर, न+अस्ति—(कोई भी) नहीं है, तस्माद्—अतएव, ब्राह्मण—(वर्णों में सर्वोच्च) ब्राह्मण, क्षत्रियम्—क्षत्रिय (राजा) के, अधस्तात्—नीचे (आसन पर), उपास्ते—पास में बैठता है, राजसूये—राजसूय-यज्ञ में, क्षत्रे—क्षात्र-धर्म या क्षत्रिय में, एव—ही; तद्–यश—उस (श्रेयोरूप) यश को, दधाति—स्थापित करता है, सा+एषा—वह यह, क्षत्रस्य—क्षात्र-धर्म का, योनिः—मूल कारण है, यद्—जो, ब्रह्म—ब्राह्मण है, तस्माद्—अतएव, यद्यपि—यद्यपि, राजा—(क्षत्रिय) राजा, परमताम्—श्रेष्ठता को, (उस समय) उच्च आसन को, गच्छति—प्राप्त करता है, ब्रह्म एव—ब्राह्मण को ही, अन्ततः—अन्त को, बाद में, उपनिश्रयति—पास में नीचे ही बैठता है, स्वाम्—अपने, योनिम्—मूल कारण (निर्माता, ब्राह्मण) को, यः उ—जो ही (क्षत्रिय), एनम्—इस (ब्राह्मण) को, हिनस्ति—मारता, नष्ट करना चाहता है, तिरस्कृत करता है, स्वाम्—अपनी, सः—वह (हिंसक राजा), योनिम्—जड़ (मूल कारण) को, ऋच्छति—नष्ट करता-काटता है, सः—वह, पापीयान्—घोर पापी, भवति—होता है, यथा—

ब्रह्म ने 'क्षात्र-धर्म' को तो रचा, परन्तु फिर भी काम न चला। उसने फिर 'विश्'—'वैश्य-धर्म' को रचा। देवों में वैश्य-धर्म के प्रतिनिधि है, वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत्। वसु आदि इन देवों के अपने-अपने गण है, समुदाय है, श्रेणियां है। वसु ८ है, रुद्र ११ है, आदित्य १२ है, विश्वेदेव १३ है, मरुत् ४९ है ॥१२॥

फिर भी काम न चला, तो 'पूषन्' अर्थात् पालन-पोषण करने वाले 'शौद्र-धर्म' को रचा। देवों में यह पृथिवी पूषा है, संसार में यह जो-कुछ है, उसका यही पालन-पोषण करती है ॥१३॥

ब्रह्मांड में ब्रह्म तथा पिंड में ब्राह्मण-शक्ति, ब्रह्मांड में इन्द्र, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान तथा पिंड में क्षत्रिय-शक्ति, ब्रह्मांड में वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, मरुत् तथा पिंड में वैश्य-शक्ति, ब्रह्मांड में पृथिवी तथा पिंड मे शूद्र-शक्ति एक-दूसरे के प्रतिनिधि है, एक ही ब्रह्म-तत्त्व से बढ़ते-बढ़ते यह विकास हो गया, यह कहने के बाद ऋषि कहते है :—

जैसे, **श्रेयांसम्**—(अपने से) श्रेष्ठ (कल्याणकारी) को, **हिंसित्वा**—मारकर, तिरस्कृत कर ॥११॥

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश
आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥१२॥

सः—वह (ब्रह्म), **न एव**—नही ही, **व्यभवत्**—विभु (सतुष्ट) हुआ, **सः**—उसने, **विशम्**—वैश्य को, **असृजत**—रचा, **यानि एतानि**—जो ये, **देवजातानि**—देवता, **गणशः**—समूह रूप मे (बहु सख्या मे), **आख्यायन्ते**—कहे (वर्णन किये) जाते है, **वसवः**—(आठो) वसु, **रुद्रा**—(ग्यारह) रुद्र, **आदित्याः**—(वारह) सूर्य, **विश्वेदेवाः**—(तेरह) विश्वेदेव, **मरुतः**—(उनचास) मरुद्गण, **इति**—ऐसे ॥१२॥

स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं
वै पूषेयँ हीदँ सर्वं पुष्यति यदिदं किंच ॥१३॥

सः न एव व्यभवत्—वह (फिर भी) नही विभु (सन्तुष्ट-समर्थ) हुआ, **सः**—उस (ब्रह्म) ने, **शौद्रम्**—शूद्र-नामक, **वर्णम्**—वर्ण (जाति) को, **असृजत**—रचा, **पूषणम्**—सब का पोषण (धारण) करनेवाले 'पूषा' देव को; **इयम्**—यह (पृथिवी), **वै**—ही, **पूषा**—पूषा (पद से अभिप्रेत) है, **इयम् हि**—

काम फिर भी न चला। तव उसने श्रेयोरूप 'धर्म' को रचा। यह 'धर्म' क्षत्र का भी क्षत्र है, वल का भी वल है, क्योंकि धर्म से परे कुछ नहीं है। धर्म से ही निर्वल वलवान् पर ऐसे शासन करता है, जैसे राजा की सहायता से शासन कर रहा हो। 'धर्म' क्या है? 'सत्य' ही धर्म है, तभी 'सत्य' वोलने वाले के लिये कहा जाता है कि यह धर्म कहता है, और 'धर्म' वोलने वाले के लिये कहा जाता है कि यह सत्य कहता है—'सत्य' और 'धर्म' ये दोनो एक ही वस्तु है (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र से समाज का तभी काम चलता है, जब वे अपने-अपने धर्म का पालन करे, केवल इन नामो से समाज की गाडी नही चल सकती) ॥१४॥

क्योकि यह (पृथिवी) ही, इदम् सर्वम्—इस सब (कुछ) को, पुष्यति—पुष्ट करती (पालती) है, यद् इदम् किंच—जो भी यह कुछ है ॥१३॥

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्म-स्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अवलीयान् वलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥१४॥

सः न एव व्यभवत्—वह (ब्रह्म) फिर भी नही सन्तुष्ट हुआ; तद्—तो, उसने, श्रेयः रूपम्—कल्याण-कर रूप को, अत्यसृजत—सव से वढ कर वनाया, धर्मम्—(चारो वर्णों के धारयिता) धर्म को, तद् एतद्—वह यह, क्षत्रस्य—क्षत्रिय का, क्षत्रम्—क्षत्रियता, क्षात्र-कर्म है, यद् धर्मः—जो धर्म (समाज का धारण) है, तस्मात्—अतएव, धर्मात्—धर्म से, परम्—श्रेष्ठ, वढकर, न+अस्ति—(कुछ भी) नही है, अथ उ—तथाच (इस धर्म-सत्ता के कारण), अवलीयान्—दुर्वलतम, दीनातिदीन भी, वलीयांसम्—(अपने से) अत्यधिक वलशाली को; आशंसते—ललकारता है, जीतना चाहता है; धर्मेण—धर्म के द्वारा, यथा—जैसे; राज्ञा—राजा के द्वारा (वश में किया जाता है), एवम्—ऐसे ही; यः वै सः धर्मः—वह जो धर्म है, सत्यम्—सत्य (त्रिकाल मे सत्तावाला, सव का अस्तित्व रखनेवाला), वै—ही, तद्—वह (धर्म) है; तस्माद्—अतएव, सत्यम्—सत्य; वदन्तम्—वक्ता को, आहुः—कहते हैं, धर्मम् वदति—(यह) धर्म (की वात) कह रहा है, इति—ऐसे; धर्मम् वा—या धर्म को (के); वदन्तम्—वक्ता को, सत्यम् वदति—सच (ठीक) कह रहा है, इति—ऐसे; एतद्—यह (कहते हैं), हि एव—क्योकि; एतद्—इस (रूप मे), उभयम्—दोनो (सत्य और धर्म), भवति—(धर्म रूप) हो जाते हैं ॥१४॥

इस प्रकार समाज में 'ब्रह्म'-'क्षत्र'-'विट्'-'शूद्र'—ये चार प्रक्रियाएं अपने-अपने 'धर्म' को लेकर चल पड़ी, तब जाकर काम चला। 'ब्रह्म' ने देवों में 'अग्नि' का तथा मनुष्यों में 'ब्राह्मण' का रूप धारण किया—अर्थात् ब्रह्म-शक्ति का विकास जड़-जगत् में भौतिक-प्रकाश देने वाले अग्नि के रूप में, और चेतन-जगत् मे आत्मिक-प्रकाश, अर्थात् ज्ञान देने वाले ब्राह्मण के रूप मे हुआ। फिर वही ब्राह्म-शक्ति विकसित होती हुई अपने क्षत्रिय-धर्म के कारण क्षत्रिय, वैश्य-धर्म के कारण वैश्य और शूद्र-धर्म के कारण शूद्र कहलाई। ब्राह्म-शक्ति से ही तो सब धर्मों का विकास हुआ है न! इसीलिये देव-लोक मे 'अग्नि' और मनुष्य-लोक में 'ब्राह्मण'—इन दो की इच्छा की जाती है, क्योकि इन दो रूपों से ही तो 'ब्रह्म' ने 'अग्नि' अर्थात् जड़-जगत् तथा 'ब्राह्मण' अर्थात् चेतन-जगत् में अपना विस्तार किया। इन लोकों में रहता हुआ जो 'स्वलोक' को अपने यथार्थ-रूप को बिना देखे, बिना जाने इस संसार से चल बसता है, उसका ब्रह्म से परिचय नहीं हो पाता, वह अपना विकास नहीं कर पाता, और वह ब्रह्म का रसास्वाद नहीं ले सकता, ठीक ऐसे जैसे बिना पढ़ा वेद या बिना किया

तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाऽननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते। अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ॥१५॥

तद् एतद्—तो यह (ब्रह्म की रचना), ब्रह्म—ब्राह्मण, क्षत्रम्—क्षत्रिय, विट् (विश्)—वैश्य, शूद्रः—शूद्र (इन चार रूप मे हुई), तद्—तो, अग्निना—अग्नि (रूप) से, देवेषु—(ब्रह्माण्ड के) देवो मे, ब्रह्म (जगद्-रचयिता) ब्रह्म, अभवत्—हुआ, (वह ही ब्रह्म) ब्राह्मणः—ब्राह्मण, मनुष्येषु—मनुष्यो मे, क्षत्रियेण—क्षत्रिय (इन्द्र आदि) से, क्षत्रियः—(मनुष्यो मे) क्षत्रिय, वैश्येन—वैश्य (वसु आदि) से, वैश्यः—(मनुष्यो मे) वैश्य, शूद्रेण—शूद्र (पूषा-पृथिवी) से, शूद्रः—(मनुष्यो मे) शूद्र (वर्ण हुआ), तस्माद्—अत

कर्म कोई फल नहीं देता। जो 'स्व'-रूप को नहीं जान पाता, अगर वह कोई बड़ा काम भी करे, तो वह कर्म भी अन्त में क्षीण ही हो जाता है, इसलिये 'आत्म-लोक' की ही उपासना करे---मैं क्या हूं, स्वल्प नहीं हूं, महान् हूं, ब्रह्म हूं---यह अनुभव करे। जो 'आत्म-लोक' की उपासना करता है, अपने 'ब्रह्म', अर्थात् महान् रूप को समझ लेता है, उसका कर्म क्षीण नही होता, क्योंकि वह इस 'आत्मा' से ही महान् होने की भावना द्वारा, जो-जो चाहता है, उसे रच लेता है ॥१५॥

एव, अग्नौ एव---अग्नि मे ही, देवेषु लोकम्---देवताओ मे स्थिति (वास) को, इच्छन्ते---चाहते है, ब्राह्मणे---ब्राह्मण के आधार से, मनुष्येषु---मनुष्यो मे (लोक चाहते है), एताभ्याम्---इन दोनो (अग्नि और ब्राह्मण), हि---ही, रूपाभ्याम्---रूपो से, ब्रह्म---ब्रह्म (बडा, महान्), अभवत्---(व्यक्त) हुआ, अथ---और, यः ह वै---जो ही, अस्मात् लोकात्---इस लोक से, स्वम् लोकम्---अपने लोक (स्थिति-रूप) को, अदृष्ट्वा---न देखकर (जानकर), प्रैति---चला जाता, मर जाता है, सः---वह; एनम्---इस (प्राप्त लोक) को, अविदितः---न जाननेवाला, न---नही, भुनक्ति---भोग सकता है, यथा---जैसे (उदाहरणार्थ), वेदः वा---वेद (शास्त्र), अननूक्तः---न पढा हुआ (फल-प्रद नही होता), अन्यद् वा---या दूसरा कोई, कर्म---(कृषि-आदि) कर्म, अकृतम्---न किया हुआ, यद्---जो, इह---इस लोक मे, वै---ही है (वह फल-प्रद नही होता), अपि---और भी, अनेवंविद्---इस अपने रूप (लोक) को न जानने-वाला, महत् पुण्यम् कर्म करोति---बडा पुण्य (शुभ) कर्म करता है, तद् ह---वह भी, अस्य---इस (अज्ञ-मूर्ख) का, अन्ततः---परिणाम मे, क्षीयते+एव---क्षीण ही हो जाता (भोग-फल समाप्त होने पर फल देना बन्द कर देता) है, (अत) आत्मानम् एव लोकम्---आत्म-लोक (आत्म-रूप) की ही, उपासीत---उपासना (जानने का प्रयत्न) करे, स॰ य.---वह जो, आत्मानम् एव लोकम्---आत्म-लोक (आत्म-रूप) को, उपास्ते---(प्रयत्न कर) जान लेता है, न ह---नही तो, अस्य---इस (आत्म-ज्ञानी) का, कर्म---कर्म, क्षीयते---क्षीण होता है (अनवरत फल-प्रद होता है), अस्माद् हि एव---इस ही, आत्मन.---आत्मा से, आत्मज्ञान से, यद्-यद्---जो-जो, कामयते---कामना करना-चाहता है, तद्-तद्---उस-उस (कामना) को, सृजते---रच लेता है ॥१५॥

'स्व'-लोक, जिसे 'आत्म'-लोक भी कहा, उसमें स्वल्पता को कैसे छोड़े, महानता को कैसे लाये ? इसका उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं—यह 'आत्मा' ही सब भूतों का लोक है, निवास-स्थान है । होम करना, यज्ञ करना, आत्मा का 'देव-लोक' है, पठन-पाठन इसका 'ऋषि-लोक' है, माता-पिता की सेवा करना, सन्तान चाहना इसका 'पितृ-लोक' है, सब मनुष्यों के निवास का, भोजन का प्रबन्ध करना इसका 'मनुष्य-लोक' है, पशुओं को तृणोदक देना 'पशु-लोक' है, घर में चौपाये, पक्षी, पिपीलिकादि को भोजन देना आत्मा का वह-वह लोक है । ये सब लोक आत्मा के अपने लोक हैं, इन लोकों के साथ अपनी एकात्मता स्थापित करे । जैसे आत्मा इनकी—देव,

---

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्य-
जते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो
निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितॄणामथ यन्मनुष्यान्वासयते
यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति
तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाँ स्यापिपीलिकाभ्य उप-
जीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवँ
हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमाँसितम् ॥१६॥

अथ उ—और, **अयम् वै आत्मा**—यह ही आत्मा (जीवात्मा), **सर्वेषाम्**—सब, **भूतानाम्**—प्राणियों का, **लोकः**—निवास-स्थान (आधार) है, **सः**—वह, **यत्**—जो, **जुहोति**—हवन (त्याग, दान) करता है, **यद्**—जो, **यजते**—यज्ञ (परार्थ-कार्य) करता है, **तेन**—उससे, **देवानाम्**—देवों (विद्वानों) का, **लोकः**—आश्रय-स्थान है, **अथ**—और, **यद्**—जो, **अनुब्रूते**—अनुवचन (पठन-पाठन) करता है, **तेन**—उससे, **ऋषीणाम्**—ऋषियों का, **अथ**—और, **यत्**—जो, **पितृभ्य.**—पितरों (माता-पिता आदि बढ़े-बूढ़ों) का, **निपृणाति**—तर्पण (तृप्ति—अन्न-पान देना) करता है, (और) **यद्**—जो, **प्रजाम्**—सन्तति (पुत्र-पौत्र) को, **इच्छते**—चाहता है, **तेन**—उससे, **पितॄणाम्**—पितरों का, **अथ**—और, **यत्**—जो, **मनुष्यान्**—मनुष्यों (अतिथि, पड़ौसी, सन्तान आदि) को, **वासयते**—निवास देता है, **यद्**—(और) जो, **एभ्यः**—इनको, **अशनम्**—भोजन, **ददाति**—देता है, **तेन**—उससे, **मनुष्याणाम्**—मनुष्यों का, **अथ यत्**—और जो, **पशुभ्यः**—पशुओं को, **तृणोदकम्** (**तृण+उदकम्**)—चारा-पानी, **विन्दति**—प्राप्त कराता (देता) है, **तेन**—उससे, **पशूनाम्**—पशुओं का, **यद्**—जो, **अस्य**—इस (जीवात्मा) के, **गृहेषु**—घरों में,

ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु की शुभ-कामना करेगा, वैसे सब प्राणी ऐसे व्यक्ति की शुभ-कामना करेंगे, इस प्रकार यह 'ब्रह्म' अर्थात् महान् होने के मार्ग पर चल पड़ेगा, इस बात को खूब जान लिया गया है, इस पर खूब मीमांसा हो चुकी है ॥१६॥

ऊपर जो-कुछ कहा उसका उपसंहार करते हुए ऋषि कहते हैं कि जैसे शुरू में ब्रह्म इकला था, वैसे शुरू में आत्मा भी इकला ही था। उसने चाहा, मुझे 'जाया' प्राप्त हो ताकि मैं प्रजोत्पत्ति करूं; साथ ही यह भी चाहा कि मुझे 'वित्त' प्राप्त हो ताकि मैं कर्म करूं। संसार में ये दो ही तो कामनाएं हैं—कोई चाहे, न चाहे, इन दो, पुत्रैषणा तथा वित्तैषणा से ज्यादा कोई कुछ नहीं चाहता। इसलिये आज तक इकला व्यक्ति यही चाहता है, मुझे 'जाया' प्राप्त हो ताकि

श्वापदा—कुत्ते आदि जीव, **वयांसि**—कौए आदि पक्षी, **आपिपीलिकाभ्य**—चींटी तक, **उपजीवन्ति**—इसके सहारे पर जीते हैं, **तेन**—उससे, **तेषाम्**—उन (सब) का, **लोक**—निवास—आश्रय का स्थान है, **यथा ह वै**—जैसे ही, **स्वाय**—अपने, **लोकाय**—आधार (आश्रय) के लिये (या ऊपर कहे देवलोक से पिपीलिका के लोक तक के लिए), **अरिष्टिम्**—अहिंसा, कल्याण, **इच्छेत्**—चाहे, **एवम् ह**—ऐसे ही, **एवंविदे**—इस प्रकार इस ज्ञानी के लिए, **सर्वाणि भूतानि**—सारे प्राणी, **अरिष्टिम्**—कल्याण को, भलाई को, **इच्छन्ति**—चाहते हैं, **तद् वै एतद्**—वह यह (वर्णन), **विदितम्**—ज्ञात ही है, **मीमांसितम्**—(पहले) पूर्ण विचार किया जा चुका है ॥१६॥

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान् वै कामो नेच्छँश्चनातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्याऽऽत्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवँ श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति स एष पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पाङ्क्तः पुरुषः पाङ्क्तमिदँ सर्वं यदिदं किंच तदिदँ सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥१७॥

आत्मा एव—जीवात्मा ही, **इदम् अग्रे**—इस सृष्टि-रचना के प्रारम्भ में, **आसीत्**—था, **एक: एव**—इकला ही, **सः अकामयत**—उसने कामना की, **जाया**—पत्नी, **मे**—मेरी, **स्यात्**—होवे, **अथ**—और, तब, **प्रजायेय**—प्रजा (सन्तान) वाला बनूं, **अथ**—और, **वित्तम्**—धन (कर्म-साधन), **मे**—मुझे,

मैं प्रजोत्पत्ति करूं, मुझे 'वित्त' प्राप्त हो ताकि मैं कर्म करूं। जब तक मनुष्य इनमें से एक-एक को नहीं पा लेता, तब तक अपने को अपूर्ण ही समझता है, वास्तव में 'जाया' तथा 'वित्त' से पूर्णता नहीं प्राप्त होती, पूर्णता तब प्राप्त होती है, जब 'मन' को आत्मा समझे, 'वाणी' को जाया समझे, 'प्राण' को प्रजा समझे, 'चक्षु' को 'मानुष-वित्त' समझे क्योंकि आंखों से देख-देखकर ही तो लोभ में फंसकर यह धन बटोरने में लग जाता है, 'श्रोत्र' को 'दैव-वित्त' समझे क्योंकि सुन-सुनकर ही देव-भाव प्राप्त होता है, और 'कर्म' को शरीर समझे क्योंकि शरीर से ही कर्म किया जाता है। इस प्रकार पूर्णता 'जाया' और 'वित्त' से नहीं, 'यज्ञ' से है। 'मन'-'प्राण'-'चक्षु'-'श्रोत्र'-'कर्म'—— इन पांच से मिलकर यज्ञ रचा गया है, पशु में ये पांचों है, पुरुष में

स्यात्—(प्राप्त) हो, **अथ**—तब, **कर्म**—कर्म, **कुर्वीय**—करू, **इति**—ऐसे, **एतावान्**—इतना ही, **कामः**—चाहना है, **न**—नही, **इच्छन् च**—और चाहता हुआ, **न**—नही, अथवा (**न इच्छंश्चन**—नही चाहता हुआ भी), **अतः**—इन (दो जाया और धन—पुत्रैषणा और वित्तैषणा) से, **भूयः**—और अधिक, **विन्देत्**—पा सकता है, **तस्माद्**—अतएव, **अपि एर्तांह**—अब भी, इस काल मे भी, **एकाकी**—इकला (मनुष्य), **कामयते**—चाहता है (कि), **जाया मे स्याद् अथ प्रजायेय**—मुझे पत्नी मिले और पुत्रवान् होऊ, **अथ**—और, **वित्तम् मे स्याद्**—मेरे पास धन हो, **अथ कर्म कुर्वीय**—और कर्म करू, **इति**—ऐसे (ही चाहता है), **सः**—वह (देही आत्मा), **यावद् अपि**—जबतक भी, **एतेषाम्**—इनमे से, **एकैकम**—एक-एक को, प्रत्येक को, **न प्राप्नोति**—नही पाता है, **अकृत्स्नः**—अपूर्ण, अधूरा, **एव**—ही, **तावत्**—तबतक, **मन्यते**—(अपने-आपको) मानता-समझता है, **तस्य उ**—उस (आत्मा) की तो, **कृत्स्नता**—(वस्तुत) पूर्णता (तो यह है), **मनः**—मन (चिन्तन करना), **एव**—ही, **अस्य**—इसका, **आत्मा**—आत्मा है, **वाग्**—वाणी, **जाया**—पत्नी है, **प्राणः**—प्राण (श्वास-प्रश्वास या घ्राण), **प्रजा**—सन्तान है, **चक्षुः**—आख, **मानुषम्**—मानवीय, **वित्तम्**—धन (कर्म-साधन) है, (क्योकि) **चक्षुषा**—नेत्र से, **हि**—क्योकि, **तद्**—उस (धन) को, **विन्दते**—प्राप्त करता है, **श्रोत्रम्**—कान, **दैवम्**—देव (विद्वान्) का विद्या-धन है, **श्रोत्रेण**—कान से, **हि**—क्योकि, **तद्**—उस (दैव-विद्या-धन) को, **शृणोति**—सुनता (सुन कर जानता) है, **आत्मा**—शरीर (देह), **एव**—ही, **अस्य**—इस (देही) का, **कर्म**—क्रिया-साधन है, **आत्मना हि**—क्योकि शरीर

ये पांचो है—पशु तथा पुरुष मानो यज्ञ-रूप है, यह सब संसार भी पांच का—पांच तत्त्वो का—मिलकर बना है, यह भी एक यज्ञ है। जो इस रहस्य को जानता है वह सब पा लेता है ॥१७॥

प्रथम अध्याय—(पांचवां ब्राह्मण)

(सात अन्नो मे प्राण की सर्वोत्कृष्टता)

सृष्टि के पिता ने 'मेधा' से और 'तप' से सात अन्न उत्पन्न किये। इनमें से एक साधारण अन्न है, दो अन्न देवो को बांट दिये गये। तीन अन्न अपने लिये रचे, एक पशुओ को दे दिया गया। पशुओ को दिये गये अन्न में उस सारे जगत् की स्थिति है, जो सांस लेता है, और जो सांस नहीं लेता। इन अन्नो को हर समय खाया जा रहा हैं तब भी समाप्त नहीं होते, इसका क्या कारण है? जगत्पिता के रचे हुए अन्न की अक्षीणता को जो जान जाता है वह प्रतीक-मात्र अन्न खाता है, अन्न के इतने अक्षय भंडार के होते हुए वह जितना

मे ही, कर्म—चेष्टा-प्रयत्न, करोति—करता है, स. एषः—वह यह (पिण्डगत—देही आत्मा), पाङ्क्त.—पाच से निर्मित, यज्ञः—यज्ञ (समान) है, पाङ्क्त.—पाच से निर्मित, पशु.—पशु है, पाङ्क्त.—पच-निर्मित, पुरुष.—देही आत्मा है, पाङ्क्तम्—पच (भूत) निर्मित, इदम् सर्वम्—यह मत्र कुछ है, यद् इदम् किंच—जो यह कुछ (दृश्यमान) है, इदम् सर्वम्—इस सब को, आप्नोति—प्राप्त कर लेता है, य. एवम् वेद—जो इस प्रकार (इस रहस्य को) जानता है ॥१७॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता। एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत्। त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा। यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन। स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥१॥

यत्—जो, सप्त—सात (प्रकार के), अन्नानि—अन्नो को, मेधया—धारणावती बुद्धि से; तपसा—तप (श्रम, ईक्षण) से, अजनयत्—पैदा किया, पिता—(प्रजापति) पिता ने, एकम्—(इन सात मे से) एक, अस्य—इस (अन्न) का, साधारणम्—साधारण (सर्व-सुलभ) अन्न है, द्वे—दो (प्रकार के), देवान्—देवो को, अभाजयत्—बांट दिया, दे दिया, त्रीणि—तीन (अन्नो) को, आत्मने—अपने लिये, अकुरुत—किया (रखा), पशुभ्यः—पशुओं के लिए, एकम्—एक, प्रायच्छत्—दिया, तस्मिन्—उस (अन्न) मे, सर्वम्—सब, प्रतिष्ठितम्—प्रतिष्ठा (आधार) वाला है, यत् च—जो, प्राणिति—सांस लेता है, जीवित

भी खा पाता है नाम-मात्र होता है, अतः अन्न समाप्त कैसे हो जाय? वह देवों को प्राप्त होता है, वह ऊर्ज् को, बल को प्राप्त होता है। प्राचीन-काल से चली आ रही ये श्लोक-बद्ध कुछ पहेलियां हैं। इन संक्षिप्त वाक्यों को ऋषि आगे खोलते हैं—॥१॥

जो यह कहा कि सृष्टि के पिता ने 'मेधा' और 'तप' से सात अन्न उत्पन्न किये, वह ठीक ही कहा है कि सब अन्नों को जगत्पिता

है, यत् च—और जो, न—नही (श्वास लेता है), कस्मात्—किस कारण से, क्योकर, तानि—वे (सातो अन्न), न—नही, क्षीयन्ते—कम होते (पडते) हैं, अद्यमानानि—खाये जाते (भोगे जाते) हुए, सर्वदा—सब काल मे, सदा, यः वा—जो तो, एताम्—इस, (यः वै ताम्—जो ही उस), अक्षितिम्—न कम होने को, अनश्वरता को, वेद—जानता है, सः—वह, अन्नम्—अन्न (भोग्य) को, अत्ति—खाता है, प्रतीकेन—प्रतीक मात्र, मुख से, सः—वह (अक्षिति का ज्ञाता), देवान्—देवो को, अपि—भी, गच्छति—प्राप्त करता है, सः—वह, ऊर्जम्—(अन्न-जन्य) बल को, उपजीवति—भोगता है, पाता है, इति—ये, श्लोकाः—प्राचीन श्लोक (सुभाषित) है॥१॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति मेधया हि तपसाऽजनयत् पितैकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते। स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रँ ह्येतत्। द्वे देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति। तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात्। पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति तत्पयः। पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात् कुमारं जातं घृतं वैवाग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वाऽनुधापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति। तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि हीदँ सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान्सर्वँ हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते। यो वैतामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते। कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशँसा॥२॥

ने 'मेधा' और 'तप' से ही उत्पन्न किया है। (मेधा का अर्थ है—'बुद्धि' तथा तप का अर्थ है—'परिश्रम'। बुद्धिपूर्वक परिश्रम करने से ही अन्न पैदा होता है।) यह जो कहा कि इनमें से एक साधारण अन्न है, उसका अभिप्राय यह है कि जिस अन्न को हम सब खाते है वह 'साधारण अन्न' है, यह अन्न सब का सांझा है, उसे जो अपने ही लिये रख लेता है वह पाप से नहीं छूटता, उसे तो सब के साथ बांटकर खाना ही ठीक है।

यह जो कहा कि दो अन्न देवो को वांट दिये, उसका अभिप्राय यह है कि ये दो अन्न 'हुत' और प्रहुत' है। शुभ-कर्म करते हुए स्वयं कुछ न खाकर, अग्निहोत्र करके, अग्नि में आहुति दी जाती है, यही 'हुत' है, दान दिया जाता है, यही 'प्रहुत' है। आहुति को अग्नि खा जाती है, दान को ब्राह्मण खा जाता है—इसलिये ये देवों के दो अन्न है। कई लोगों का कहना है कि 'दर्श' अर्थात् अमावास्या और 'पूर्ण-मास' अर्थात् पूर्णिमा—ये दो यज्ञ देवो के दो अन्न है। इन यज्ञों को हर अमावास्या और पूर्णमासी में करे, 'इष्टि-याजुक' न हो, अर्थात्

यत् सप्त अन्नानि मेधया तपसा अजनयत् पिता—मेधा और तप (श्रम) से पिता ने जो सात अन्नो को उत्पन्न किया, **इति**—यह (श्लोक के खण्ड का अर्थ यह) है, **मेधया हि तपसा**—मेधा और तप से ही, **अजनयत्**—उत्पन्न किया, **पिता**—पिता (प्रजापति) ने, **एकम् अस्य साधारणम्**—एक इसका साधारण (सर्व-सुलभ) है; **इति**—यह, **इदम् एव**—यह ही, **अस्य**—इस (सप्तविध अन्न) का, **तत्**—वह, **साधारणम्**—सर्व-सुलभ, **अन्नम्**—अन्न है, **यद्**—जो, **इदम्**—यह, **अद्यते**—(साधारणतया) खाया जाता है (जिसे सब खाते है), **सः य.**—वह जो, **एतद्**—इस (अन्न को), **उपास्ते**—(इकला ही) भोगता है या अन्न-भोग मे ही रम जाता है, **न सः**—नही वह (केवलादी), **पाप्मन**—पाप से, **व्यावर्तते**—लौट सकता है, वच पाता है, **मिश्रम् हि एतत्**—क्योकि यह (अन्न) मिश्र (सर्वसाधारण का, साझे का है, एक का नही) है, **द्वे**—दो (अन्न), **देवान् अभाजयत्**—देवो को दिये, **इति**—(इसका तात्पर्य) यह है, **हुतम् च**—दैनिक हवन करना, **प्रहुतम् च**—विशिष्ट हवन करना (ये वे दो अन्न है), **तस्मात्**—अतएव, **देवेभ्यः**—देवो के लिये, **जुह्वति**—हवन (देव-यज्ञ) करते है, **प्र च जुह्वति**—विशेष यज्ञ करते है, **अथ उ आहुः**—और (कई) कहते है कि (दो अन्न), **दर्शपूर्णमासौ**—दर्श (अमावास्या के दिन यज्ञ) और पूर्णमास

मतलब से, स्वार्थ-साधना से ही यज्ञ न करता रहे, अर्थात् अपने अन्दर देव-भाव लाकर 'हुत'-'प्रहुत' अथवा 'दर्श'-'पूर्णमास' की निस्स्वार्थ-भावना जाग्रत् करे।

जो यह कहा कि एक अन्न पशुओं को दे दिया गया, इसका अभिप्राय 'पय' से, जल तथा दूध से है। मनुष्य तथा पशु प्रारंभ में दूध और पानी पर ही जीते हैं। मनुष्य के बालक को पैदा होने पर घृत चटाते हैं, स्तन से दूध पिलाते हैं; पशुओं की सन्तान को भी शुरू में 'अतृणाद' अर्थात् तिनका न खाने वाला कहते हैं। यह जो कहा कि पशु के अन्न पर ही सब की स्थिति है, जो सांस लेता है, और जो नही लेता, इसका अभिप्राय यही है कि 'पय' अर्थात् दूध तथा जल पर ही सांस लेने या न लेने वाले सभी की स्थिति है। कई लोग कहते हैं कि एक वर्ष तक 'पयोयज्ञ' करने वाला, दुग्धाहार-रूपी यज्ञ करने वाला, मृत्यु को जीत लेता है—यह ठीक नहीं है। अस्ल में तो जिस-जिस दिन भी पयोयज्ञ करता है, स्वयं दूध पीता और दूसरों को दूध

(पूर्णिमा के दिन यज्ञ) है, **इति**—ऐसे (कहते है), **तस्मात्**—उस कारण से, **न**—नही, **इष्टि-याजुकः**—इष्टि (सकाम यज्ञ) का करनेवाला, **स्यात्**—हो (यज्ञ-भाग देवो का है अत उनके निमित्त से ही करे उसमे अपना स्वार्थ न रखे), **पशुभ्यः एकम् प्रायच्छत्**—पशुओ को एक दिया, **इति**—इसका तात्पर्य यह है कि, **तत्**—वह (पशु-अन्न), **पयः**—दूध है, **पयः हि एव**—क्योकि दूध ही, **अग्रे**—(जीवन मे सबसे) पहले, **मनुष्याः च**—मनुष्य, **पशवः च**——और पशु, **उपजीवन्ति**—जीवन के लिए ग्रहण करते है, (दूध पर) ही जीते है, **तस्मात्**—अतएव, **कुमारम्**—बच्चे को, **जातम्**—पैदा हुए (पैदा होते ही), **घृतम् वा**—या तो घी, **एव**—ही, **अग्रे**—सर्व-प्रथम, **प्रतिलेहयन्ति**—चटाते हैं, **स्तनम् वा**—या (माता का) स्तन, **अनुधापयन्ति**—पीछे पिलाते है, **अथ**—और, **वत्सम्**—बछडे को, **जातम्**—उत्पन्न हुए, **आहुः**—कहते है, **अतृणादः**—(यह) तिनका नही खाता है, **इति**—ऐसे, **तस्मिन् सर्वम् प्रतिष्ठितम् यत् च प्राणिति यत् च न**—उस (दूध) पर सब आश्रित है जो सास लेता है, या नही लेता, **इति**—यह (जो श्लोक का भाग है, उसका तात्पर्य यह है कि), **पयसि**—दूध पर, **हि**—ही, **इदम् सर्वम् प्रतिष्ठितम्**—यह सब आश्रित है, **यत् च प्राणिति यत् च न**—जो सास लेता या नही लेता है, **तद् यद् इदम् आहुः**—तो जो यह कहते हैं, **सवत्सरम्**—एक वर्ष भर, **पयसा**—दूध से, **जुह्वत्**—हवन करता

खिलाता है, उस-उस दिन वार-वार मृत्यु को जीतता है। इस रहस्य को जानने वाला देवों को सब अन्नाद्य बांटता है—अन्न, घी, दूध, दही आदि के दरिया बहा देता है।

यह जो कहा कि इन अन्नों को हर समय खाया जा रहा है, परन्तु ये समाप्त नहीं होते, इसका रहस्य यह है कि पुरुष ही तो इस 'अक्षिति' का, अक्षीणता का कारण है, वह पुनः-पुनः इस अन्न को अपनी 'धी' से तथा 'कर्म' से उत्पन्न करता रहता है, भोक्ता भोग्य को जनता रहता है, ऐसा न करे तो अन्न क्षीण न हो जाय! यह जो कहा कि वह 'प्रतीक' से अन्न खाता है, यहां प्रतीक का अर्थ है मुख। इतने विशाल अन्न के भंडार को सामने देखकर मुख जैसे छोटे-से छिद्र से जो अन्न खायेगा वह प्रतीक-मात्र अर्थात् नाम-मात्र ही तो होगा। इस स्थल में जिन भावनाओं का उल्लेख है, उन्हें हृदय में धारण कर जो खाता-पीता, विचरता है, वह देवों में जा मिलता है, वह ऊर्ज् प्राप्त करता है—ये प्रशंसात्मक वाक्य हैं। यहां तक अन्न, हुत, प्रहुत, पय—इन चार का वर्णन हुआ ॥२॥

हुआ, दान करता हुआ, **पुनः**—फिर, बाद में, **मृत्युम्**—मौत को, **अपजयति**—दूर भगा देता है, हरा देता है, **इति**—ऐसे (कहते हैं), **न**—नहीं, **तथा**—वैसे (ठीक), **विद्यात्**—जाने, **यद् अहः एव**—जिस दिन ही, **जुहोति**—हवन करता है, **तद् अहः**—उस ही दिन, **पुनः**—फिर, **मृत्युम्**—मौत को, **अपजयति**—जीत लेता (दूर हटा देता) है, **एवम्**—ऐसे, **विद्वान्**—जानता हुआ, **सर्वम् हि**—सारा ही, **देवेभ्यः**—देवों के लिये, **अन्नाद्यम्**—खाद्यान्न, **प्रयच्छति**—देता है, **कस्मात् तानि न क्षीयन्ते अद्यमानानि सर्वदा**—क्यों वे नहीं कम पड़ते हैं सर्वदा खाये जाते हुए (भी), **इति**—यह (वाक्य जो कहा उसका तात्पर्य है कि); **पुरुषः**—जगद्-रचयिता प्रभु ब्रह्म, **वै**—ही, **अक्षितिः**—न क्षीण होने वाला है (प्रभु का नाम 'अक्षिति' है); **सः हि**—वह ही, **इदम् अन्नम्**—इस अन्न को, **पुनः पुनः**—बार-बार, **जनयते**—पैदा करता रहता है, **यः वा**—जो तो, **एताम्**—इस, **अक्षितिम्**—न क्षय होनेवाले, अक्षर, अविनाशी को, **वेद**—जानता है, **इति**—इस रूप में कि, **पुरुषः वै अक्षितिः**—कि पुरुष (ब्रह्म का नाम) ही 'अक्षिति' (अविनाशी) है, **सः हि**—वह ही, **इदम् अन्नम्**—इस अन्न को, **धिया धिया**—बुद्धि और कर्म (पुरुषार्थ) से, **जनयते**—उत्पन्न करता है, **कर्मभिः**—कर्मों (प्रयत्नों) द्वारा, **यद् ह**—यदि, **एतत्**—यह (काम), **न कुर्यात्**—न करे

यह जो कहा कि तीन अन्न अपने लिये रचे—वे हैं, मन, वाणी तथा प्राण। अन्न, हुत, प्रहुत तथा पय—ये चार अपने से बाहर के अन्न हैं; मन, वाणी, प्राण—ये अपने भीतर के अन्न हैं। जब हम कहते हैं, मेरा मन दूसरी जगह था इसलिये मैंने नहीं देखा, मन दूसरी जगह था इसलिये नहीं सुना, तब हम दूसरे शब्दों में यही कह रहे होते हैं कि मन ही देखता है, सुनता है। काम, संकल्प, संदेह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय—ये सब मन ही के स्वरूप हैं, अगर कोई पीठ-पीछे से हमें छुए तो मन से ही हम पहचान जाते हैं। यह सब मन का दिया हुआ अन्न ही तो है, मन हमें कितना भोजन दे रहा है! मन में जो अमूर्त होता है, उसे वाणी शब्दों द्वारा मूर्त बना देती है—वाणी ही शब्दों की रचना करती है। कैसी छोटी-सी वाणी है, मानो कुछ है ही नहीं, परन्तु संसार के अन्त तक का

(तो), **क्षीयेत**—(अन्न) क्षीण (कम) हो जाये, ह—अवश्य ही, **सः अन्नम् अत्ति प्रतीकेन**—वह (ज्ञानी) अन्न को प्रतीकमात्र या मुख से खाता है, **इति**—यह (वाक्य, उसकी व्याख्या यह है कि), **मुखम्**—मुख, **प्रतीकम्**—प्रतीक (कहलाता) है, **मुखेन इति एतत्**—मुख से (वह खाता है) यह ही इसका अर्थ है, **सः**—प्रतीक-भोक्ता, **देवान्**—देवों को, **अपिगच्छति**—प्राप्त कर लेता है, **सः**—वह, **ऊर्जम्**—बल-शक्ति को, **उपजीवति**—उपभोग (प्राप्त) करता है, **इति**—यह, **प्रशंसा**—इस (अन्न और अन्न-भोक्ता) की प्रशसा है ॥२॥

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सैषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥३॥

त्रीणि—तीन (अन्न), **आत्मने**—अपने लिए, आत्मा (शरीर) के लिए, **अकुरुत**—किये, **इति**—यह (जो कहा है), **मनः**—मन को, **वाचम्**—वाणी को, **प्राणम्**—(श्वास-प्रश्वास) को, **तानि**—उन (तीन अन्नों को), **आत्मने**—अपने लिए, **अकुरुत**—किया, **अन्यत्रमनाः**—अन्यत्र मनवाला, **अभूवम्**—मैं था, **न अदर्शम्**—न देखा, **अन्यत्रमना अभूवम्**—मेरा मन अन्यत्र था

पता देती है। कितना अन्न, अर्थात् भोजन दे रही है वाणी! अब रहा प्राण। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान—ये-सब प्राण ही के रूप हैं। ये सब भोजन प्राण से मिल रहा है। इसलिये यह शरीर एतन्मय है—वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय ॥३॥

वाक्, मन, प्राण की महिमा महान् है। पिंड के ये तीनों त्रिलोकी में विराजमान हैं। यह पृथिवी-लोक वाणी का लोक है, अन्तरिक्ष-लोक मन का लोक है, द्यु-लोक प्राण का लोक है। जैसे वाणी सब अर्थों को प्रकट करती है, वैसे पृथिवी सब पदार्थों को पैदा कर देती है, जैसे मन वाणी को थामे हुए है, वैसे अन्तरिक्ष पृथिवी को थामे

(अत), न अश्रौषम्—नहीं सुन पाया, इति—ऐसे, मनसा हि—क्योंकि मन से, एव—ही, पश्यति—देखता है, मनसा—मन से, शृणोति—सुनता है, कामः—इच्छा, रति-कर्म, संकल्पः—संकल्प, विचिकित्सा—संशय होना, श्रद्धा—श्रद्धा, अश्रद्धा—श्रद्धा का अभाव, धृतिः—धैर्य, अधृतिः—धैर्य न होना, अस्थिरता, ह्रीः—लज्जा, धीः—बुद्धि, ज्ञान, भीः—भय, इति एतत् सर्वम्—ये सब ही, मनः—मन (के गुण-रूप), एव—ही है, तस्माद्—अतएव, अपि—भी, चाहे, पृष्ठतः—पीछे से, पीठ पर, उपस्पृष्टः—छुआ हुआ (छूने पर), मनसा—मन से, विजानाति—जान लेता है, यः—जो, कः च—कोई भी (किसी प्रकार का—व्यक्त या अव्यक्त), शब्दः—शब्द है, वाग् एव—वाणी (का रूप), सा—वह है, एषा हि—यह (वाणी) ही, अन्तम्—अन्त (अभिधेय-प्रकाशन) को, आयत्ता—अनुगत (तत्पर) है, (अन्तम् आयत्ता—सब वाच्य की प्रकाशिका-द्योतिका है), एषा हि न—यह नहीं (किसी द्वारा प्रकट होने वाली नहीं, यह किसी से आयत्त-अनुगत नहीं), प्राणः अपानः व्यानः उदानः समानः—प्राण के ये पाँचों भेद, अनः—जीवन-प्रद हैं, इति एतत् सर्वम्—यह सब ही (पंचविध प्राण), प्राणः एव—प्राण (-संज्ञक) ही है, एतन्मयः—इन (तीनों—मन-वाणी-प्राण) से निर्मित, वै—ही, अयम् आत्मा—यह आत्मा (शरीर) है, वाङ्मयः—वाङ्मय, मनोमयः—मनोमय, प्राणमयः—प्राणमय (है) ॥३॥

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥४॥

त्रयः—तीन, लोकाः—लोक, एते—ये (मन, वाक्, प्राण), एव—ही हैं, वाग् एव—वाणी ही; अयम् लोकः—यह (पृथिवी) लोक है, मनः अन्तरिक्ष-लोकः—मन अन्तरिक्ष-लोक है, प्राणः—प्राण, असौ—वह (द्यु); लोकः—लोक है ॥४॥

हुए हैं, जैसे प्राण मन-वाणी को जीवित रखता है, वैसे द्यु अन्तरिक्ष तथा पृथिवी को प्रकाशित कर रहा है ।।४।।

तीनों वेद भी मानो वाक्, मन, प्राण ही हैं । ऋग्वेद मानो वाक् है, यजुर्वेद मन है, सामवेद प्राण है । ऋग्वेद ज्ञान-कांड का प्रतिनिधि है, वाणी ज्ञान का ही रूप है; यजुर्वेद कर्म-कांड का प्रतिनिधि है, मन द्वारा ही कर्म चल रहा है; सामवेद स्तुति-कांड का प्रतिनिधि है, प्राण द्वारा ही साम-गान होता है ।।५।।

वाक्, मन, प्राण ही मानो देव, पितर, मनुष्य---ये तीनो हैं; वाणी ही देव है, मन ही पितर है, प्राण ही मनुष्य है । 'वाणी' शरीर का मानो प्रकाश है, 'देव-गण' भी मनुष्य-समाज में बिना बोले भी अपने गुणो से मानो बोल उठते हैं, गुणो का प्रकाश फैला देते हैं; 'मन' में शरीर की सब इन्द्रियां रक्षा पाती हैं, मन ठीक रहे तो शरीर की सब इन्द्रियां ठीक, मन बिगड़ा तो सब बिगड़ जाती है, 'पितर' भी मनुष्य-समाज के मन की तरह रक्षक हैं; 'प्राण' शरीर का सब काम चलाता है, 'मनुष्य' अर्थात् साधारण लोग भी मानव-समाज का सब काम-काज शरीर में प्राण की तरह चलाते हैं ।।६।।

ये मानो पिता, माता तथा प्रजा हैं । 'मन' ही पिता, 'वाणी' माता तथा 'प्राण' प्रजा है, सन्तान के समान है ।।७।।

त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ।।५।।

त्रयः वेदाः एते एव—तीनो वेद भी ये (वाक् आदि) ही हैं, **वाग् एव ऋग्वेदः**—वाणी ही ऋग्वेद है, **मनः यजुर्वेदः**—मन यजुर्वेद है, **प्राणः सामवेदः**—प्राण सामवेद है ।।५।।

देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ।।६।।

देवाः—विद्वान्, देव-गण, **पितरः**—पितर (माता-पिता आदि वृद्ध-जन), **मनुष्याः**—अन्य मनुष्य, **एते एव**—ये ही हैं, **वाग् एव देवाः**—वाणी ही देव-गण हैं, **मनः पितरः**—मन पितृ-गण है, **प्राणः मनुष्याः**—प्राण मनुष्य-मात्र हैं ।।६।।

पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा ।। ७।।

पिता माता प्रजा—पिता, माता और सन्तति (पुत्र) भी, **एते एव**—ये ही है, **मनः एव पिता**—मन ही पिता है, **वाङ् माता**—वाणी माता है, **प्राणः प्रजा**—प्राण सन्तान हैं ।।७।।

ये ही 'विज्ञात' (Known), 'विजिज्ञास्य' (Knowable) तथा 'अविज्ञात' (Unknown) हैं। जो 'विज्ञात' है, जाना जा चुका है, वह 'वाणी' का ही रूप है, वाणी में आ चुका है, विज्ञात-पदार्थ वाणी-रूप है। ज्ञान जब तक वाणी में नहीं आता तब तक अस्पष्ट रहता है, जब वह वाणी-रूप हो जाता है, जब हम ज्ञान को वाणी में प्रकट कर देते हैं, तब उसकी सुरक्षा हो जाती है, अतः वाणी ज्ञान-रूप होकर मनुष्य की रक्षा करती है ॥८॥

जो 'विजिज्ञास्य' है, अभी जाना नहीं गया परन्तु जाना जा सकता है, वह 'मन' का ही रूप है, मन ही तो विज्ञेय पदार्थों से भरा पड़ा है, मन जिस पदार्थ पर अपने को अटका लेता है, वह ज्ञेय-कोटि में आ जाता है, अतः मन संसार को ज्ञेय-कोटि में लाकर मनुष्य की रक्षा करता है ॥९॥

जो 'अविज्ञात' है, जाना नही गया, वह 'प्राण' का ही रूप है। प्राण अविज्ञात है, जाना नहीं जाता कि यह क्या है, कहां है? प्राण मनुष्य की बिना जाने, अविज्ञात-भाव से रक्षा करता है ॥१०॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत्किञ्च विज्ञातं
वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति ॥८॥

विज्ञातम्—जानी हुई, **विजिज्ञास्यम्**—जानने योग्य, **अविज्ञातम्**—न जानी हुई (वस्तु), **एते एव**—ये ही है, **यत् किञ्च**—जो कुछ भी, **विज्ञातम्**—ज्ञात है, **वाच**—वाणी का, **तद् रूपम्**—वह (विज्ञात) रूप है, **वाग् हि**—क्योंकि वाणी ही, **विज्ञाता**—ज्ञात (स्पष्ट) है, **वाग्**—वाणी; **एनम्**—इस (विज्ञान) को, **तद् भूत्वा**—वह (विज्ञात रूप) होकर, **अवति**—सुरक्षित रखती है ॥८॥

यत्किच विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वाऽवति ॥९॥

यत् किच—और जो-कुछ, **विजिज्ञास्यम्**—जानने योग्य है, **मनस**—मन का, **तद्**—वह (विजिज्ञास्य), **रूपम्**—रूप है, **मन. हि**—क्योकि मन, **विजिज्ञास्यम्**—जानने योग्य है, **मन.**—मन, **एनम्**—इस (विजिज्ञास्य) को, **तद्**—वह (विजिज्ञास्य), **भूत्वा**—होकर, **अवति**—रक्षा करता है (ज्ञान-कोटि मे लाता है) ॥९॥

यत्किचाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञात· प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति ॥१०॥

यत् किच—और जो-कुछ, **अविज्ञातम्**—अज्ञात है, **प्राणस्य**—प्राण का,

पिंड-शरीर मे जैसे 'वाणी' है, ब्रह्मांड-शरीर में वैसे पृथिवी है। पिड-शरीर मे जैसे जीवन की उष्णता है, ब्रह्माड-शरीर में वैसे ज्योति-रूप अग्नि है। पिड मे वाणी का विस्तार ब्रह्मांड के पृथिवी के विस्तार के सदृश है। वाणी पिड की कहानी बोलती है, पृथिवी ब्रह्मांड की कहानी बोलती है। जितनी विशाल 'वाणी' है, उतनी ही विशाल पृथिवी में रहने वाली 'अग्नि' है ॥११॥

पिंड-शरीर मे जैसे 'मन' है, ब्रह्मांड-शरीर मे वैसे द्यौः है। पिड-शरीर में जैसे जीवन की उष्णता है, ब्रह्मांड-शरीर में वैसे ज्योति-रूप आदित्य है। पिंड मे मन का विस्तार ब्रह्मांड के द्यु-लोक के विस्तार के सदृश है। मन पिड की कहानी बोलता है, द्यु-लोक ब्रह्मांड की कहानी बोलता है। जितना विशाल 'मन' है, उतना ही विशाल 'द्यु' है, उतना ही विशाल द्यु-लोक मे रहने वाला 'आदित्य' है।

'वाणी' और 'मन' के मेल से 'प्राण' प्रकट हुआ, ठीक-ऐसे जैसे पृथिवी की अग्नि और द्यु-लोक के सूर्य के मेल से, इन की गर्मी से 'वायु' प्रकट होता है। पिंड के प्राण को ब्रह्मांड मे इन्द्र कहते है, वायु

तद्—वह, रूपम्—रूप है, प्राणः हि—क्योकि प्राण ही, अविज्ञातः—अज्ञात है, प्राणः—प्राण, एनम्—इसको, तद् भूत्वा—वह (अविज्ञात) होकर, अवति—रक्षा करता है ॥१०॥

तस्यैव वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्या-
वत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ११॥

तस्य+एव (तस्याः एव)—उस ही, वाचः—वाणी का, पृथिवी—पृथिवी, शरीरम्—शरीर है, ज्योतिः रूपम्—ज्योति (प्रकाशक) रूप, अयम्—यह, अग्निः—अग्नि है, तद्—तो, यावती—जितनी, एव—ही, वाक्—वाणी है, तावती—उतनी ही, पृथिवी—पृथिवी है, तावान्—उतना, एव—ही, अयम् अग्निः—यह अग्नि है ॥११॥

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्तद्यावदेव मनस्तावती
द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनँ समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स
एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद ॥१२॥

अथ—और, एतस्य—इस, मनसः—मन का, द्यौः—द्यु-लोक; शरीरम्—शरीर है, ज्योतिः रूपम्—प्रकाशक रूप, असौ आदित्यः—यह आदित्य (सूर्य) है, तद्—तो, यावद् एव—जितना ही, मनः—मन है, तावती

कहते हैं। यह 'असपत्न' है, शत्रु-रहित है। जो कोई दूसरा मुकाबिले का हो, उसे 'सपत्न' कहते हैं। जो इस रहस्य को जानता है उसका कोई 'सपत्न' नहीं होता, मुकाबिले का नहीं होता ॥१२॥

पिंड-शरीर में जैसे 'प्राण' है, ब्रह्मांड-शरीर में वैसे जल है। पिंड-शरीर में जैसे जीवन की उष्णता है, ब्रह्मांड-शरीर में वैसे ज्योति-रूप चन्द्र है। पिंड में प्राण का विस्तार ब्रह्मांड के जल के विस्तार के सदृश है। प्राण पिंड की कहानी बोलता है, जल ब्रह्मांड की कहानी बोलता है। जहां जल है वहीं जीवन है। जितना विशाल 'प्राण' है, उतना ही विशाल 'जल' है, उतना ही विशाल चन्द्र है।

इस प्रकार हमने देखा कि पिंड के वाणी, मन, प्राण,—ये तीनों ब्रह्मांड के पृथिवी, द्यु, जल तथा अग्नि, आदित्य, चन्द्र—इन सबके समान हैं। ये सभी अनन्त हैं, महान् हैं। इन सबको जो 'अन्तवान्' समझ कर इनकी उपासना करता है वह अन्तवान् लोकों पर विजय पाता है, जो इन्हें 'अनन्तवान्' समझकर इनकी उपासना करता है वह अनन्तवान् लोकों पर विजय पाता है। वाणी, मन, प्राण—ये कितने छोटे हैं, कितने अन्तवान् हैं। परन्तु ये पिंड में ही तो छोटे, अन्तवान् दिखाई देते हैं! ये ही ब्रह्मांड में अनन्त दिखाई देने लगते

उतना, द्यौः—द्यु-लोक है, तावान् असौ आदित्यः—उतना ही यह सूर्य है, तौ—वे दोनों, मिथुनम्—जोड़े रूप में, आपस में, समैताम्—संगत हुए (मिले), ततः—उस (मेल) में, प्राणः—प्राण, अजायत—उत्पन्न हुआ, सः—वह (प्राण), इन्द्रः—इन्द्र (कहलाता है), सः एषः—वह यह (प्राण-इन्द्र), असपत्नः—अद्वितीय (एक) है, द्वितीयः—दूसरा, वै—ही, सपत्नः—सपत्न (कहलाता है), न अस्य—नहीं इसका, सपत्नः—द्वितीय, शत्रु (विरोधी, प्रतिद्वन्द्वी), भवति—होता है, यः एवम् वेद—जो ऐसे जानता है ॥१२॥

अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तँ स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तँ स लोकं जयति ॥१३॥

अथ—और, एतस्य—इस; प्राणस्य—प्राण का, आपः—जल; शरीरम्—शरीर (आधार) है, ज्योतिः रूपम्—प्रकाशक रूप, असौ—यह, चन्द्रः—चन्द्रमा है, तद् यावान् एव—तो जितना ही, प्राणः—प्राण है,

है। ब्रह्मांड से ऊपर उठकर अगर अनन्तों के भी अनन्त के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ दिया जाय, तो मनुष्य सान्त से अनायास ही अनन्त की ओर चल देता है। फिर वह सान्त लोकों का विजय करने के स्थान मे अनन्त के विजय पर निकल पड़ता है ॥१३॥

अनन्त की ओर चलने वाले के लिये 'संवत्सर'—काल—ही प्रजापति है, भुवन का स्वामी है। इस काल की उपमा चन्द्रमा से दी जा सकती है। चन्द्र की सोलह कलाएं हैं। पन्द्रह रात्रियां इसकी पन्द्रह कलाएं हैं, ध्रुवा इसकी सोलहवीं कला है, इस ध्रुवा कला के कारण ही तो यह ध्रुव बना रहता है। चन्द्र रात्रियों से ही पूर्ण होता है, रात्रियो से ही क्षीण होता है। जब चन्द्रमा क्षीण होता है तब वास्तव मे प्राणिमात्र मे प्रवेश कर रहा होता है, और अमावास्या की रात को जब इसकी कोई कला नही दीखती तब यह संपूर्ण प्राणि-जगत् में पूर्ण जीवन का संचार कर चुका होता है, और अगले दिन प्रातःकाल अपनी बची हुई सोलहवीं कला से फिर उदय होने और बढ़ने लगता है। इसलिये इस रात्रि में किसी प्राणधारी का

तावत्यः—उतने ही, आपः—जल है, तावान् असौ चन्द्र.—उतना ही यह चन्द्रमा है, ते एते—वे ये (त्रिपुटिया, त्रिमूर्त्तिया), सर्वे एव—सारे ही, समाः—समान हैं, सर्वे अनन्ताः—सारे अनन्त है, सः यः—वह जो, ह—निश्चय से, एतान्—इन (वाणी-मन-प्राण) को, अन्तवतः—अन्तवाला, सान्त, उपास्ते—उपासना करता (समझता) है, अन्तवन्तम्—सान्त, स·—वह, लोकम्—लोक को, जयति—जीतता है, अधिकारी हो जाता है, अथ यः ह—और जो तो, एतान्—इनको, अनन्तान्—अन्तहीन, उपास्ते—समझता है, अनन्तम् सः लोकम् जयति—वह अनन्त लोक को जीतता (पा लेता) है ॥१३॥

स एष संवत्सर· प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते सोऽमावास्यां् रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मादेतां् रात्रिं प्राणभृत· प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥१४॥

सः एषः—वह यह, संवत्सरः—वर्ष (काल), प्रजापतिः—प्रजा-रक्षक, षोडशकलः—सोलह कला (अंश) वाला है, तस्य—उसकी, रात्रय.—(एक पक्ष की पन्द्रह) रात्रिया ही, पञ्चदश—पन्द्रह, कला—कलाए (अंश) है,

प्राण-हरण न करे, गिरगिट-जैसे तुच्छ प्राणी को भी न मारे, और कुछ नही तो यह सोचकर ही 'प्राण-हरण' न करे कि यह प्राण चन्द्रमा का ही एक रूप है, चन्द्र ही तो अपनी कलाओ से सृष्टि में प्राण-रूप हो रहा है, और कुछ नही तो उसके सत्कार में ही ऐसा न करे ॥१४॥

ब्रह्मांड में संवत्सर, अर्थात् काल-रूपी सोलह कलाओ वाले का नाम 'प्रजापति' है, पिड में इस रहस्य को जानने वाले का नाम 'पुरुष' है। इस पुरुष-रूपी चन्द्र की पन्द्रह कलाएं 'वित्त' है, धन-धान्य है। सोलहवी कला 'आत्मा' है। जैसे चन्द्र रात्रियों से पूर्ण होता है, रात्रियों से क्षीण होता है, वैसे पुरुष-रूपी चन्द्र कभी वित्त से पूर्ण हो जाता है, कभी खाली हो जाता है। 'आत्मा' इस शरीर-रूपी पहिये की नाभि है, यह अविचल है, 'वित्त' इस पहिये की प्रधि है, अरे के सदृश है। इसलिये अगर किसी का सम्पूर्ण वित्त भी नष्ट

ध्रुवा—(स्थिर रहनेवाली) ध्रुवनाम्नी, **एव**—ही, **अस्य**—इस (सवत्सर-प्रजापति) की, **षोडशी**—सोलहवी, **कला**—कला है, **स.**—वह, **रात्रिभिः एव**—रात्रियो से ही, **आ च पूर्यते**—सर्वत पूर्ण होता है, **अप च क्षीयते**—और क्षीण हो जाता है, **स.**—वह, **अमावस्याम् रात्रिम्**—अमावस्या रात्रि मे, **एतया**—इस, **षोडश्या**—सोलहवी, **कलया**—(ध्रुवा-नाम्नी) कला से, **सर्वम् इदम्**—सारे ही इन, **प्राणभूत्**—प्राणियो मे, **अनुप्रविश्य**—अनु-प्रवेश कर, **तत.**—उसके बाद, **प्रातः**—प्रात काल मे, **जायते**—उत्पन्न होता है, **तस्माद्**—उस कारण से, **एताम् रात्रिम्**—इस रात भर; **प्राणभृत.**—प्राणी के; **प्राणम्**—प्राण (जीवन) को, **न**—नही, **विच्छिन्द्यात्**—काटे (नष्ट करे), **अपि**—चाहे, **कृकलासस्य**—(तुच्छ) गिरगिट का भी, **एतस्या.**—इस, **एव**—ही, **देवताया**—(प्रजापति या चन्द्र रूप) देवता की, **अपचित्यै**—हानि के अभिप्राय से (अनादर का ध्यान रखकर) ॥१४॥

यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित् पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीयत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनाऽगादित्येवाहुः ॥१५॥

य. वै—जो ही, **स**—वह, **संवत्सर प्रजापति.**—सवत्सर प्रजापति, **षोडशकल.**—सोलह कलावाला (ऊपर कहा है), **अयम् एव स**—(पिंड मे) यह ही वह है, **य अयम्**—जो यह, **एवंवित्**—इस प्रकार जाननेवाला, **पुरुषः**—

क्यों न हो जाय, अगर उसका आत्मा जीता है, तो वह जीता ही है, इतना ही कहा जाता है कि इसके अरे टूट गये है, ठीक हो जायंगे ॥१५॥

हे उपासक ! संसार में तीन लोक है--'मनुष्य-लोक', 'पितृ-लोक' तथा 'देव-लोक'। साधारण लोग जो खाने, पीने और प्रजोत्पत्ति में लगे है, वे 'मनुष्य' कहलाते है; अपना ही विचार छोड़ संसार की रक्षा में लगे हुए लोग 'पितर' कहलाते है; संसार को ज्ञान देकर आगे बढ़ाने वाले लोग 'देव' कहलाते है। 'मनुष्य-लोक' को 'पुत्र' से ही जीता जाता है, दूसरे कर्म से नही। जब तक पुत्र नही होता तब तक मनुष्य-स्वभाव का व्यक्ति इस संसार-युद्ध मे अपने को हारा हुआ ही पाता है। 'पितृ-लोक' को 'कर्म' से जीता जाता है। पितर लोग निरंतर कर्म में लगे रहते है, तब जाकर दुनिया का भला होता है। 'देव-लोक' को 'विद्या' से जीता जाता है। देव लोग विद्या-दान द्वारा,

---

पुरुष (देही आत्मा) है, **तस्य**—उसके, **वित्तम्**—धन, कर्म-साधन इन्द्रिया आदि, **एव**—ही, **पञ्चदश कलाः**—पन्द्रह कलाए है, **आत्मा एव**—जीवात्मा ही, **अस्य**—इस (सशरीर आत्मा पुरुष) की, **षोडशी कला**—सोलहवी कला है, **सः**—वह पुरुष, **वित्तेन**—कर्म-साधन वित्त से, **एव**—ही, **आ च पूर्यते**—(कभी) पूर्ण होता है, **अप च क्षीयते**—और (कभी) क्षीण होता है, **तद् एतद्**—वह यह, **नभ्यम्**—नाभिवर्त्ती, केन्द्रवर्ती है, **यद् अयम् आत्मा**—जो यह आत्मा (जीव) है, **प्रधिः**—नेमि, अरे, **वित्तम्**—धन है, **तस्माद्**—अत एव, **यद्यपि**—यद्यपि, **सर्वज्यानिम्**—सर्व (धन की) हानि (होकर), **जीयते**—क्षीण हो जाता है, **आत्मना**—आत्मा (जीव) से, **चेत्**—अगर, **जीवति**—जीता है (जीवित कहा जाता है), **प्रधिना**—वित्त-रूप अरे-नेमि से, **अगात्**—चला गया (क्षीण हो गया), **इति एव**—यह ही, **आहुः**—(मनुष्य) कहते है (मर गया, यह कोई नही कहता) ॥१५॥

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानाँ श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशँसन्ति ॥१६॥

अथ—और, **त्रयः वाव**—तीन ही, **लोकाः**—लोक है, **मनुष्य-लोकः**—मनुष्य-लोक, **पितृ-लोकः**—पितृ-लोक, **देव-लोकः**—देव-लोक, **इति**—ये (नाम वाले), **सः अयम् मनुष्य-लोकः**—यह यह मनुष्य-लोक, **पुत्रेण**—पुत्र द्वारा,

ज्ञान के प्रचार द्वारा संसार का भला करने में लगे रहते हैं। सब से श्रेष्ठ देव-लोक है, तभी सब लोग विद्या की प्रशंसा करते हैं ॥१६॥

'मनुष्य-लोक' को 'पुत्र' से कैसे जीतते हैं ? 'संप्रत्ति' से, अपना सब-कुछ पुत्र को सौंपने से। जब कोई संन्यास लेते समय, या यह देखकर कि अब तो दुनिया से चलने का समय निकट आ गया, घर छोड़ने लगता है, तब पुत्र को बुलाकर कहता है--तू 'ब्रह्म' है, तू 'यज्ञ' है, तू 'लोक' है। इस बोझ को जब पुत्र को सौंपा जाता है तब उससे कहलवाया जाता है, मैं 'ब्रह्म' हूं, मैं 'यज्ञ' हूं, मैं 'लोक' हूं। 'ब्रह्म' कहने में वह सब आ जाता है जो पिता ने पढ़ा है या नहीं पढ़ा; 'यज्ञ' कहने में सब प्रकार के शुभ-कर्म-रूपी यज्ञ आ जाते हैं जो पिता ने किये हैं या नहीं किये; 'लोक' कहने में सब प्रकार के यश के कार्य आ जाते हैं, जो पिता ने यश प्राप्त किये हैं या नही किये। मनुष्य का सम्पूर्ण ध्येय बस इतने में ही आ जाता है—'ब्रह्म'-'यज्ञ'-

---

एव—ही, जय्यः—जीता (प्राप्त किया) जा सकता है, न—नहीं, अन्येन—दूसरे, कर्मणा—कर्म से, कर्मणा—कर्म (प्रयत्न-पुरुषार्थ) से, पितृलोकः—पितृ-लोक, विद्यया—विद्या (ज्ञान-सम्पादन) से, देवलोकः—देव-लोक, देवलोकः वै—देवलोक ही, लोकानाम्—तीनों लोकों में, श्रेष्ठः—श्रेष्ठ है, तस्मात्—अतएव, विद्याम्—विद्या की, प्रशंसन्ति—सब प्रशंसा करते है ॥१६॥

अथातः संप्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति यद्वै किंचानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता। ये वै के च यज्ञास्तेषां सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषां सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा इदं सर्वमेतन्मा सर्वं सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति स यदैवंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति। स यद्यनेन किंचिदक्ष्णयाऽकृतं भवति तस्मादेनं सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवा-स्मिंल्लोके प्रतितिष्ठत्यथैनमेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥१७॥

अथ अतः—अब इसके आगे, संप्रत्ति—सम्प्रदान, सर्वस्व देना, उत्तराधिकारी को देना (का वर्णन करते हैं), यदा—जब (मनुष्य), प्रैष्यन्—मरता हुआ, पर-लोक को जाता हुआ, मन्यते—(अपने को) समझता है, अथ—तो, पुत्रम्—पुत्र को, आह—कहता है, त्वम्—तू, ब्रह्म—ब्रह्म (बड़ा-बढ़नेवाला)

'लोक' ! मेरा यह पुत्र, यह सब-कुछ होकर, 'ब्रह्म'-'यज्ञ'-'लोक' के मेरे बोझ को अपने सिर पर लेकर, मेरे नाम की पालना करे, इसलिये जिस पुत्र को पिता यह उपदेश देता है, उसे 'लोक्य' कहते हैं, क्योंकि वह पितृ-लोक के लिये हितकारी होता है। इस रहस्य को जानते हुए जो संन्यास लेता है, या दुनिया छोड़ता है, वह पुत्र को उपदेश देते हुए मानो अपने प्राणो से पुत्र में प्रवेश कर जाता है। उसने अगर कारण-वश कुछ नही भी किया होता, तो पुत्र उस सबसे अपने पिता का छुटकारा करा देता है, तभी उसे 'पुत्र' कहते हैं। 'पुत्' का अर्थ है—पूरा करना, 'त्र' का अर्थ है—न किये से पिता की रक्षा करना ! पिता चल देता है, परन्तु चलते हुए भी पुत्र के द्वारा इस लोक में ही स्थित रहता है। जब पिता स्वयं सब-कुछ छोड़कर चल देता है, तब मानो उसमें 'देव-प्राण' प्रवेश कर जाते है, 'अमृत-प्राण' प्रवेश कर जाते है, अर्थात् उसमे दिव्यता और अमरता आ जाती है ॥१७॥

है, **त्वम्**—तू, **यज्ञः**—यज्ञ (सब का सत्कार आदि शुभकर्म-कर्ता) है, **त्वम्**—तू, **लोकः**—लोक (सब का आधार, पोषक) है, **इति**—ऐसे, **सः पुत्रः**—वह पुत्र, **प्रति+आह**—प्रत्युत्तर मे कहता है, **अहम् ब्रह्म, अहम् यज्ञः, अहम् लोकः इति**—मैं ब्रह्म, मैं यज्ञ और मैं लोक हू, **यद् वै किंच**—जो कुछ, **अनूक्तम्**—अनुवचन (अध्ययन) है, **तस्य सर्वस्य**—उस सब की, **ब्रह्म**—ब्रह्म (वेद), **इति**—इस रूप मे, **एकता**—एकीभाव, अन्तर्भाव है, **ये वै**—जो, **के च**—कोई, **यज्ञाः**—यज्ञ है, **तेषाम् सर्वेषाम्**—उन सब का, **यज्ञः इति**—'यज्ञ' इस शब्द मे, **एकता**—अन्तर्भाव, एकीभाव है, **ये वै के च**—और जो कोई, **लोकाः**—लोक है, **तेषाम् सर्वेषाम्**—उन सब का, **लोकः**—लोक, **इति**—इस (पद) मे, **एकता**—एकीभाव, अन्तर्भाव है, **एतावद् वै**—इतना ही, **इदम् सर्वम्**—यह सब है, **एतद्**—यह, **मा**—मुझ को, **सर्वम्**—सब, **सन्**—होता हुआ, **अयम्**—यह, इसने, **इत**—अब मे पहले या इसके बाद, **अभुनजत्**—पालन किया (बुढापे मे), या पालन करेगा, **इति**—ऐसे, **तस्मात्**—अत, **पुत्रम्**—पुत्र को, **अनुशिष्टम्**—अनुशासित, सुशिक्षित, **लोक्यम्**—लोको का हितकारी, लोक का अधिकारी, **आहुः**—कहते है, **तस्मात्**—अतएव, **एनम्**—इसको, **अनुशासति**—(पितर—बडे-बूढे) शिक्षित करते है, **सः**—वह, **यद्**—जो, **एवंवित्**—इस प्रकार जाननेवाला, **अस्मात्**—इस, **लोकात्**—लोक से, **प्रैति**—जाता

मनुष्य की रचना, जैसा पहले कहा, 'वाणी'-'मन'-प्राण' से है। मृत्यु से धक्का खाकर तो सभी चल देते है, परन्तु जब मनुष्य अपने आप संसार के विषयो को छोड़ देता है, तब पृथिवी और अग्नि में जो 'दैवी-वाक्' समा रही है, वह इसमें आ प्रवेश पाती है। इसी 'दैवी-वाक्' से वह जो-कुछ बोलता है, वही-वही हो जाता है ॥१८॥

द्यु तथा आदित्य में जो 'दैव-मन' समा रहा है, वह इसमें आ प्रवेश पाता है। इस 'दैव-मन' को धारण कर उसके लिये आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है ॥१९॥

(मरना) है, अथ—तो, एभि—इन, एव—ही, प्राणै:—प्राणो से (के), सह—साथ, पुत्रम्—पुत्र मे, आविशति—प्रवेश कर जाता है, सः—वह, यदि—अगर, अनेन—इस (पिता) ने, किंचित्—कुछ, अक्षणया—विघ्न के कारण, असमर्थता के कारण, अकृतम्—न किया हुआ, अपूर्ण, भवति—(कार्य) होता है, तस्मात्—उस (अपूर्णता) से, एनम्—इस (परलोकगामी) को, सर्वस्मात्—सबसे, पुत्र:—पुत्र, मुंचति—मुक्त कर देता है, तस्मात्—अतएव, पुत्र—पुत्र (यह), नाम—सज्ञा है, स—वह, पुत्रेण—पुत्र के द्वारा, एव—ही, अस्मिन् लोके—इस लोक मे, प्रतितिष्ठति—प्रतिष्ठा पाता है, अथ—और, एनम्—इसको, एते—ये, देवा:—देव, प्राणा:—प्राण, अमृता:—अमर, आविशन्ति—प्रवेश करते हैं, प्राप्त हो जाते हैं ॥१७॥

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै
दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद् भवति ॥१८॥

पृथिव्यै च—पृथिवी से, एनम्—इसको, अग्ने: च—और अग्नि से, दैवी वाग्—दिव्य वाणी, आविशति—प्रवेश करती है, सा वै—वह ही, दैवी वाग्—दिव्य वाणी है, यया—जिससे, यद् यद् एव—जो-जो ही, वदति—बोलता है; तद् तद्—वह-वह, भवति—होता है ॥१८॥

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै
दैवं मनो येनानन्द्येव भवत्यथो न शोचति ॥१९॥

दिव: च—द्युलोक से, एनम्—इसको, आदित्यात् च—और सूर्य से, दैवस् मन:—दिव्य मन, आविशति—प्रवेश करता है, तद् वै—वह ही, दैवम् मन:—दिव्य मन है, येन—जिससे, आनन्दी—आनन्द से युक्त, एव—ही, भवति—होता (रहता) है, अथ उ—और, न—नही, शोचति—शोक करता है, दुःखी होता है ॥१९॥

चन्द्र तथा जल में जो 'दैव-प्राण' समा रहा है, वह इसमें आ प्रवेश पाता है। वह 'दैव-प्राण' जो चलता हुआ और न चलता हुआ कभी थकता नहीं, कभी नष्ट नहीं होता। इस रहस्य को जानने वाला सब भूतों का आत्मा, सबका-आपा हो जाता है, जैसे यह प्राण देवता है, वैसा ही वह हो जाता है। जैसे सब भूत प्राण-देवता की रक्षा में जुटे हुए हैं, वैसे ही सब भूत इस रहस्य को जानने वाले की रक्षा में जुट जाते हैं। अगर लोग उसके विषय मे दुःखी होते हैं, तो दुःख लोगों तक ही सीमित रहता है, उसे दुःख नही पहुंचता, उसे तो पुण्य ही पहुंचता है, वह देव हो चुका है, देवों को दुःख-रूपी पाप का स्पर्श नहीं होता ॥२०॥

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति स वै दैवः प्राणो यः संचरँश्चासंचरँश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति स एवंवित्सर्वेषां भूतानामात्मा भवति यथैषा देवतैवँ स यथैतां देवताँ सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवँ हैवंविदँ सर्वाणि भूतान्यवन्ति। यदु किंचेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवासां तद्भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान् पापं गच्छति ॥२०॥

अद्भ्यः च—जलो से, **एनम्**—इसको, **चन्द्रमसः च**—और चन्द्रमा से, **दैवः प्राणः**—दिव्य प्राण, **आविशति**—प्रवेश करता है, **स. वै दैवः प्राणः**—वह ही दिव्य प्राण है, **यः**—जो **संचरन् च**—(दिन रात) चलता हुआ, **असंचरन् च**—और न चलता हुआ, **न**—नही, **व्यथते**—व्यथा (पीडा) पाता है, **न**—नही, **रिष्यति**—नष्ट (क्षीण) होता है, **सः एवंवित्**—वह इस (प्राण के स्वरूप को) जानता हुआ, **सर्वेषाम्**—सारे, **भूतानाम्**—प्राणियो का, **आत्मा**—अपना, निजू, **भवति**—हो जाता है, **यथा एषा देवता**—जैसे यह (प्राण-सज्ञक) देवता, **एवम् सः**—इस ही प्रकार वह (ज्ञाता होता है), **यथा**—जैसे, **एताम्**—इस, **देवताम्**—देवता को, **सर्वाणि भूतानि**—सारे चर-अचर भूत, **अवन्ति**—रक्षा करते हैं, **एवम् ह**—इस प्रकार ही, **एवंविदम्**—इस प्रकार जाननेवाले को, **सर्वाणि भूतानि**—सारे प्राणी, **अवन्ति**—रक्षा करते है, **यद् उ**—और जो, **किंच**—कुछ, **इमाः**—ये, **प्रजाः**—प्रजा (सन्तति आदि), **शोचन्ति**—दुख अनुभव करती है, **अमा**—साथ, **एव**—ही, **आसाम्**—इन प्रजाओ के, **तद्**—वह (दुख), **भवति**—रहता है (इस ज्ञानी को नही), **पुण्यम् एव**—पुण्य (सुकृत, अच्छा-अच्छा) ही, **अमुम्**—इसको, **गच्छति**—प्राप्त होता है (बुरा नही), **न ह वै**—नही ही तो, **देवान्**—देवो (विद्वानो,

पहले कहा, 'मनुष्य-लोक' को 'पुत्र' से जीतते हैं। अब कहते हैं, 'पितृ-लोक' को 'कर्म' से जीतते हैं। 'पितृ-लोक' को 'कर्म' से कैसे जीतते हैं? 'व्रत' से। अब व्रत की मीमांसा करते हैं, उसका विचार करते हैं। पिंड तथा ब्रह्मांड में कौन दृढ-व्रती है, जिसके व्रत को हमें भी धारण करना चाहिये? कहते हैं कि प्रजापति ने 'कर्मों' की रचना की। जन्म पाकर कर्म एक-दूसरे से स्पर्धा करने लगे। वाणी ने व्रत लिया कि मैं बोलती ही रहूंगी, चक्षु ने व्रत लिया कि मैं देखता ही रहूंगा, श्रोत्र ने व्रत लिया कि मैं सुनता ही रहूंगा, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों ने अपने-अपने कर्म का व्रत ले लिया। यह देखकर मृत्यु थकावट बनकर उनके निकट पहुंची, उनमें घुस गई, घुसकर उसने उन्हें अपने काम से रोक दिया। सब इन्द्रियां थककर बैठ गईं। इसलिये वाणी बोलते-बोलते थक जाती है, चक्षु-श्रोत्र थक जाते हैं, हां, शरीर के मध्य में स्थित जो प्राण है, उसे थकावट नहीं पकड़

ज्ञानियों) को, पापम् गच्छति—पाप पहुंचता है (उन्हें पाप–बुराई लिप्त नहीं होती) ॥२०॥

अथातो व्रतमीमांसा प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत्तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रमथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं दध्रिरे। अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति। त एतस्यैव सर्वे रूपमभवंस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति। तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद। य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम् ॥२१॥

अथ अतः—अब इसके आगे, व्रत-मीमांसा—व्रतों का निरूपण (विचार) किया जाता है, प्रजापतिः ह—पहले कभी प्रजापति ने, कर्माणि—(नाना इन्द्रियों के) कर्मों को या कर्म-साधन इन्द्रियों को, ससृजे—रचा, बनाया, तानि—वे, सृष्टानि—रचे हुए; अन्योन्येन—एक-दूसरे से, परस्पर, अस्पर्धन्त—ईर्ष्या (डाह) करने लगे, वदिष्यामि—बोलूंगी, बोलती ही रहूंगी, एव—ही, अहम्—मैं, इति—ऐसे, वाग्—वाणी ने, दध्रे—(व्रत) धारण किया,

पाई। इन्द्रियां जान गई, यही हम में श्रेष्ठ है, जो चलता हुआ और न चलता हुआ कभी थकता नही, कभी नष्ट नही होता। चलो, हम सब इसी का रूप हो जांय—यह कहकर वे उसी का रूप हो गई, इसलिए इन्द्रियो को भी प्राण नाम से कहा जाता है। जो इस रहस्य को जानता है वह जिस कुल में जन्म लेता है उसी के नाम से वह कुल प्रसिद्ध हो जाता है। जो इस रहस्य को जानने वाले के साथ स्पर्धा करता है वह सूख जाता है, हरा-भरा नही रह सकता, और सूखकर अन्त में मर जाता है। यह 'अध्यात्म', अर्थात् पिंड को लक्ष्य मे रख कर प्राण की उत्कृष्टता का विचार हुआ ॥२१॥

निश्चय किया, **द्रक्ष्यामि**—देखती ही रहूगी, **अहम्**—मैं, **इति**—ऐसे, **चक्षुः** नेत्र ने, **श्रोष्यामि**—सुनता ही रहूगा, **अहम्**—मैं, **इति**—ऐसे, **श्रोत्रम्**—कान ने (स्पर्धा मे निश्चय किया), **एवम्**—इस ही प्रकार, **अन्यानि**—दूसरे, **कर्माणि**,—कर्मो (इन्द्रियो) ने, **यथा-कर्म**—अपने-अपने कर्म के अनुरूप (निश्चय किया), **तानि**—उन (कर्म या इन्द्रियो) को, **मृत्यु**.—मौत ने, **श्रम**.—थकान, **भूत्वा**—(रूप मे) होकर, **उपयेमे**—जकड लिया, **तानि**—उनको, **आप्नोत्**—पास पहुची, **तानि**—उनको, **आप्त्वा**—प्राप्त होकर, **मृत्युः**— (श्रम-रूपी) मृत्यु ने, **अवारुन्द्ध**—(काम करने से) रोक दिया, असमर्थ कर दिया, **तस्मात्**—अतएव, **श्राम्यति एव**—थक ही जाती है, **वाक्**—वाणी, **श्राम्यति चक्षुः**—नेत्र थक जाता है, **श्राम्यति श्रोत्रम्**—कान थक जाता है, **अथ**—और, **इमम् एव**—इस ही को, **न आप्नोत्**—नही प्राप्त हुई, **य. अयम्**—जो यह, **मध्यमः**—(सब इन्द्रियो—कर्मों के) मध्य (अन्तर) मे वर्तमान, **प्राणः**—प्राण है, **तानि**—उन (इन्द्रियो) ने, **ज्ञातुम्**—जानने के लिये, **दध्रिरे**—निश्चय किया (और जान लिया), **अयम् व**—यह ही, **नः**—हम सबसे, **श्रेष्ठः**—श्रेष्ठ (बढकर) है, **यः**—जो, **संचरन् च असंचरन् च**—चलता हुआ या न चलता हुआ, **न व्यथते**—नही पीडा (कष्ट) अनुभव करता है, **न रिष्यति**—न नष्ट होता है, **हन्त**—तो, **अस्य एव**—इस (प्राण) का ही, **सर्वे**—हम सब, **रूपम्**—रूप (इस जैसे ही), **असाम**—हो जायें, **इति**—यह (समझा), **ते**—वे, **एतस्य एव**—इस (प्राण) के ही, **रूपम् अभवन्**—रूप मे हो गये, **तस्मात्**—उस कारण से, **एते**—ये इन्द्रिया भी, **एतेन**—इस (नाम) से, **आख्यायन्ते**—पुकारी जाती हैं, **प्राणाः**—प्राण, **इति**—इस (नाम से), (ऐसे ही) **तेन ह वाव**—उस (के नाम) से ही, **तत्-कुलम्**—उस कुल को, **आचक्षते**—पुकारते है, **यस्मिन् कुले**—जिस कुल मे, **भवति**—होता है, **यः**—

अव 'अधिदैवत', अर्थात् ब्रह्मांड को लक्ष्य में रखकर इसी विचार को आगे बढाते है। अग्नि ने व्रत लिया, मै जलती ही रहूंगी; सूर्य ने व्रत लिया, मै तपता ही रहूंगा; चन्द्र ने व्रत लिया, मै भासता ही रहूंगा; इसी प्रकार अन्य देवताओ ने अपने-अपने कर्मानुसार व्रत ले लिया। सो, जैसे इन्द्रियो के बीच प्राण स्थित रहता है, वैसे इन देवताओ के बीच वायु स्थित है। अन्य देवता अस्त हो जाते है, वायु अस्त नहीं होता, चलता ही रहता है। वायु अस्त न होने वाला देवता है ॥२२॥

जो, **एवम् वेद**—इस प्रकार जानता है, **यः उ ह**—जो तो, **एवंविदा**—ऐसे ज्ञानी से, **स्पर्धते**—प्रतिद्वन्द्विता (डाह) करता है, **अनुशुष्यति**—तत्काल ही सूख जाता है, **अनुशुष्य**—सूख कर, **ह एव**—ही, **अन्ततः**—अन्त मे, **म्रियते**—मर जाता है, **इति**—यह, **अध्यात्मम्**—(पिण्डगत) आत्मा-सबधी निरूपण है ॥२१॥

अथाधिदैवत ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यहमित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथादैवतं स यथैषा प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासा देवतानां वायुर्निम्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः ॥२२॥

अथ—अब, **अधिदैवतम्**—(ब्रह्माण्ड के) देवता-सम्बन्धी वर्णन यह है, **ज्वलिष्यामि एव**—जलता ही रहूंगा, **अहम्**—मै, **इति**—ऐसे, **अग्निः दध्रे**—अग्नि ने धारणा की, **तप्स्यामि**—तपूगा ही, **अहम्**—मैं, **इति**—ऐसे, **आदित्यः**—सूर्य ने, **भास्यामि**—कान्ति (चमक) दूगा, **अहम्**—मैं, **इति**—ऐसे, **चन्द्रमाः**—चन्द्रमा ने, **एवम्**—ऐसे ही, **अन्याः देवताः**—अन्य देवताओ ने भी, **यथा दैवतम्**—अपने दैवत (देवता सम्बन्धी कर्म) के अनुरूप, **सः यथा**—वह जैसे, **एषाम् प्राणानाम्**—इन प्राणो मे, **मध्यमः**—मध्यवर्ती, अन्दर व्याप्त, **प्राणः**—प्राण है; **एवम्**—ऐसे, **एतासां देवतानाम्**—इन (ब्रह्माण्ड-गत) देवताओ मे, **वायुः**—वायु (मध्यवर्ती) है, **निम्लोचन्ति**—मुद (छिप) जाते है, **हि**—ही, **अन्याः**—दूसरे, **देवताः**—देवता, **न**—नही (छिपती है), **वायुः**—वायु, **सा एषा**—वह यह (वायु), **अनस्तमिता**—न अस्त होनेवाली, **देवता**—देवता है, **यद् वायुः**—जो वायु है ॥२२॥

किसी ने कहा भी है—'जिससे सूर्य उदय होता है, जिसमे सूर्य अस्त होता है।' निस्सन्देह सूर्य प्राण से उदय होता है, प्राण में अस्त होता है! फिर आगे किसी ने कहा है, 'प्राण ही को देवताओ ने अपना धर्म बनाया, वही आज है, वही कल है'। अगर यह बात ठीक है कि किसी समय देवताओं ने प्राण को अपना ध्येय बनाया था, तो आज भी उसी व्रत पर हमें दृढ़ रहना चाहिये। एक व्रत को ही धारण करे, जिस प्रकार प्राणापान अनवरत चल रहा है, इसी प्रकार प्राण को लक्ष्य रखकर दृढ़-व्रती बने, फिर इसे मृत्यु-रूप पाप नही पकड़ पाता। जैसे प्राण चलता रहता है, जीवन की समाप्ति तक चलता रहता है, इसी प्रकार जिस कार्य को शुरू करे उसे समाप्त करके ही हटे, इस प्रकार मनुष्य प्राण की 'सायुज्यता' और 'सलोकता' को भी जीत जाता है, प्राण से भी आगे निकल जाता है ॥२३॥

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्मं्ँ स एवाद्य स उ श्व इति यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति। तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति यद्यु चरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं्ँ सलोकतां जयति ॥२३॥

अथ—और, **एषः श्लोक.**—यह श्लोक, **भवति**—(इस विषय मे) है, **यतः**—जहा से, जिधर से, **च**—और, **उदेति**—उदय होता है, **सूर्यः**—सूर्य, **अस्तम्**—अस्त (छिपना), **यत्र**—जहा, जिसमे, **च**—और, **गच्छति**—जाता है, (**अस्तं गच्छति**—छिप जाता है), **इति**—यह (श्लोक है), **प्राणाद् वै**—प्राण से ही, **एषः उदेति**—यह उदय होता है, **प्राणे**—प्राण मे, **अस्तम् एति**—छिप जाता है, **तम्**—उस, **देवाः**—देवो ने, **चक्रिरे**—किया, बनाया, **धर्मम्**—धर्म को, **सः एव**—वह ही, **अद्य**—आज, **सः उ**—वह ही तो, **श्वः**—कल भी, **इति**—यह (भी श्लोकाश है), **यद् वै**—जो, जिसको ही, **एते**—इन (देवो) ने, **अमुर्हि**—उस समय मे, **अध्रियन्त**—धारण किया था, धर्म बनाया था, **तद् एव**—उसको ही, **अपि अद्य**—आज भी, **कुर्वन्ति**—करते है, **तस्माद्**—उस कारण से, **एकम् एव**—एक ही, **व्रतम्**—व्रत को, **चरेत्**—आचरण करे, **प्राण्यात्**—प्राण (श्वास) लेवे, **च**—और, **एव**—ही, **अपान्यात्**—(श्वास) छोडे, **च**—और, **न इत्**—कही ऐसा न हो कि, **मा**—मुझ को, **पाप्मा**—पाप (रूप), **मृत्युः**—विनाश, **आप्नुवत्**—प्राप्त हो, **इति**—ऐसे, **यदि उ**—और अगर, **चरेत्**—व्रत करे (तो), **समापिपयिषेत्**—इसको

प्रथम अध्याय—(छठा ब्राह्मण)

(नाम-रूप की भिन्नता में आत्मा वा प्राण ही सत् है)

बृहदा० १।४।७ मे 'नाम'-'रूप'-'कर्म का वर्णन कर आये हैं। ५म ब्राह्मण में 'वाक्'-'मन'-'प्राण'—'पृथिवी'-'अन्तरिक्ष'-'द्यु'—'देव'-'पितर'-'मनुष्य'—इन त्रिको का वर्णन किया है। इस ब्राह्मण मे 'नाम'-'रूप'-'कर्म'—'वाक्'-'चक्षु'-'आत्मा'—'उक्थ'-'साम'-'ब्रह्म'—इन तीन त्रिको का वर्णन करते हैं—

संसार में जो-कुछ है, नाम-रूप-कर्म—इस त्रिक मे आ जाता है। किसी वस्तु का आंख से जो रूप दिखाई दे रहा है, वही 'रूप' है। उसी रूप का वाणी ने 'नाम' रख दिया है, इसके अतिरिक्त वह कुछ नही है। उस नाम-रूप में जो गति दिखाई देती है, वह किसी आत्मा ने दी है, उसकी अपनी गति नहीं, यही नाम-रूप में दीख रहा 'कर्म' है।

(यह तो बृहदा० १।४।७ का सकेत है जहा नाम-रूप-कर्म का उल्लेख है। अब आगे नाम-रूप-कर्म को आधार बनाकर नाम के साथ वाणी, रूप के साथ चक्षु, कर्म के साथ आत्मा का सम्बन्ध जोडकर नाम-रूप-कर्म मे से प्रत्येक की उक्थ, साम तथा ब्रह्म की स्थिति का वर्णन करते हैं।)

जितने भी नाम हैं, उनका प्रकाश 'वाणी' करती है। 'वाणी' ही सब नामों का 'उक्थ' है, 'उक्थ' अर्थात् उठना, जिससे सब नाम

समाप्त (पूर्ण) करने की इच्छा करे (अवश्य पूर्ण करे), **तेन उ**—उस (आद्यन्त व्रत के आचरण) से, **एतस्यै**—इस, **देवतायै**—देवता (प्राण एव सूर्य) की, **सायुज्यम्**—समान योग, एकरूपता, **सलोकताम्**—समान लोक (स्थिति-अवस्था) को, **जयति**—जीत लेता (प्राप्त कर आगे बढ जाता) है ॥२३॥

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषाँ सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥१॥

त्रयम्—तीन (रूप मे), **वै**—ही, **इदम्**—यह (दृश्यमान जगत्) है, **नाम**—सज्ञा, **रूपम्**—आकृति (गुण), **कर्म**—प्रयत्न, चेष्टा, **तेषाम्**—उन (तीनो—नाम-रूप-कर्म) मे से, **नाम्नाम्**—सज्ञाओ का, **वाग्**—वाणी, **इति एतत्**—यह, **एषाम्**—इन, **उक्थम्**—(वाचक, प्रकाशक, उत्पादक, मूल उपा-

उठते हैं, प्रकाश पाते हैं। वाणी ही सब नामो का 'साम' है। 'साम' अर्थात् समता, एकता। वाणी ही सब नामों में विषमता के स्थान में समता, एकता स्थापित करती है। वाणी ही सब नामो का 'ब्रह्म' है, 'ब्रह्म' अर्थात् अपनी विशालता में धारण करना, टिकाना। वाणी ही ब्रह्म की भांति सब नामो को अपने में धारण कर लेती है, टिका लेती है। नामात्मक-जगत् को वाणी सोये से उठाती है, उसमें विषमता होते हुए भी समावस्था लाती है, उसे ब्रह्म की भांति धारण करती है ॥१॥

जितने भी रूप है, उनका प्रकाश 'चक्षु' करता है। चक्षु ही सब रूपों का 'उक्थ' है, 'उक्थ' अर्थात् उठना, जिससे सब रूप उठते है, प्रकाश पाते है। चक्षु ही सब रूपों का 'साम' है, 'साम' अर्थात् समता, एकता। चक्षु ही सब रूपों में विषमता के स्थान में समता, एकता स्थापित करता है। चक्षु ही सब रूपों का 'ब्रह्म' है। 'ब्रह्म', अर्थात् अपनी विशालता में धारण करना, टिकाना। चक्षु ही ब्रह्म की भांति सब रूपों को अपने अन्दर धारण कर लेता है, टिका लेता है। रूपात्मक-जगत् को चक्षु सोये से उठाता है, उसमें विषमता होते हुए भी समावस्था लाता है, और उसे ब्रह्म की भांति धारण करता है ॥२॥

दान) उक्थ है, **अत हि**—क्योकि इस (वाणी) से, **सर्वाणि**—सारे, **नामानि**—सज्ञाए, **उत्तिष्ठन्ति**—उठती (प्रगट होती) है, **एतत्**—यह (वाणी) ही, **एषाम्**—इन (नामो) का, **साम**—साम (साम्यताजनक) है, **एतत् हि**—क्योकि यह, **सर्वैः**—सारे, **नामभिः**—नामो के; **समम्**—समान है, **एतद्**—यह वाणी ही, **एषाम्**—इन नामो का, **ब्रह्म**—ब्रह्म (वृद्धि करनेवाला) है, **एतद् हि**—क्योकि यह वाणी ही, **सर्वाणि नामानि**—सब नामो (सज्ञाओ) को, **बिभर्त्ति**—पालती-पोसती है ॥१॥

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥२॥

अथ—और, **रूपाणाम्**—आकृति (गुणो) का, **चक्षुः**—नेत्र, **इति एतद्**—यह ही, **एषाम्**—इन, **उक्थम्**—उक्थ (मूल उपादान) है, **अतः हि**—क्योकि इस (नेत्र) से ही, **सर्वाणि रूपाणि**—सारे रूप, **उत्तिष्ठन्ति**—उठते (ज्ञात होते) है, **एतद्**—यह (नेत्र) ही, **एषाम्**—इन (रूपो) का, **साम**—साम (साम्यताजनक) है, **एतत् हि**—क्योकि यह (नेत्र) ही, **सर्वैः रूपैः**—सब रूपो के,

जितने भी कर्म हैं, उनका प्रकाश 'आत्मा' करता है। आत्मा ही सब कर्मों का 'उक्थ' है, 'उक्थ' अर्थात् उठना, जिससे सब कर्म उठते हैं, प्रकाश पाते हैं। आत्मा ही सब कर्मों का 'साम' है, 'साम' अर्थात् समता, एकता। आत्मा ही सब कर्मों में विषमता के स्थान में समता, एकता स्थापित करता है। आत्मा ही सब कर्मों का 'ब्रह्म' है, 'ब्रह्म' अर्थात् अपनी विशालता में धारण करना, टिकाना। आत्मा ही ब्रह्म की भांति सब कर्मों को अपने अन्दर धारण करता है, टिकाता है। कर्मात्मक-जगत् को आत्मा सोये से उठाता है, उसमें विषमता होते हुए भी समावस्था लाता है, और उसे ब्रह्म की भांति धारण करता है।

नाम-रूप-कर्म--यह ब्रह्मांड का त्रिक है; वाणी-चक्षु-आत्मा—यह पिंड का त्रिक है। अभी कहा कि ब्रह्मांड का त्रिक पिंड के त्रिक में समा जाता है। जिस प्रक्रिया से ब्रह्मांड का त्रिक पिंड के त्रिक में समा जाता है, उस प्रक्रिया का नाम उक्थ-साम-ब्रह्म है। ब्रह्मांड के 'नाम' पिंड की 'वाणी' में, ब्रह्मांड के 'रूप' पिंड के 'चक्षु' में, ब्रह्मांड के 'कर्म' पिंड के 'आत्मा' में समा जाते हैं। पिंड में भी वाणी-चक्षु-आत्मा तीन जान पड़ते हैं, परन्तु तीनों एक में, 'आत्मा' में समा जाते हैं, इकला आत्मा ही सत् है, वही ये तीन हो जाता है। यह आत्मा अमृत-रूप है; वाणी और

समम्—समान (सामान्य) है, **एतत्**—यह (नेत्र) ही, **एषाम्**—इन (रूपों) का, **ब्रह्म**—ब्रह्म (वर्धयिता) है, **एतत् हि**—क्योंकि यह नेत्र ही, **सर्वाणि रूपाणि**—सब रूपों को, **बिभर्ति**—पालता-पोसता है ॥२॥

> अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाँ सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति। तदेतत्त्रयँ सदेकमयमात्माऽऽत्मो एक सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतँ सत्येन च्छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥३॥

अथ—और, **कर्मणाम्**—कर्मों (प्रयत्न-चेष्टा) का, **आत्मा**—जीवात्मा या शरीर, **इति एतत्**—यह ही, **एषाम्**—इन (कर्मों) का, **उक्थम्**—उक्थ (मूल उपादान-साधन) है, **अतः हि**—क्योंकि इस (आत्मा) से ही, **सर्वाणि कर्माणि**—सारे कर्म, **उत्तिष्ठन्ति**—उठते (प्रेरित होते) हैं, **एतत् एषाम् साम**—यह आत्मा ही इन कर्मों का साम (साम्य स्थापित करनेवाला) है, **एतद् हि सर्वैः कर्मभिः**—यह ही सब (कर्म) चेष्टाओं के, **समम्**—समान (साथ रहनेवाला—ओत-प्रोत) है, **एतद्**—यह (आत्मा) **एषाम्**—इन (कर्मों) का, **ब्रह्म**—अभि-

चक्षु सत्य-रूप है। अमृत-रूप 'आत्मा', सत्य-रूप 'वाणी' और सत्य-रूप 'चक्षु' से घिरा हुआ है। आत्मा का भौतिक-रूप प्राण है, वाणी का भौतिक-रूप नाम है, चक्षु का भौतिक-रूप रूप है, इसलिये अमृत-रूप 'प्राण', सत्य-रूप 'नाम' और सत्य-रूप 'रूप' से घिरा हुआ है ॥३॥

द्वितीय अध्याय--(पहला ब्राह्मण)

(अजातशत्रु का गार्ग्य को ब्रह्मोपदेश, १ से ३ ब्राह्मण)

एक समय की बात है कि गर्ग-गोत्रोत्पन्न एक ब्राह्मण था जिसे लोग 'दृप्त-बालाकि' कहते थे। दृप्त का अर्थ है, अभिमानी, 'बालाकि' 'बलाका' से बना है, जिसका अर्थ है बगुलो की पक्ति, अर्थात् बगुलों में बैठने वाला--बगुला-भगत। उसने खूब पढ़ा था। वह काशी के राजा अजातशत्रु के पास आकर बोला--'ब्रह्म ते ब्रवाणि'--मै तुझे 'ब्रह्म' का उपदेश दूंगा। अजातशत्रु ने कहा, मै आप

वृद्धि कारक है, **एतत् हि**—यह (ब्रह्म-रूप आत्मा) ही, **सर्वाणि कर्माणि**—सब कर्मो को, **बिभर्ति**—पालता-पोसता है, **तद् एतत्**—वह यह, **त्रयम्**—त्रिक (तीनो), **सत्**—सत्तावाले, होते हुए भी, **एकम्**—एक (रूप मे, मिलकर), **अयम्**—यह, **आत्मा**—आत्मा (देही जीव) हैं, **आत्मा+उ**—और आत्मा तो, **एकः सन्**—एक होता हुआ भी, **एतत् त्रयम्**—यह त्रिक (नाम-रूप-कर्म का सघात) है, **तद् एतत्**—वह यह, **अमृतम्**—अमर (आत्मा-प्राण), **सत्येन**—सत्य (सत्-प्रकृति से उत्पन्न) से, **छन्नम्**—आच्छादित, आवृत है, **प्राण**—जीव (आत्मा), **वै**—ही, **अमृतम्**—अमर है, **नामरूपे**—सज्ञा और आकृति, **सत्यम्**—सत्य (कहलाते) है, **ताभ्याम्**—उन दोनो (नाम-रूप) से, **अयम्**—यह, **प्राणः**—प्राण (जीव), **छन्नः**—आवृत है ॥३॥

ॐ। दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्या वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥१॥

ओम्—सर्वरक्षक, आदिगुरु ब्रह्म का ध्यान-स्मरण कर, **दृप्तबालाकिः**—मिथ्याभिमानी बलाका का पुत्र, **ह**—पहले कभी, **अनूचानः**—शास्त्र मे पारगत, **गार्ग्य**—गर्ग-गोत्री, **आस**—था, **सः ह**—उसने, **उवाच**—कहा, **अजातशत्रुम्**—अजातशत्रु (नामी), **काश्यम्**—काशी के राजा को, **ब्रह्म**—ब्रह्म (के विषय मे), **ते**—तुझे, **ब्रवाणि**—कहू, उपदेश करू, **इति**—ऐसे, **स ह उवाच अजातशत्रु**—उस अजातशत्रु ने कहा (कि), **सहस्रम्**—हज़ार (गौए या मोहर),

को इतना कहने भर के लिये एक सहस्र गायें भेंट देता हूं । लोगों को न जाने क्या हो गया है, ब्रह्म-विद्या के लिये 'जनक'-'जनक' पुकारते भागे जाते हैं ॥१॥

गार्ग्य ने उपदेश देना शुरू किया--यह जो आदित्य में 'आदित्य-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो । अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो सब भूतों में श्रेष्ठ, उनका मूर्धा, उनका राजा एक भौतिक-पदार्थ है । मैं तो इसी प्रकार इसकी उपासना करता हूँ । जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सब भूतों में श्रेष्ठ, उनका मूर्धा, उनका राजा हो जाता है ॥२॥

एतस्याम् वाचि—इस कथन (मात्र) पर, **ददम**—प्रदान करते है, **जनकः जनक** (दाता) जनक और (उपदेष्टा) जनक है, **इति वै**—ऐसे (सोच कर), **जना**—(जिज्ञासु) मनुष्य (उसकी ओर), **धावन्ति**—दौड कर जा रहे है, **इति**—यह (कहा) ॥१॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषा भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति ॥२॥

सः ह उवाच गार्ग्यः—उस गार्ग्य ने कहना आरम्भ किया, **यः एव असौ**—जो ही यह, **आदित्ये**—सूर्य मे, **पुरुषः**—पुरुष है, **एतम्**—इसको, **एव**—ही, **अहम्**—मैं, **ब्रह्म**—ब्रह्म (रूप मे), **उपासे**—उपासना करता–समझता हू, **इति**—यह (उपदेश दिया), **सः ह उवाच अजातशत्रुः**—उस अजातशत्रु ने कहा, **मा मा**—नही, नही ही, **एतस्मिन्**—इस (आदित्य-पुरुष) के विषय मे, **संवदिष्ठाः** (आगे) सवाद (चर्चा) करो, (क्योंकि) **अतिष्ठाः**—सब से बढ कर स्थित, सर्व-श्रेष्ठ, **सर्वेषाम् भूतानाम्**—सब भूतो का, **मूर्धा**—शिरो-रूप (शिरोमणि); **राजा**—(प्रकाशक) राजा है, **इति**—इस रूप मे, **वै**—ही, **अहम्**—मैं, **एतम्**—इस (आदित्य-पुरुष) को, **उपासे**—जानता–समझता हू, **इति**—ऐसे, **सः यः**—वह जो, **एतम्**—इसको, **एवम्**—इस प्रकार, **उपास्ते**—उपासना करता (समझता) है, **अतिष्ठाः**—अति श्रेष्ठ, **सर्वेषाम् भूतानाम्**—सब प्राणियो का, **मूर्धा**—शिरोमणि, **राजा**—राजा, **भवति**—हो जाता है ॥२॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो चन्द्र में 'चन्द्र-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर इसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो छिटकती

दृप्त-बालाकि गार्ग्य राजा अजातशत्रु को ब्रह्म का असफल उपदेश दे रहे हैं

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाह ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्सवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमु-पास्तेऽहरहर्ह सुत. प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते ॥३॥

स ह उवाच गार्ग्य.—(पुन) उस गार्ग्य ने कहा कि, यः एव असौ—

चांदनी के मानो श्वेत-वस्त्रों को धारण करने वाला महान् सोम राजा है। मैं तो इसी प्रकार इसकी उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है उसके घर में दिन-प्रतिदिन सोम-रस बहता है, खूब बहता है, और उसके यहां अन्न की कमी नहीं होती क्योंकि चन्द्र की कला के साथ ही सोम-रस बढ़ता है और उसकी कला के साथ ही अन्न में रस भरता है ॥३॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो विद्युत् में 'विद्युत्-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो एक तेजस्वी अचेतन-शक्ति है। मैं तो इसी प्रकार इसकी उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वयं तेजस्वी होता है, उसकी सन्तान तेजवाली होती है ॥४।

जो ही यह, **चन्द्रे**—चन्द्रमा मे, **पुरुष.**—(अन्तर्यामी) आत्मा है, **एतम् एव अहम् ब्रह्म उपासे**—इस (चन्द्र-गत पुरुष) को ही मैं ब्रह्म समझता हू, **इति**—ऐसे, **स. ह संवदिष्ठाः**—अर्थ पूर्ववत्, **बृहन्**—बडा, महान्, **पाण्डर-वासा**—(चादनी रूप) शुभ्र वस्त्र धारण करनेवाला, **सोम**—सोम, **राजा**—राजा (प्रकाशमान), **इति वै**—इस रूप मे, **अहम् एतम् उपासे**—मैं इसको जानता हू, **स यः एतम् एवम् उपास्ते**—वह जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, **अहः अहः**—प्रतिदिन, **ह**—निश्चय से, **सुत.**—सवन किया हुआ, **प्रसुत.**—विशिष्ट सवन किया हुआ, **भवति**—(सोम) होता है, **न अस्य अन्नम् क्षीयते**—नही इसका अन्न कम पडता है ॥३॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्सवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति ॥४॥

स. ह उवाच गार्ग्य—उस गार्ग्य ने फिर कहा, **य. एव असौ**—जो ही यह, **विद्युति**—बिजली मे, **पुरुष.**—(व्यापक) पुरुष है, **एतम् एव संवदिष्ठा**—अर्थ पूर्ववत्, **तेजस्वी**—तेजोयुक्त, तेजवाला, **इति वै**—इस रूप मे, **अहम् एतम् उपासे**—मैं इसकी उपासना करता हू, **इति**—यह (कहा), **सः य. एतम् एवम् उपास्ते**—वह जो इसको इस प्रकार जानता है, **तेजस्वी ह भवति**—निश्चय ही तेजस्वी होना है, **तेजस्विनी**—तेजस्वी, **ह अस्य**—निश्चय से इसकी, **प्रजा**—सन्तान, **भवति**—होती है ॥४॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो आकाश में 'आकाश-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह 'पूर्ण' तो है, परन्तु 'अप्रवर्ती' है, इसमें 'प्रवर्तन' कहां है ? यह किसी वस्तु का 'प्रवर्तन', अर्थात् प्रारंभ कहां कर सकता है ? मैं तो इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा और पशुओं से पूर्ण हो जाता है, उसकी सन्तान का इस लोक से विनाश नहीं होता ॥५॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो वायु में 'वायु-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह वायु तो ऐश्वर्य-शाली, बे-रोक-टोक चलने वाली, कभी हार न खाने वाली किसी की सेना है। मैं तो इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सब को जीत जाता

स होवाच गार्ग्य य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्सवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते ॥५॥

सः ह उवाच गार्ग्यः—उस गार्ग्य ने कहा, **यः एव अयम्**—जो ही यह, **आकाशे**—आकाश मे, **पुरुषः**—(व्यापक) पुरुप है, **एतम् संवदिष्ठाः**—अर्थ पूर्ववत्, **पूर्णम्**—(स्वय मे) पूर्ण, **अप्रवर्त्ति**—स्वय गतिशून्य और अन्यो को गति न देनेवाला, **इति वै**—इस रूप मे, **अहम् एतम् उपासे**—मैं इसकी उपासना करता हू, **इति**—यह (उत्तर दिया) **सः यः एतम् एवम् उपास्ते**—वह जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, **पूर्यते**—भरा-पूरा होता है, **प्रजया**—सन्तान से, **पशुभि**—पशुओ से, **न**—नही, **अस्य**—इसकी, **अस्मात् लोकात्**—इस लोक से, **प्रजा**—सन्तान, **उद्वर्तते**—मरती है, नष्ट होती है ॥५॥

स होवाच गार्ग्य य एवाय वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्सवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी ॥६॥

स ह **वायौ**—वायु मे **इन्द्रः**—ऐश्वर्य सम्पन्न, **वैकुण्ठ**—अप्रतिहत (निरन्तर) गतिवाला, **अपराजिता**—न हारनेवाली, सदा विजयी, **सेना**—सैन्य-शक्ति वाला, **जिष्णु**—सदैव विजयी, **ह**—अवश्यमेव, **अपराजिष्णु**

है, किसी से पराजित नहीं होता, और 'अन्यतस्त्य-जायी' अर्थात् शत्रुओं का पराभव कर देता है ॥६॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो अग्नि में 'अग्नि-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो एक सहनशील-शक्ति है, इसमें शुद्ध-अशुद्ध जो डालो सब सह लेती है। मैं तो इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वयं सहनशील हो जाता है, उसकी सन्तान सहनशील हो जाती है ॥७॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो जलों में 'जल-पुरुष' है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो एक अनुकूल-तत्त्व है, सब को भाने वाली वस्तु है। मैं तो इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके सब अनुकूल हो जाता है, प्रतिकूल कुछ नहीं रहता, उसकी सन्तान भी उसके अनुकूल रहती है ॥८॥

—न हारनेवाला, भवति—होता है, अन्यतस्त्य-जायी—शत्रुओं को जीतनेवाला (या अन्य स्वजन-मित्रों को भी जय दिलानेवाला) ॥६॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति ॥७॥

सः ह अग्नौ—अग्नि में, विषासहिः—सहनशक्तिवाला, विषासहिः—सहन-शक्ति में सम्पन्न, ह भवति—निश्चय से होता है, विषासहिः ह अस्य प्रजा भवति—निश्चय ही इसकी सन्तान भी सहोगुण युक्त होती है ॥७॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपं हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥८॥

स. ह अप्सु—जलों में, प्रतिरूपः—सब के अनुकूल, प्रतिरूपम् अनुकूल (वस्तु), ह एव—निश्चय ही, एनम्—इसको, उपगच्छति—प्राप्त होती है, न अप्रतिरूपम्—प्रतिकूल (विरुद्ध) वस्तु नहीं, अथ उ—और, प्रति-

ब्रह्मांड के सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जल से हटकर अब पिंड के देह आदि को ब्रह्म कहते हुए गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो आदर्श, अर्थात् दर्पण में 'प्रतिबिंब-पुरुष' दीखता है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो चमकने वाला काच है जिसमें प्रतिबिंब दीखता है। मैं तो इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वयं चमक उठता है, उसकी सन्तान चमक उठती है, और जिनके संपर्क में वह आता है उन्हें चमका देता है ॥९॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो उपासना-मार्ग में चलते हुए उपासक को अपने पीछे नाद का उदय होता सुनाई देता है, मैं इसे 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो।

रूप—उसके समान गुण-आकृतिवाला, **अस्मात्**—इस (उपासक से), **जायते**—पुत्र उत्पन्न होता है ॥८॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः संनिगच्छति सर्वांस्तानतिरोचते ॥९॥

सः ह **आदर्शे**—दर्पण मे, **पुरुषः**—(प्रतिबिम्ब रूप में) पुरुष, **रोचिष्णुः**—चमकवाला, रुचिकर, सुन्दर, **रोचिष्णुः**—कान्ति-सम्पन्न, **ह भवति**—अवश्य हो जाता है, **रोचिष्णुः ह अस्य प्रजा भवति**—रुचि (प्रीति) करनेवाली ही इसकी सन्तान भी होती है, **अथ उ**—और, **यैः**—जिनके साथ, **संनिगच्छति**—जाता (उठता-बैठता, मेल-मिलाप करता) है, **सर्वान् तान्**—उन सब को (मे), **अति रोचते**—अधिक कान्तिवाला होता है, उनको मन्द-कान्ति कर देता है, या उनको भी अत्यधिक कान्तिसम्पन्न कर देता है ॥९॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाह ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वं हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालात्प्राणो जहाति ॥१०॥

सः ह **यन्तम्**—जाते हुए के, **पश्चात्**—पीछे की ओर, पीछे-पीछे, **शब्दः**—शब्द (आवाज), **अनु+उदेति**—बाद मे उठती है (सुनाई देती है),

अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह तो प्राण की ध्वनि है। मैं तो इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह इस लोक में पूरी आयु भोगता है, इसे समय से पहले प्राण नहीं छोड़ता ॥१०॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो चारो दिशाओ में पुरुष दीख पड़ते हैं, मैं इन्हीं को 'ब्रह्म' मान कर इनकी उपासना करता हूं, आप भी इनको 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, ये तो हमारे-जैसे ही दूसरे पुरुष हैं, इनसे तो अपगमन, अर्थात् छुटकारा हो ही नही सकता। मैं तो इनकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इनकी इस प्रकार उपासना करता है, वह कभी इकला नहीं होता, सदा द्वितीयवान् बना रहता है, और समाज से उसका कभी संबध-विच्छेद नहीं होता ॥११॥

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो त्राटक करते हुए 'छाया-पुरुष' दीखने लगता है, मैं इसी को 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करता हू, आप

असुः—प्राण, सर्वम् ह एव—सारी (सम्पूर्ण) ही, अस्मिन् लोके—इस (पृथिवी) लोक मे, इस जन्म मे, आयुः—आयु को, एति—प्राप्त होता है, न एनम्—नही इसको, पुरा—पहले, कालात्—समय से, (कालात् पुरा—आयु-काल से पहिले), प्राणः—प्राण, जहाति—छोडता है (मरता है) ॥१०॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान् ह भवति नास्माद् गणश्छिद्यते ॥११॥

सः ह दिक्षु—दिशाओ मे, द्वितीयः—दूसरा, साथी वाला, अनपग.—कभी साथ न छोडनेवाला, दूर न जानेवाला, द्वितीयवान्—दूसरे (साथी) से युक्त, ह भवति—स्वय होता है, न—नही, अस्मात्—इस (उपासक) से, गण.—जन-मण्डली (समुदाय), छिद्यते—छूटता है (लोक-सग्रह का कर्ता होता है) ॥११॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वं हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालान्मृत्युरागच्छति ॥१२॥

भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह छाया-पुरुष तो नाशवान् है। मैं तो इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसकी इस लोक में पूरी आयु होती है, और उसे अपने काल से पहले मृत्यु नहीं आती ॥१२॥

गार्ग्य ने अन्त में कहा, यह जो अपने शरीर में 'आत्म-पुरुष' है, मैं इसी को 'ब्रह्म' मान कर उसकी उपासना करता हूं, आप भी इसी को 'ब्रह्म' समझो। अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा मत कहो, यह शरीरगत आत्मा तो स्वयं 'आत्मन्वी' है, आत्मा वाला है। यह आत्मा तो स्वयं किसी दूसरे आत्मा की अपेक्षा कर रहा है, जिसके बिना यह कुछ नहीं कर सकता, तब यह ब्रह्म कैसे हो सकता है? मैं तो इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूं। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह आत्मावाला हो जाता है, उसकी सन्तान आत्मा-वाली हो जाती है। यह सुनकर गार्ग्य चुप होगया ॥१३॥

गार्ग्य को चुप देखकर अजातशत्रु ने कहा, बस, इतना ही जानते थे? गार्ग्य ने कहा, हां, मैं तो इतना ही जानता था। अजातशत्रु ने

सः ह **छायामयः**—मनुष्य की छायारूप, **मृत्युः**—मृत्यु रूप (मरण धर्मा—विनाशी), **सर्वम् एव अस्मिन् लोके आयुः एति**—इस लोक मे सारी आयु को पाता है, **न एनम्**—नही इसको, **पुरा कालात्**—समय से पहले, **मृत्युः**—मौत, **आगच्छति**—आती है ॥१२॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वी ह भवत्या-त्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्य. ॥१३॥

स· ह **आत्मनि**—आत्मा (शरीर) मे, **आत्मन्वी**—आत्मा वाला (शरीरधारी या आत्मा—ब्रह्म—से युक्त), **आत्मन्वी ह भवति**—आत्मा वाला होता है, **आत्मन्विनी ह अस्य प्रजा भवति**—इसकी सन्तान भी आत्मावाली होती है, (तव) **स. ह**—वह, **तूष्णीम्**—चुप, **आस**—हो गया, **गार्ग्य**—गार्ग्य ॥१३॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू३ इत्येतावद्धीति नैतावता विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उप त्वा यानीति ॥१४॥

सः ह उवाच अजातशत्रुः—उस अजातशत्रु ने कहा, **एतावत् नु**—इतना ही

कहा, इतने से 'ब्रह्म' नहीं जाना जाता। गार्ग्य ने कहा, 'उप त्वा यानि'—अर्थात्, तो फिर आप ही मुझे दीक्षा दीजिये ॥१४॥

अजातशत्रु ने कहा, अगर ब्राह्मण क्षत्रिय के पास इस आशा से आये कि क्षत्रिय मुझे 'ब्रह्म' का उपदेश देगा, तो यह 'प्रतिलोम', अर्थात् उल्टी बात होगी, तो भी मैं तुझे ब्रह्म का रहस्य अवश्य समझाऊंगा। यह कहकर अजातशत्रु उसे हाथ से पकड़कर उठ खड़ा हुआ और ले चला। वे दोनो एक सोये हुए पुरुष के पास आ पहुंचे। उसे भिन्न-भिन्न नामो से पुकारने लगे। ऐ छिटकती चांदनी के-से श्वेतवस्त्र धारण करनेवाले! ऐ महान्! ऐ सोम राजा! परन्तु वह नहीं उठा। फिर उसे हाथ से हिलाया, वह जाग गया, और उठकर खड़ा हो गया ॥१५॥

(जानते) हो, इति—यह (कहा), एतावत् हि—इतना ही (जानता हूं), इति—यह (गार्ग्य ने कहा), न—नही, एतावता—इतने से, विदितम्—(वह उपास्य ब्रह्म) ज्ञात होता है, इति—यह (अजातशत्रु ने कहा), सः ह उवाच गार्ग्य—(तब) उस गार्ग्य ने कहा (निवेदन किया), उप त्वा यानि (त्वा उप यानि)—मैं तेरे (पास शिक्षा के लिए) उपस्थित होता हू, इति—ऐसे ॥१४॥

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद् ब्राह्मण. क्षत्रियमुपेयाद्ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयांचक्रे वृहन्पाण्डरवास. सोम राजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिना पेषं वोधयांचकार स होत्तस्थौ ॥१५॥

सः ह उवाच अजातशत्रु—उस अजातशत्रु ने कहा, प्रतिलोमम्—उलटी बात, च—और, एतत्—यह है, यत्—जो, ब्राह्मण.—ब्राह्मण-पुत्र, क्षत्रियम् उपेयात्—क्षत्रिय के पास (शिक्षार्थ) जाये (कि वह क्षत्रिय), ब्रह्म—ब्रह्म-ज्ञान, मे—मुझे, वक्ष्यति—उपदेश करेगा, इति—यह (बात परिपाटी से विरुद्ध है तो भी), वि—विशेष तौर से, एव—ही, त्वा—तुझ को, ज्ञपयिष्यामि—ज्ञात कराऊगा, भली प्रकार समझाऊगा, इति—ऐसा (कहकर), तम्—उस (गार्ग्य) को; पाणौ—हाथ मे, आदाय—लेकर, पकडकर, उत्तस्थौ—उठ खडा हुआ, तौ ह—और वे दोनो, पुरुषम्—एक मनुष्य को, सुप्तम्—सोये हुए, आजग्मतु—पास आये, तम्—उस (मनुष्य) को, एतैः—इन, नामभिः—नामो से, आमन्त्रयांचक्रे—पुकारा, वृहन्—हे वृहन्, वडे, पाण्डरवास.—हे शुभ्रवस्त्रधारी, सोम—हे सोम, राजन्—हे राजन्, इति—ऐसे, स.—वह (सुप्त पुरुष), न—नहीं,

अब अजातशत्रु ने गार्ग्य से कहा, यह 'विज्ञानमय-पुरुष' जब सो रहा था तब कहां था, अब जागने पर कहां से आ गया ? गार्ग्य की समझ में इसका कोई उत्तर न आया ॥१६॥

तब अजातशत्रु ने कहना शुरू किया—यह 'विज्ञानमय-पुरुष' जब सो रहा था तब इन्द्रियो के विज्ञान को, जो इसी का दिया हुआ है, अपने विज्ञान से उसने खीच लिया था, और उस सब विज्ञान को समेटकर, हृदय के भीतर के आकाश में जा सोया था। जब इन्द्रियों के विज्ञान को वह अपने अन्दर खीच लेता है, तब उसे 'स्वपिति' कहते है। कहने को वह 'सो-रहा' कहा जाता है, परन्तु वास्तव में वह 'स्वम्'+'अपीतः', अर्थात् 'अपने स्वरूप मे पहुंचा हुआ' होता है।

उत्तस्थौ—उठा, जागा, **तम्**—उसको, **पाणिना**—हाथ से, **पेषम्**—दबा कर, **बोधयांचकार**—जगाया, **सः ह**—और वह, **उत्तस्थौ**—उठ खडा हुआ ॥१५॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥१६॥

सः ह उवाच अजातशत्रुः—तब उस अजातशत्रु ने कहा, **यत्र**—जहा, जब, **एषः**—यह, **एतत्सुप्तः**—यहा सोया हुआ, **अभूत्**—था, **यः एषः**—जो यह, **विज्ञानमयः**—ज्ञानस्वरूप, ज्ञाता, **पुरुषः**—आत्मा है, **क्व**—कहा, **एषः**—यह, **तदा**—तव, **अभूत्**—था, **कुतः**—कहा से, **एतद्**—यह, यहाँ, **आगात्**—आ गया, **इति**—यह (पूछा), **तद् उ ह**—उस (रहस्य) को, **न**—नही, **मेने**—समझ पाया, **गार्ग्यः**—गार्ग्य ॥१६॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः ॥१७॥

सः ह उवाच अजातशत्रुः—उस अजातशत्रु ने कहा, **यत्र**—जहा, जिस समय मे, **एषः**—यह (मनुष्य), **एतत्-सुप्तः अभूत्**—यह सोया हुआ था, **यः एषः**—जो यह, **विज्ञानमयः**—ज्ञानस्वरूप, साक्षी, **पुरुषः**—जीवात्मा, **तद्**—तो, वहा, **एषाम्**—इन, **प्राणानाम्**—प्राणो (इन्द्रियो) के, **विज्ञानेन**—(अपने) विज्ञान से, **विज्ञानम्**—ज्ञान शक्ति को, **आदाय**—लेकर, **यः एषः**—जो यह, **अन्तः हृदये**—हृदय के अन्दर, **आकाशः**—आकाश है, **तस्मिन्**—उसमे, **शेते**—सो जाता है, **तानि**—उन इन्द्रियो के ज्ञान को, **यदा**—जव, **गृह्णाति**—

उस समय प्राण को 'विज्ञानमय-आत्मा' ने अपने अन्दर पकड़ा होता है, वाणी-चक्षु-श्रोत्र-मन—सबको अन्दर पकड़ा होता है ॥१७॥

उस समय स्वप्न-लीला से जहां-जहां यह विचरता है, वे ही इसके लोक होते हैं। स्वप्न में कभी यह महाराजा बन जाता है, कभी महा-ब्राह्मण, कभी उच्च, कभी नीच। जैसे कोई महाराजा अपने सेवकों को साथ लेकर अपने देश में इच्छानुसार भ्रमण करे, ऐसे ही यह 'विज्ञानमय-पुरुष' इन्द्रियों को लेकर अपने शरीर में इच्छानुसार भ्रमण करता है ॥१८॥

ले लेता (पकड़ लेता) है, अथ ह—तब ही, एतत्पुरुषः—यह (विज्ञानमय) पुरुष, स्वपिति—सोता है (ऐसे), नाम—कहलाता है, तद्—उस समय में, गृहीतः—अन्दर ग्रहण किया हुआ, एव—ही, प्राणः—प्राण, भवति—होता है; गृहीता—पकड़ी हुई, वाग्—वाणी, गृहीतम्—ग्रहण किया हुआ, चक्षुः—नेत्र; गृहीतम्—पकड़ा हुआ, श्रोत्रम्—कान, गृहीतम्—पकड़ा हुआ, मनः—मन (अन्तःकरण) होता है ॥१७॥

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महा-राजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते ॥१८॥

सः—वह (विज्ञानमय आत्मा), यत्र—जिस समय में, एतत्-स्वप्न्यया—इस स्वप्न-पूर्ण नींद से (स्वप्न-वृत्ति से); चरति—गति करता (आचरण करता) है, ते ह—वे ही, अस्य—इसके, लोकाः—स्थिति, कर्मफल, स्थान (होते हैं), तद्—उस समय, उत इव—मानो कभी, महाराजः—महाराज (की तरह), भवति—होता है, उत इव—कभी, महाब्राह्मण—महाब्राह्मण (के समान), उत इव—कभी, उच्च+अवचम्—ऊंची योनि को और कभी निकृष्ट योनि को, गच्छति—प्राप्त होता है, सः यथा महाराजः—वह जैसे महाराज, जानपदान्—देश के नगर-वासियों को, गृहीत्वा—(साथ) लेकर, स्वे—अपने, जनपदे—देश में, यथाकामम्—इच्छानुसार, परिवर्तेत—घूमे-फिरे; एवम् एव—ऐसे ही, एषः—यह विज्ञानमय आत्मा, एतत्+प्राणान्—इन प्राणों (इन्द्रियों) को, गृहीत्वा—लेकर, स्वे शरीरे—अपने शरीर में, यथाकामम्—यथेच्छ, परिवर्तते—घूमता-फिरता है ॥१८॥

स्वप्न से जब 'विज्ञानमय-पुरुष' सुषुप्त हो जाता है, जब कुछ नही जानता, तब क्या होता है? हृदय से ७२ हज़ार नाड़ियां निकलती है जिन्हे 'हिता' कहते है, क्योंकि ये हित करती है। अन्त मे ये जाकर 'पुरीतत' (Capillaries) हो जाती है; इन्हें 'पुरीतत' इस लिए कहा जाता है क्योकि ये शरीर में फैल जाती है। इन 'पुरीतत' नाड़ियो में एक नाड़ी का नाम 'सुषुम्णा' है। सुषुप्तावस्था में सब 'पुरीततों' में से सरककर इसी 'सुषुम्णा' नाम की नाड़ी में यह जा सोता है। जैसे कोई कुमार, कोई महाराजा, कोई महा-ब्राह्मण आनन्द की पराकाष्ठा में पहुंचकर सोये, इसी प्रकार सुषुप्तावस्था में यह 'विज्ञान-घन' आत्मा सोता है। (बृहदा० ४-२-३, ४-३-२०, ४-४-२) ॥१९॥

(परन्तु यह शरीर मे रहने वाला आत्मा तो 'आत्मन्वी' है, किसी अन्य-आत्मा की अपेक्षा करता है, यह विज्ञान-घन किसी अन्य विज्ञान-घन की अपेक्षा करता है। सुषुप्तावस्था मे यह आत्मा जिस महान् आत्मा के पास जा पहुचता है, यह विज्ञान-घन

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥१९॥

अथ यदा—और जब, **सुषुप्तः**—गहरी नीद (सुषुप्ति) मे सोया हुआ, **भवति**—होता है, **यदा**—जब, जिस अवस्था मे, **न**—नही, **कस्यचन**—किसी के सम्बन्ध मे (किसी को, कुछ भी), **वेद**—जानता है, **हिता. नाम**—'हिता' नाम वाली, **द्वासप्ततिः**—बहत्तर, **सहस्राणि**—हजार (सख्या मे), **हृदयात्**—हृदय से, **पुरीततम्**—पुरी (शरीर-नगरी) मे फैलनेवाली या शरीर की, **अभि**—ओर, **प्रतिष्ठन्ते**—चलती है, निकलती है, **ताभिः**—उन (नाडियो) से, **प्रति+अवसृप्य**—लौट कर, **पुरीतति**—पुरीतत् (सुषुम्णा नाडी) मे, **शेते**—सो जाता है (गति बन्द कर देता है), **सः यथा**—वह जैसे, **कुमारः वा**—कोई बालक (राजकुमार), **महाराजः वा**—या महाराज, **महाब्राह्मणः वा**—या कोई महाब्राह्मण, **अतिघ्नीम्**—पराकाष्ठा को, अत्यधिकता को, **आनन्दस्य**—आनन्द की, **गत्वा**—प्राप्त कर, **शयीत**—सो जाये, **एवम् एव**—ऐसे ही, **एषः**—यह, **शेते**—सो जाता (सुषुप्त हो जाता) है॥१९॥

जिस महान् विज्ञान-घन के निकट पहुचकर आनन्द-ही-आनन्द का अनुभव करता है वही 'ब्रह्म' की झाकी है ।)

जैसे मकड़ी अपने तन्तु से नीचे-ऊपर चढ़ती-उतरती है, ऐसे पिंड का विज्ञान-घन-आत्मा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में विज्ञान-रूपी तन्तु के सहारे चढ़ता-उतरता है; जैसे अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियां निकलती है, इसी प्रकार विज्ञान-घन आत्मा से इन्द्रियो का ज्ञान फूटा पड़ता है । जैसे पिंड में विज्ञान-घन 'आत्मा' है, वैसे ब्रह्मांड में विज्ञान-घन 'परमात्मा' है, वही 'ब्रह्म' है, उसी से सब लोक, सब देव, सब भूत प्रस्फुटित होते है । उसका उपनिषत् में नाम 'सत्यस्य सत्यम्'—सत्य का सत्य—है, यह पिंड का आत्मा सत्य है, ब्रह्मांड का आत्मा, आत्मा का आत्मा है, अतः वह 'सत्य का सत्य' है ॥२०॥

(इसी प्रकार का वर्णन बृहदा० ३-९-१० से १७ तक पाया जाता है जिसमे यांज्ञवल्क्य तथा विदग्ध शाकल्य की प्रश्नोत्तरी है । छान्दोग्य ५,११-२४ मे इसी प्रकार की कथा आती है जिसमे कैकेय अश्वपति के निकट प्राचीनशाल औपमन्यव आदि छ: ऋषि 'वैश्वानर'-सम्बन्धी उपदेश लेने गये । आत्मा की जाग्रत् आदि अवस्थाओं का वर्णन माण्डूक्य, छान्दोग्य ८-१२ तथा बृहदा० ४-२ मे भी ऐसा ही है ।)

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवा-स्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥२०॥

सः यथा—वह जैसे, **ऊर्णनाभिः**—मकडी, **तन्तुना**—तन्तु के सहारे से, **उच्चरेत्**—ऊपर जाती है, **यथा**—जैसे, **अग्नेः**—अग्नि के, **क्षुद्राः**—छोटे-छोटे, **विस्फुलिंगाः**—पतगे, **व्युच्चरन्ति**—चारो ओर विखरते (फैल जाते) हैं, **एवम् एव**—ऐसे ही, **अस्माद्**—इस (विज्ञानमय), **आत्मनः**—आत्मा से, **सर्वे प्राणाः**—सारे (पाचो) प्राण, **सर्वे लोकाः**—सारे लोक (अवस्थाए), **सर्वे देवाः**—सारे देव (इन्द्रिया), **सर्वाणि भूतानि**—सारे भूत, **व्युच्चरन्ति**—फैलते है, **तस्य**—उस (आत्मा व परमात्मा) का, **उपनिषद्**—रहस्यमय ज्ञान (यह है कि), **सत्यस्य सत्यम्**—सत्य (सत्तावाले) का भी सत्य (सत्ता-प्रद) है, **इति**—यह (रहस्य) है, **प्राणाः वैः**—प्राण ही, **सत्यम्**—सत्य है, **तेषाम्**—उन (प्राणो) का भी, **एषः**—यह; **सत्यम्**—सत्य है ॥२०॥

द्वितीय अध्याय—(दूसरा ब्राह्मण)
(प्राण की शिशु-रूप कल्पना)

काशीराज अजातशत्रु गार्ग्य को उपदेश देते हुए फिर कहते हैं—

जैसे एक शिशु-रूप छोटे-से बछड़े का, 'आधान' है, शरीर है, जिसमें वह टिका हुआ है, जैसे उसका 'प्रत्याधान' है, आधान का आधान है, अर्थात् जैसे शरीर-रूपी आधान में सिर-रूपी प्रत्याधान टिका हुआ है, जैसे उसकी 'स्थूणा' है, खूंटा है जिसमें वह बंधा है, और जैसे उसकी 'दाम' है, रस्सी है, वैसे जीवात्मा ही एक शिशु-रूप बछड़ा है, यह शरीर उसका 'आधान' है जिसमें वह टिका हुआ है, यह सिर उसका 'प्रत्याधान' है जिसमें ज्ञानेन्द्रियां टिकी हुई हैं, यह प्राण उसका 'खूंटा' है जिस पर वह बंधा हुआ है, यह अन्न उसकी 'रस्सी' है जिसने उसे बांधा हुआ है। जीवात्मा-रूपी शिशु को उसके 'आधान'-'प्रत्याधान'-'खूंटे'-'रस्सी'-सहित जो जान लेता है, और उसे प्राण-रूपी खूंटे से बांध लेता है, वह इसके सात-शत्रुओं को रोक देता है। दो कान, दो आंख, दो नाक, एक जीभ—ये सात ही तो शत्रु हैं! आत्मा-रूपी शिशु को प्राण-रूपी खूंटे के साथ बांधकर उसे प्राण की तरह निर्लेप बनाने के लिये इन्द्रियों के संग-दोष से छूटना आवश्यक है ॥१॥

यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदाम वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि। अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम ॥१॥

यः ह वै—जो ही, **शिशुम्**—नवजात बालक को, **स+आधानम्**—आधान (अधिष्ठान, आधार) के सहित, **स+प्रत्याधानम्**—प्रत्याधान (आधान के भी आधान, आधार के भी आधार) के सहित, **सस्थूणम्**—स्थूणा (थूनी, खूटा, बन्धन-स्थान) के सहित, **सदामम्**—दाम (बाधनेवाली रस्सी) के साथ, **वेद**—जानता है, **सप्त ह**—निश्चय ही सात, **द्विषतः**—द्वेष करनेवाले, **भ्रातृव्यान्**—भतीजो (भय्या-भतीजे रूप बन्धुओ—दायादो) को, **अवरुणद्धि**—रोक देता है, काबू पा लेता है, **अयं वा व**—यह ही, **शिशुः**—नवजात बालक है, **यः**—जो, **अयम्**—यह, **मध्यमः प्राणः**—प्राणो के मध्य मे वर्तमान जीवन-दाता आत्मा है, **तस्य**—उस (शिशु–आत्मा) का, **इदम् एव**—यह शरीर ही,

इतना ही नहीं कि वह इन सात शत्रुओं को रोक देता है, उसे सात 'अक्षितियां'—नाश न होनेवाली शक्तियां—भी प्राप्त हो जाती है। उसकी आंख में स्वयं 'रुद्र'-'पर्जन्य'-'आदित्य'-'अग्नि'-इन्द्र'-'पृथिवी'-'द्यौः'—ये सात देवता मानो उसकी आराधना के लिये आ विराजते है। जो आत्मा को 'शिशु' और 'प्राण' की तरह निर्लेप बना लेता है, उसके आंखों की लाल-लाल रेखाओं में मानो 'रुद्र' आ बैठता है, नेत्र के जलो में मानो 'पर्जन्य', पुतली में मानो 'आदित्य', कालिमा में 'अग्नि', श्वेतिमा में 'इन्द्र', निचली पलक में 'पृथिवी', ऊपरली पलक में 'द्यौ' आ विराजते हैं। ऐसे प्राण सरीखे निर्लेप शिशु की मानो सभी देवता आराधना करने लगते है। जो इस रहस्य को जानता है उसे किसी बात की कमी नही रहती। (इस प्रकरण मे पिड तथा ब्रह्माड का समन्वय दिखाया गया है) ॥२॥

आधानम्—अधिष्ठान (आधार) है, **इदम्**—यह (सिर), **प्रत्याधानम्**—शरीर रूप आधान का आधान है, **प्राणः**—प्राण (श्वास-प्रश्वास, जीवन), **स्थूणा**—खूटा है, **अन्नम्**—अन्न, **दाम**—रस्सी है ॥१॥

तमेता सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन्लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनं रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनका तयादित्यो यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥२॥

तम्—उस (शिशु) को, **एताः**—ये, **सप्त**—सात, **अक्षितयः**—अक्षर (अविनाशी) देव-शक्तिया, **उपतिष्ठन्ते**—उपस्थित (प्राप्त) होती हैं, **तत्**—तो, **याः**—जो, **इमाः**—ये, **अक्षन्**—आख मे, **लोहिन्यः**—लाल, **राजयः**—पक्तिया, रेखाए है, **ताभिः**—उनके द्वारा (रूप मे), **एनम्**—इसको (मे), **रुद्रः**—रुद्र, **अन्वायत्तः**—अनुगत (उपस्थित, विराजमान) है, **अथ**—और, **याः**—जो, **अक्षन्**—आख मे, **आपः**—जल है, **ताभिः**—उनके द्वारा, **पर्जन्यः**—मेघ, **या**—जो, **कनीनिका**—पुतली है, **तया**—उसके द्वारा, **आदित्यः**—सूर्य-देवता, **यत्**—जो, **कृष्णम्**—कालापन (कालिमा), **तेन**—उससे, **अग्निः**—अग्नि, **यत्**—जो, **शुक्लम्**—सफेदी (श्वेतिमा) है, **तेन**—उसके द्वारा, **इन्द्रः**—इन्द्र, **अधरया**—निचली, **एनम्**—इसको (मे), **वर्तन्या**—पलक से, **पृथिवी**—पृथिवी, **अन्वायत्ता**—अनुगत (उपस्थित) है, **द्यौः**—द्यु-लोक, **उत्तरया**—ऊपरली (पलक) से, **न अस्य अन्नम् क्षीयते**—नही इसका अन्न कम होता है, **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥२॥

उसकी आंख में सात 'देवता', और सिर में मानो सात 'ऋषि' आ विराजते है। किसी ने कहा है—सोम-रस का एक चमस है, बर्तन है; इसका मुंह नीचे को है, तला ऊपर को है, इसमें हर प्रकार का यश भरा हुआ है। इस चमस के किनारे सात ऋषि बैठे है, आठवीं वाणी भी वहीं बैठी ब्रह्म का बखान कर रही है। इस उक्ति का अभिप्राय यह है कि नीचे मुंह वाला चमस यह सिर ही है, खोपड़ी का ऊपर का हिस्सा चमस का तला है, नीचे का हिस्सा उसका मुंह है। 'इसमें हर प्रकार का यश भरा हुआ है'—इसका अभिप्राय जीवन-शक्ति से है। इसके किनारे बैठे सात ऋषियो से अभिप्राय दो आंख, दो कान, और दो नाक और एक जिह्वा से है। इन सातों ऋषियों

तदेष श्लोको भवति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहित विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा सविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते॥३॥

तद्—उस विषय मे, **एषः**—यह (पूर्व-प्रचलित), **श्लोकः भवति**—श्लोक है, **अर्वाग्+बिलः**—नीचे की ओर बिल (छिद्र-मुख) वाला, **चमसः**—चमचा (भोग-साधन), **ऊर्ध्व-बुध्नः**—ऊपर को जड (चमचे का पृष्ठ भाग) वाला, ऊपर की ओर आधार वाला, **तस्मिन्**—उस (चमस) मे, **यशः**—यश (कीर्ति), **निहितम्**—रखा (सुरक्षित) है, **विश्वरूपम्**—अनेकविध रूप (प्रकार) वाला, **तस्य**—उस (चमस) के; **आसत**—बैठे हुए है (उपस्थित है), **ऋषयः**—ऋषि (द्रष्टा, ज्ञान प्राप्त करनेवाले), **सप्त**—(सख्या मे) सात, **तीरे**—किनारे पर, **वाग्**—वाणी, **अष्टमी**—आठवी, **ब्रह्मणा**—ब्रह्म (ब्रह्म, ज्ञान) से (के द्वारा), **संविदाना**—सवेदन (सम्यग् ज्ञान) कराती हुई या सवाद करती हुई, **इति**—यह (श्लोक) है, **अर्वाग्-बिलः चमसः ऊर्ध्व-बुध्नः**—नीचे मुखवाला, ऊपर जड (आधार) वाला चमस, **इति**—यह (जो कहा है उसका तात्पर्य यह है कि), **इदम्**—यह, **तत्**—वह, **शिर.**—सिर (रूप चमस) है, **एषः हि**—यह ही, **अर्वाग् बुध्न**—नीचे जडवाला है, **तस्मिन् यश. निहितम् विश्वरूपम्**—उसमे विश्वरूप यश रखा है, **इति**—यह (जो वाक्य है, उसमे 'यश' का अर्थ है), **प्राणाः वै**—प्राण ही, **यशः विश्वरूपम्**

के साथ आठवीं वाणी बैठी हुई है, जो ब्रह्म-ज्ञान की घोषणा कर रही है। (इसी को सहस्रार ब्रह्मलोक भी कहा जाता है) ॥३॥

जैसे आंख में सात देवता आ उतरे थे, वैसे सिर में सात इन्द्रियों का होना मानो सात ऋषियो का आ विराजना है। ये दोनो कान गोतम और भरद्वाज ऋषि है, दायां कान मानो गोतम, बायां कान मानो भरद्वाज है; ये दोनो नेत्र विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषि है, दायां नेत्र विश्वामित्र और बायां नेत्र जमदग्नि है; ये दोनो नासिकाएं वसिष्ठ और कश्यप है, दायीं नासिका वसिष्ठ और बायीं कश्यप है; वाणी अत्रि ऋषि है, वाणी से अन्न खाया जाता है और अत्रि भी 'अत्ति' से बनता है, जो खाता है वह अत्रि है। जो इस रहस्य को जानता है वह सब पदार्थों को अन्न की तरह भोगता है, और प्रत्येक वस्तु उसका अन्न की तरह भोग्य हो जाती है ॥४॥

—विश्वरूप यश है, **प्राणान्**—प्राणो को (के विषय मे), **एतद् आह**—यह कहा गया है, **तस्य आसत ऋषयः सप्त तीरे**—उसके किनारे पर सात ऋषि बैठे हुए हैं, **इति**—इस (वाक्य) मे, **प्राणाः वै**—प्राण (इन्द्रिया) ही, **ऋषयः**—(सात) ऋषि हैं, **प्राणान्**—प्राण (इन्द्रियो) के विषय मे, **एतद् आह**—यह (वाक्य) कहता है, **वाग् अष्टमी ब्रह्मणा संविदाना**—ब्रह्म के साथ (द्वारा) सम्यग् ज्ञान कराती हुई या सवाद करती हुई आठवी वाणी है, **इति**—इस (वाक्य मे), **वाग् हि**—वाणी ही, **अष्टमी**—आठवी, **ब्रह्मणा**—ब्रह्म से, ज्ञान से (द्वारा), **संवित्ते**—सम्यग्-ज्ञान कराती है ॥३॥

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥४॥

इमौ—ये दोनो (कान), **एव**—ही, **गौतम-भरद्वाजौ**—गोतम और भरद्वाज (सज्ञक) ऋषि) हैं, **अयम्**—(इनमे से) यह एक, **एव**—ही, **गोतमः**—गोतम (नामी) है, **अयम्**—यह एक, **भरद्वाजः**—भरद्वाज (नामी) है, **इमौ एव**—ये दोनो (नेत्र) ही, **विश्वामित्र-जमदग्नी**—विश्वामित्र और जमदग्नि (सज्ञक) ऋषि हैं, **अयम् एव**—यह एक ही, **विश्वामित्रः**—विश्वामित्र है, **अयम् जमदग्निः**—और एक यह जमदग्नि (ऋषि) है, **इमौ एव**—ये दोनो (नासिका-छिद्र) ही, **वसिष्ठ-कश्यपौ**—वसिष्ठ और कश्यप नामी ऋषि हैं,

द्वितीय अध्याय—(तीसरा ब्राह्मण)

(ब्रह्म के दर्शन)

अजातशत्रु ने उपदेश जारी रखते हुए फिर कहना शुरू किया —

ब्रह्म के दो ही रूप है, 'मूर्त' तथा 'अमूर्त', 'मर्त्य' तथा 'अमृत', 'स्थित' तथा 'यत्', अर्थात् ठहरा हुआ और चलने वाला, 'सत्' तथा 'त्यत्'—यह तथा वह—अर्थात् प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ॥१॥

वायु तथा अन्तरिक्ष से भिन्न जो-कुछ दीख रहा है, यही ब्रह्म का मूर्त-रूप है, यही मर्त्य-रूप है, यही स्थित-रूप है, यही सद्-रूप है, प्रत्यक्ष-रूप है। इस मूर्त, इस मर्त्य, इस स्थित, इस सत्, इस प्रत्यक्ष रूप का रस, इसका निचोड़ यह तपने वाला 'सूर्य' है। ब्रह्म

अयम् एव वसिष्ठः—इनमें से यह एक वसिष्ठ ऋषि है, **अयम् कश्यपः**—एक कश्यप ऋषि है, **वाग् एव**—वाणी (जिह्वा) ही, **अत्रिः**—अत्रि (नामी) ऋषि है, **वाचा हि**—क्योंकि वाणी (जिह्वा) द्वारा, **अन्नम्**—भोजन, **अद्यते**—खाया जाता है, **अत्तिः**—अदन (भोजन-क्रिया का) करनेवाला, **ह वै**—ही, **नाम**—वाचक (सञ्ज्ञा का रूप), **एतद्**—यह है, **यद्**—जो, **अत्रिः**—'अत्रि' पद है, **इति**—यह (जाने), **सर्वस्य**—सब (अन्न) का, **अत्ता**—भोक्ता (अन्नाद), **भवति**—होता है, **सर्वम् अस्य अन्नम् भवति**—सब ही अन्न इसको प्राप्त होता है, **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥४॥

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं
चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥१॥

द्वे—दो, **वा व**—ही, **ब्रह्मणः**—ब्रह्म के, **रूपे**—रूप (आकृतियां, परिचायक) है, **मूर्तम् च**—एक मूर्त (साकार, सगुण), **एव**—ही, **अमूर्त्तम् च**—और अमूर्त (निराकार, निर्गुण), **मर्त्यम् च**—एक मर्त्य (मरणशील), **अमृतम् च**—और दूसरा अमृत (अमर), **स्थितम् च**—एक स्थिर (स्थायी), **यत् च**—और दूसरा 'यत्' (गतिशील), **सत् च**—सत् (सामने विद्यमान–प्रत्यक्ष), **त्यत् च**—और दूसरा त्यत् (दूर विद्यमान–परोक्ष) ॥१॥

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थि-
तमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यै-
तस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः ॥२॥

तद्—तो, **एतद्**—यह, **मूर्त्तम्**—मूर्त (रूप) है, **यत्**—जो, **अन्यत्**—भिन्न (के अलावा), **वायोः च**—वायु से, **अन्तरिक्षात् च**—और अन्तरिक्ष से,

के प्रत्यक्ष रूप का रस, उसका सार, उसका निचोड़, उसके सब प्रत्यक्ष-रूपो का प्रतीक सूर्य है। वैसे तो ब्रह्म प्रत्येक मूर्त-रूप में प्रत्यक्ष हो रहा है, परन्तु उसके मूर्त-रूपों की चरम-सीमा सूर्य है; सूर्य मानो ब्रह्म का महा-प्रत्यक्ष रूप है ।।२।।

वायु तथा अन्तरिक्ष ब्रह्म के अमूर्त-रूप हैं, ये अमृत-रूप हैं, यत्-रूप हैं, त्यत्-रूप हैं, परोक्ष रूप हैं। इन अमूर्त, अमृत, यत्, त्यम्, परोक्ष-रूपों का रस, उनका निचोड़ इस सौर-मंडल का अधिष्ठाता 'पुरुष' है। ब्रह्म के परोक्ष-रूप का रस, उसका सार, उसका निचोड़, उसके सब परोक्ष-रूपों का प्रतीक वह पुरुष है, जो छोटी-छोटी वस्तुओं का नियन्त्रण तो कर ही रहा है, परन्तु साथ ही इस महान् सौर-मंडल का भी नियन्त्रण कर रहा है। ब्रह्मांड में ये ब्रह्म के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष-रूपों के दर्शन हैं ।।३।।

एतत्—यह रूप, **मर्त्यम्**—मरणशील, विनाशी है, **एतत्**—यह ही, **स्थितम्**—स्थिर (स्थायी, अगतिशील), **एतत्**—यह ही, **सत्**—प्रत्यक्ष है, **तस्य एतस्य**—उस-इस, **मूर्त्तस्य**—मूर्त (रूप) का, **एतस्य मर्त्यस्य**—इस मर्त्य (विनाशी) का, **एतस्य स्थितस्य**—इस अप्रगतिशील का, **एतस्य सतः**—इस सत् (प्रत्यक्ष) रूप का, **एषः रसः**—यह ही सार, प्रत्यक्ष (प्रतीक) रूप है, **यः एषः**—जो यह, **तपति**—तप रहा है, प्रकाशमान है, **सतः हि एषः रसः**—क्योंकि यह सत् (प्रत्यक्ष) का यह रस (सार-प्रतीक) है ।।२।।

अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यं तस्यैतस्यामूर्त-स्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एत-स्मिन्मण्डले पुरुषस्त्यस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम् ।।३।।

अथ—और, **अमूर्तम्**—(उसका) अमूर्त (निराकार) रूप; **वायुः च**—वायु, **अन्तरिक्षम् च**—और अन्तरिक्ष है, **एतद् अमृतम्**—यह ही अमर (अक्षर) है, **एतत् यत्**—यह ही 'यत्' (प्रगतिशील) है, **एतत् त्यम्**—यह ही 'त्य' (परोक्ष) है, **तस्य एतस्य अमूर्त्तस्य**—उस इस अमूर्त (निराकार, नीरूप) का, **एतस्य अमृतस्य**—इस अमर (अविनाशी) का, **एतस्य**—इस, **यतः**—गतिशील का, **एतस्य**—इस; **त्यस्य**—'त्य' (परोक्ष) का, **एषः रसः**—यह सार है, **यः एष**—जो यह, **एतस्मिन्**—इस, **मण्डले**—सूर्य-मण्डल मे, **पुरुष.**—पुरुष (आत्मा) है, **त्यस्य हि**—उस 'त्य' (परोक्ष) का ही, **एष. रसः**—यह सार है, **इति**—यह (मीमासा), **अधिदैवतम्**—(ब्रह्माण्ड-गत) देवता-सम्बन्धी है ।।३।।

पिंड में, प्राण तथा हृदयाकाश से भिन्न जो-कुछ दीख रहा है, यही ब्रह्म का मूर्त, मर्त्य, स्थित, सत् और प्रत्यक्ष-रूप है। इस मूर्त, मर्त्य, स्थित, सत् और प्रत्यक्ष-ब्रह्म का रस चक्षु है । सद्-रूप ब्रह्म का, अर्थात् दीख रहे ब्रह्म का चक्षु मानो रस है, अर्थात् चक्षु मानो ब्रह्म का पिंड में साक्षात्-दर्शन का रस है ।।४।।

प्राण तथा हृदयाकाश पिंड में दर्शन देने वाले ब्रह्म के अमूर्त-रूप] हैं, ये अमृत, यत्, त्यम्, परोक्ष-रूप हैं । इन अमूर्त, अमृत, यत्, त्यम्, परोक्ष-रूपो का रस दायीं आंख के भीतर दीखने वाला पुरुष है । उस 'त्यम्' का, उस छिप कर आंख के भीतर से झांकने वाले का 'चक्षु' मानो रस है ।।५।।

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः ।।४।।

अथ—और, **अध्यात्मम्**—आत्मा (पिण्ड) सम्बन्धी (व्याख्या यह है), **इदम् एव**—यह (शरीर-पिण्ड) ही, **मूर्तम्**—मूर्त्त (रूप) है, **यद्**—जो, **अन्यत्**—भिन्न, अलावा, **प्राणात् च**—प्राण (श्वास-प्रश्वास या इन्द्रियो) से, **यः च**—और जो, **अयम्**—यह, **अन्तः आत्मन्**—(हृदय) के अन्दर, **आकाशः**—आकाश है, **एतत् मर्त्यम्**—यह ही मर्त्य है, **एतत् स्थितम्**—यह ही स्थिर है, **एतत् सत्**—यह ही 'सत्' (प्रत्यक्ष) है, **तस्य रसः**—अर्थ पूर्ववत्, **यत् चक्षुः**—जो नेत्र है, **सतः हि एषः रसः**—यह ही 'सत्' का सारभूत है ।।४।।

अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यं तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येष रसः ।।५।।

अथ—और, **अमूर्तम्**—(पिण्ड मे) अमूर्त, **प्राणः च**—प्राण, **यः च अयम्**—और जो यह, **अन्तः आत्मन्**—हृदय के अन्दर, **आकाशः**—आकाश है, **एतद् अमृतम्**—यह अमर है, **एतद् यत्**—यह ही गतिशील है, **एतत् त्यम्**—यह ही 'त्य' (परोक्ष) है, **तस्य रसः**—अर्थ पूर्ववत्, **यः अयम्**—जो यह, **दक्षिणे**—दाहिनी, **अक्षन्**—आख मे, **पुरुषः**—पुरुष (आत्मा) है, **त्यस्य**—उस 'त्य' (परोक्ष) का, **हि एषः रसः**—ही यह रस है ।।५।।

समाधि-अवस्था में उपासक को ब्रह्म का जो रूप दीख पड़ता है, वह ऐसा है, जैसे केसर के रंग से रंगा महा-वस्त्र हो, पांडु-वर्ण की ऊन हो, वीर-वहूटी की लालिमा की तरह, अग्नि की ज्वाला की तरह, श्वेत पुंडरीक की तरह, एक वार की विद्युत् की लपट की तरह। जो इस रहस्य को जानता है, उसकी शोभा विद्युत् के एक सकृत्-प्रकाश की भांति हो जाती है। वस, इसके आगे ब्रह्म के विषय में 'नेति'-'नेति' का ही आदेश है। इससे वढ़कर अन्य कुछ है ही नहीं। प्राणों को मनुष्य सव कुछ समझता है, इन्हें सत्य मानता है। अगर प्राण सत्य है, तो वह प्राणों का प्राण है, सत्यों का सत्य है, उसका नाम है—'सत्यस्य सत्यम्' (कुंडलिनी के जागरण की ये अवस्थाए है) ॥६॥

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं, यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तं सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥६॥

तस्य ह एतस्य—उस ही इस, **पुरुषस्य**—पुरुष का; **रूपम्**—रूप (ऐसा है), **यथा**—जैसे, **माहारजनम्**—हल्दी से रंगा (केसर-वर्ण का), **वास.**—कपडा हो, **यथा**—जैसे, **पाण्डु+आविकम्**—शुभ्र भेड़ की ऊन हो, **यथा**—जैसे, **इन्द्रगोपः**—वीर वहूटी (का रूप) हो, **यथा**—जैसे, **अग्नि+अर्चिः**—आग की लपट हो; **यथा**—जैसे, **पुण्डरीकम्**—श्वेत कमल हो, **यथा**—जैसे, **सकृद्**—एक वार (एक दम), **विद्युत्तम्**—विजली की चमक हो, **सकृद् विद्युत्ता इव**—एक-दम चमकी विद्युत् की तरह, **ह वै**—निश्चय ही, **अस्य**—इस (ज्ञानी) की; **श्रीः**—शोभा, कान्ति, **भवति**—होती है; **य. एवम् वेद**—जो ऐसे जान लेता है, **अथ अत.**—इस (ब्रह्म-निरूपण) के अनन्तर, **आदेशः**—यह (रहस्य-उपदेश) है; **न इति न इति**—यह भी (ब्रह्म) नहीं, यह भी (ब्रह्म) नही (ऐसे ही निरूपण किया जा सकता है), **न हि एतस्मात्**—नही ही इस (ब्रह्म) से (वढकर श्रेष्ठ है); **इति**—यह (पहला 'न' आदेश है), **न इति**—नही ऐसे (दूसरे 'न' द्वारा आदेश है कि), **अन्यत्**—कोई और, **परम्**—श्रेष्ठ (वढकर), **अस्ति**—है, **अथ**—और, **नामधेयम्**—(उसका) नाम है, **सत्यस्य सत्यम्**—सत्य का सत्य—परम सत्य, **इति**—यह, **प्राणा. वै सत्यम्**—प्राण ही 'सत्य' है, **तेषाम्**—उन (प्राणो) का, **एषः**—यह 'पुरुष', **सत्यम्**—सत्य है ॥६॥

द्वितीय अध्याय--(चौथा ब्राह्मण)
(याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद, ४,५ ब्राह्मण)

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी का संवाद इसी उपनिषद् के ४ अध्याय ५ ब्राह्मण मे दुबारा आया है। हम उसे वहा न लिखकर यही लिखते है --

याज्ञवल्क्य जब अपने आश्रम को छोड़कर जाने लगे, तो उन्होंने मित्रा की पुत्री मैत्रेयी से कहा---देखो, मे इसी गृहस्थाश्रम में पड़े रहना नही चाहता, मे ऊपर उठना चाहता हूं। आओ, तुम्हारा कात्यायनी के साथ निपटारा करा दूं ॥१॥

मैत्रेयी ने कहा, भगवन्! अगर यह सारी पृथिवी वित्त से पूर्ण होकर मेरी हो जाय, तो 'कथं तेन अमृता स्याम्'---तो कैसे मै उससे

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थाना-दस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥१॥

मैत्रेयि---हे मैत्रेयि!, **इति ह**---ऐसे, **उवाच**---कहा, **याज्ञवल्क्यः**---यज्ञवल्क (यज्ञ-वक्ता) के पुत्र याज्ञवल्क्य ने, **उद्यास्यन्**---ऊपर उठने वाला, छोडनेवाला, **वै**---निश्चय ही, **अरे**---अरी!, **अहम्**---मैं, **अस्मात्**---इस, **स्थानात्**---स्थान (आश्रम) से, गृहस्थ-आश्रम से, **अस्मि**---हू, **हन्त**---तो, **ते**---तेरा, **अनया**---इस; **कात्यायन्या**---(तेरी सपत्नी) कात्यायनी से, **अन्तम्**---(जायदाद का) फैसला, विभाजन, **करवाणि**---कर दू, **इति**---यह (कहा) ॥१॥

सा होवाच मैत्रेयी, यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति, नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति वित्तेनेति ॥२॥

सा ह उवाच मैत्रेयी---उस मैत्रेयी ने (उत्तर में) कहा, **यत् नु**---जो तो, अगर, **मे**---मेरी, मेरे लिए, **इयम्**---यह, **भगोः**---हे (पति देव!), **सर्वा**---सारी, **पृथिवी**---पृथिवी, **वित्तेन**---धन-धान्य से, **पूर्णा**---भरी-पूरी, **स्यात्**---हो, मिल जाय, **कथम्**---कैसे, क्या, **तेन**---उस (धन-धान्य) से, **अमृता**---अमर, **स्याम्**---हो जाऊगी, **इति**---यह (कहा), **न**---नही ही, **इति**---ऐसे, **ह**---बल देकर, **उवाच**---कहा, **याज्ञवल्क्यः**---याज्ञवल्क्य ने, **यथा एव**---जैसा ही, **उपकरणवताम्**---सर्वसाधन-सम्पन्न पुरुषो का, **जीवितम्**---जीवन (रहन-

अमर हो जाऊंगी ? याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, उस अवस्था में, जैसे साधन-सम्पन्न व्यक्ति चैन से जीवन निर्वाह करते हैं, वैसे तुम्हारा जीवन होगा, 'अमृतत्वस्य तु न आशा अस्ति वित्तेन'—धन-धान्य से अमरता पाने की तो आशा नहीं हो सकती ॥२॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, हे मैत्रेयी ! धन-ऐश्वर्य से वह अमृत ब्रह्म प्राप्त नहीं होता

सहन) होता है, तथा एव—वैसा ही, ते—तेरा, जीवितम्—जीवन, स्यात्—होगा, अमृतत्वस्य—अमरता (मुक्ति) की, तु—तो, न—नहीं, आशा—आशा, सभावना, अस्ति—है; वित्तेन—धन-धान्य से, इति—यह (कहा) ॥२॥

मैत्रेयी ने कहा,'येन अहं न अमृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्'—जिस से मैं अमर न हो सकूं, उसे लेकर मैं क्या करूं ? भगवन्! अमर होने का जो रहस्य आप जानते हो, मुझे तो उसी का उपदेश दीजिये ॥३॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, तू तो मेरी प्रिय है, और बड़ा प्रिय वचन बोल रही है। आ, बैठ, मैं तुझे सब खोलकर समझाता हूं, ज्यों-ज्यों मैं बोलता जाऊं, मेरी बात ध्यान देकर सुनते जाना ॥४॥

फिर उसने कहना शुरू किया—अरे, पति की कामना के लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने आत्मा की कामना के लिये पति प्रिय

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं
तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥३॥

सा ह उवाच मैत्रेयी—उस मैत्रेयी ने फिर कहा, **येन**—जिस (धन-धान्य) से, **अहम्**—मैं, **न**—नही, **अमृता**—अमर, **स्याम्**—होऊं, **किम् अहम्**—क्या मैं, **तेन**—उस (धन) से, **कुर्याम्**—कर सकूंगी, (**तेन कुर्याम्**—उस धन को पाकर क्या फल पाऊंगी), **यद् एव**—जो ही, **भगवान्**—आदरणीय आप, **वेद**—जानते हो, **तद् एव**—उसको ही, **मे**—मुझे, **ब्रूहि**—कहे, उपदेश करे, **इति**—यह (निवेदन किया) ॥३॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व
व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥४॥

सः ह उवाच याज्ञवल्क्यः—उस याज्ञवल्क्य ने कहा, **प्रिया**—परम प्रिय, **बत**—तो, **अरे**—अरी !, **नः**—हमारी, **सती**—होती हुई, **प्रियम्**—प्रिय (वचन), **भाषसे**—कहती है, **एहि**—आ, **आस्स्व**—बैठ, **व्याख्यास्यामि**—व्याख्या (स्पष्ट) करूंगा, बताऊंगा, **ते**—तुझे, तेरे प्रति, **व्याचक्षाणस्य**—व्याख्या करने वाले, **तु**—तो, **मे**—मेरे (वचन को), **निदिध्यासस्व**—विशेष (सम्पूर्णतया) ध्यान करना, ध्यान से सुनना, **इति**—यह (आश्वासन दिया) ॥४॥

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु
कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया
प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे
पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया
भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु
कामाय वित्तं प्रियं भवति । न वा अरे ब्रह्मण कामाय ब्रह्म प्रियं
भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य
कामाय क्षत्र प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति ।

होता है; अरे, पत्नी की कामना के लिये पत्नी प्रिय नहीं होती, अपने आत्मा की कामना के लिये पत्नी प्रिय होती है; अरे, पुत्रो की कामना के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने आत्मा की कामना के लिये पुत्र प्रिय होते हैं; अरे, वित्त की कामना के लिये वित्त प्रिय नहीं होता, अपने आत्मा की कामना के लिये वित्त प्रिय होता है; अरे, ब्राह्म-शक्ति की कामना के लिये ब्रह्म प्रिय नही होता, अपनी आत्मा की कामना के लिये ब्रह्म प्रिय होता है; अरे, क्षात्र-शक्ति की कामना के लिये क्षत्र प्रिय नहीं होता, अपने आत्मा की कामना के लिये क्षत्र प्रिय होता है; अरे, लोकों की कामना के लिये लोक प्रिय नहीं होते, अपने आत्मा की कामना के लिये लोक

न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवा प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदँ सर्वं विदितम् ॥५॥

सः ह—उस (याज्ञवल्क्य) ने, **उवाच**—कहा, **न वै**—नही तो, **अरे**—अरी !, **पत्युः**—पति की, **कामाय**—कामना (स्वार्थ) के लिए, **पतिः प्रियः भवति**—पति प्यारा होता है, **आत्मनः तु**—अपने (आत्मा के) तो, **कामाय**—स्वार्थ के लिए; **पतिः प्रियः भवति**—पति प्रिय होता है, **न वै अरे**—अरी ! नही तो, **जायायै**—पत्नी के, **कामाय**—स्वार्थ के लिए, **जाया**—पत्नी, **प्रिया भवति**—प्यारी होती है, **आत्मनः तु कामाय**—अपने स्वार्थ के लिए, **जाया प्रिया भवति**—पत्नी प्रेमपात्र होती है, **न वै अरे**—अरी (मैत्रेयि) ! नही तो, **पुत्राणाम्**—पुत्रो के, **कामाय**—चाहना (इच्छा-पूर्ति, स्वार्थ) के लिए, **पुत्राः प्रिया. भवन्ति**—पुत्र प्यारे होते हैं, **आत्मनः तु कामाय**—अपनी इष्ट-पूर्ति के लिए, **पुत्रा. प्रियाः भवन्ति**—पुत्र प्यारे होते हैं, **न वै अरे**—नही तो, **वित्तस्य**—धन की; **कामाय**—स्वार्थ के लिए, **वित्तम् प्रियम् भवति**—धन प्रिय होता है, **आत्मनः तु कामाय**—अपनी इष्ट-पूर्ति के लिए, **वित्तम् प्रियम् भवति**—धन प्रिय होता है; **न वै अरे**—नही ही तो अरी !, **ब्रह्मण.**—ब्रह्म (वेद-ज्ञान या ब्राह्मण) के, **कामाय**—स्वार्थ के लिए, **ब्रह्म**—ब्रह्म (वेद-ज्ञान, ब्राह्मण), **प्रियम्**

प्रिय होते हैं; अरे, देवों की कामना के लिये देव प्रिय नहीं होते, अपने आत्मा की कामना के लिये देव प्रिय होते हैं; अरे, भूतो की कामना के लिये भूत प्रिय नही होते, अपने आत्मा की कामना के लिये भूत प्रिय होते हैं; अरे, इस सब-कुछ की कामना के लिये यह सब-कुछ प्रिय नही होता, अपने आत्मा की कामना के लिये यह सब-कुछ प्रिय होता है। जिस आत्मा के लिये यह सब प्रिय होता है, अरे, वह आत्मा ही तो द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है, मन्तव्य है, निदिध्यासितव्य है---उसी को देख, उसी को सुन, उसी को जान, उसी का ध्यान कर। अरे मैत्रेयी ! आत्मा के ही देखने से, सुनने से, समझने से और जानने से सब गांठें खुल जाती हैं ॥५॥

भवति—प्रिय होता है, **आत्मनः तु कामाय**—अपने (आत्मा के) स्वार्थ के लिए, **ब्रह्म प्रियम् भवति**—ब्रह्म प्रिय होता है, **न वै अरे**—नही तो हे मैत्रेयि !, **क्षत्रस्य**—क्षात्र-धर्म या क्षत्रिय के, **कामाय**—लाभ के लिए, **क्षत्रम् प्रियम् भवति**—क्षात्र-धर्म या क्षत्रिय प्रिय होता है, **आत्मनः तु कामाय**—अपने लाभ के लिए, **क्षत्रम् प्रियम् भवति**—क्षात्र-धर्म या क्षत्रिय प्रिय होता है, **न वै अरे**—नही तो, **लोकानाम्**—लोको की, **कामाय**—स्वार्थ-पूर्ति के लिए, **लोका प्रियाः भवन्ति**—लोक प्यारे होते है, **आत्मनः तु कामाय लोकाः प्रियाः भवन्ति**—अपने स्वार्थ के लिए लोक प्यारे होते हैं, **न वै अरे**—नही तो, **देवानाम् कामाय**—देवताओ (विद्वानो) के स्वार्थ-निमित्त से, **देवाः प्रियाः भवन्ति**—देव-गण प्रिय होते है, **आत्मनः तु कामाय**—अपने स्वार्थ-निमित्त से, **देवाः प्रियाः भवन्ति**—देव-गण प्रिय होते है, **न वै अरे**—नही तो, **भूतानाम्**—चर-अचर भूतो के, **कामाय**—कामना के लिए, **भूतानि प्रियाणि भवन्ति**—भूत (प्राणी) प्रिय होते है, **आत्मनः**

भवन्ति—अपने स्वार्थ के लिए भूत प्रिय होते है, **न वै अरे**—नही तो, **सर्वस्य**—सब जगत् के, **कामाय**—स्वार्थ के लिए, **सर्वम् प्रियम् भवति**—सब प्रिय होता है, **आत्मनः** **भवति**—अपने ही स्वार्थ के लिए सब प्रिय होता है, **आत्मा वै**—आत्मा को ही, **अरे**—अरी !, **द्रष्टव्यः**—देखना (जानना) चाहिये, **श्रोतव्यः**—(उसकी चर्चा-व्याख्यान) सुनना चाहिए, **मन्तव्यः**—(उस पर) मनन-चिन्तन करना चाहिए, **निदिध्यासितव्यः** (उसका ही) विशेष ध्यान रखना चाहिए, **मैत्रेयि**—हे मैत्रेयि !, **आत्मनः**—आत्मा (आत्म-स्वरूप) के, **दर्शनेन**—दर्शन (ज्ञान) से, **श्रवणेन**—(उपदेश) सुनने से, **मत्या**—मनन करने से, **विज्ञानेन**—पूर्णतया जान लेने से, **इदम् सर्वम्**—यह सब (चराचर-जगत्), **विदितम्**—ज्ञात हो जाता है, सब-कुछ प्राप्त हो जाता है ॥५॥

इस अपने भीतर के आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जो ब्राह्म-शक्ति को आत्मा से भिन्न जानता है, उसे ब्राह्म-शक्ति त्याग देती है; जो क्षात्र-शक्ति को आत्मा से भिन्न जानता है, उसे क्षात्र-शक्ति त्याग देती है; जो लोकों को आत्मा से भिन्न समझता है, उसे लोक त्याग देते हैं; जो देवों को, भूतो को, इस सब-कुछ को आत्मा से भिन्न समझता है, उसे देव, भूत, यह सब-कुछ त्याग देता है। आत्मा ही ब्राह्म-शक्ति है, यही क्षात्र-शक्ति है, यही लोक है, यही देव है, यही भूत है, यह आत्मा ही सब-कुछ है, इसलिये इसी की कामना के लिये सब प्रिय होता है—इसलिये आत्मा को जानो, आत्मा को जानो ॥६॥

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रा-त्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद भूतानि त परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा ॥६॥

ब्रह्म—वेद, ज्ञान, ब्राह्मण, **तम्**—उसको, **परादात्** (परा+अदात्)—त्याग देता है, छोड देता है, **य.**—जो, **अन्यत्र**—दूसरे (स्थान) मे, **आत्मन.**—आत्मा मे, **ब्रह्म**—वेद (ज्ञान) को, ब्राह्म-शक्ति को, **वेद**—जानता है, **क्षत्रम्**—क्षात्र-शक्ति, त्राण-शक्ति, **तम् परादात्**—उसको छोड़ देती है, **य.**—जो, **अन्यत्र आत्मन.**—आत्मा से अलग अन्य स्थान मे (स्थित), **क्षत्रम्**—रक्षा-शक्ति को, **वेद**—समझता है, **लोकाः**—लोक (जनता), **तम्**—उसको, **परादुः** (परा+अदुः)—छोड जाती है, **यः अन्यत्र आत्मनः**—जो अपने से अलग, **लोकान् वेद**—लोको (जन-सामान्य) को जानता है, **देवा.**—देव-गण (आदित्य आदि), इन्द्रिया, प्राण आदि, **तम् परादु.**—उसको त्याग देते है (अपने से वचित कर देते है); **यः अन्यत्र आत्मनः**—जो अपने आत्मा मे अलग, **देवान् वेद**—देवो को जानता है, **भूतानि**—पचमहाभूत एव प्राणी, **तम् परादुः**—उसको छोड देते है; **य. अन्यत्र आत्मन**·—जो अपने आत्मा से अन्यत्र, **भूतानि वेद**—भूतो को जानता है, **सर्वम्**—सब कुछ ही, सब ही; **तम् परादात्**—उसको छोड़ जाते है, **य. आत्मनः अन्यत्र**—जो आत्मा से भिन्न स्थान मे, **सर्वम् वेद**—सब को जानता है, **इदम् ब्रह्म**—यह ज्ञान, **इदम् क्षत्रम्**—यह क्षात्र-कर्म, **इमे लोकाः**—ये लोक (जनता), **इमे देवाः**—ये देव (विद्वान् पुरुष, इन्द्रिया), **इमानि भूतानि**—ये सब भूत (पच महाभूत, प्राणी), **इदम् सर्वम्**—ये सब कुछ, **यद् अयम् आत्मा**—

दुन्दुभि पर जब चोट देते है, तब उससे शब्द निकल-निकल कर बाहर आते है। इन शब्दो को अलग-से नही पकड़ा जा सकता। इन्हें पकड़ना हो, तो दुन्दुभि को पकड़ लो, या दुन्दुभि को चोट देने वाले को पकड़ लो, और बस, यह ढोल-का-सा तमोगुणी शब्द पकड़ा जाता है। ठीक इसी तरह आत्मा इन्द्रिय-रूपी दुन्दुभि को पीट कर संसार के ढोल-के-से तमोगुण-रूपी शब्द उत्पन्न कर रहा है। संसार को पकड़ना हो, तो इन्द्रियों को पकड़ लो, और उससे बढ़ कर आत्मा को पकड़ लो ॥७॥

शंख जब पूरा जाता है, तो उससे निकले हुए शब्दों को अलग-से नहीं पकड़ा जा सकता। इन्हें पकड़ना हो, तो शंख को पकड़ लो, या शंख को पूरने वाले को पकड़ लो, और बस, यह शंख-का-सा रजोगुणी शब्द पकडा जाता है। इसी प्रकार संसार के शंख-के-से रजोगुण-रूपी शब्द को पूरने वाले आत्मा को पकड़ लो, उसी ने यह शंख पूर रखा है ॥८॥

जो यह आत्मा है (ये सब आत्मा के ही गुण आदि है, आत्मा के होने पर ही इनकी स्थिति और विकास है) ॥६॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्
ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥७॥

स—वह (कोई मनुष्य), यथा—जैसे, दुन्दुभेः—दुन्दुभि (नगाडा) के, हन्यमानस्य—(डके से) पीटी जाती हुई, न—नही, बाह्यान्—(उससे उत्पन्न) बाहर के, शब्दान्—शब्दो को, शक्नुयात्—सके, ग्रहणाय—पकडने के लिए, (शक्नुयाद् ग्रहणाय—पकड सकता है), (किन्तु) दुन्दुभेः—नगाडे के, तु—तो, ग्रहणेन—पकड लेने से, दुन्दुभि+आघातस्य—नगाडे पर चोट देनेवाले (डके) के, वा—या, शब्द—शब्द, गृहीत—पकड (काबू) मे आ जाता है ॥७॥

स यथा शखस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्
ग्रहणाय शखस्य तु ग्रहणेन शखध्मस्य वा शब्दो गृहीत ॥८॥

स यथा—वह जैसे, शंखस्य—शख के, ध्मायमानस्य—फूके (बजाये) जाते हुए, न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय—(उससे उत्पन्न) बाहर के शब्दो को नही पकड सकता है, शंखस्य तु ग्रहणेन—शख के तो पकड (काबू) मे

जब वीणा बजाई जाती है, तब उससे निकले हुए शब्दों को अलग-से नहीं पकड़ा जा सकता। इन्हें पकड़ना हो, तो वीणा को पकड़ लो, या वीणा बजाने वाले को पकड़ लो, और बस, यह वीणा-का-सा सत्त्वगुणी शब्द पकड़ा जाता है। इसी प्रकार इस जगत् के वीणा-के-से सत्त्वगुण-रूपी शब्द को बजाने वाले आत्मा को पकड़ लो, उसी ने ये तार बजाये हैं ॥९॥

जिस प्रकार गीली लकड़ियां जलायी जांय, तो आग से अलग धूंआ बाहर निकल पड़ता है, अरे मैत्रेयी! इसी प्रकार इस महान् भूत, महान्-शक्ति आत्मा का यह निश्वास है, बाहर की ओर लिया गया सांस है, जो ऋक्, यजु, साम, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान है। ये सब इसी आत्मा के मानो निश्वास हैं, बाहर निकले हुए सांस हैं ॥१०॥

कर लेने से, **शंखध्मस्य**—शख को फूकने (बजाने) वाले के, **वा**—या; **शब्दः गृहीतः**—शब्द काबू में आ जाता है ॥८॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्
ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥९॥

सः यथा—वह जैसे, **वीणायै**—वीणा के, **वाद्यमानायै**—बजाई जाती हुई, **न..ग्रहणाय**—अर्थ पूर्ववत्, **वीणायै तु ग्रहणेन**—वीणा के तो काबू मे कर लेने से, **वीणावादस्य वा**—या वीणा के बजानेवाले को पकड लेने से, **शब्दः गृहीतः**—शब्द काबू मे आ जाता है ॥९॥

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य
महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथ-
र्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्रा-
ण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥१०॥

सः यथा—वह जैसे; **आर्द्र+एध+अग्नेः**—गीले ईंधनवाली अग्नि से, **अभ्याहितात्**—प्रदीप्त की हुई, **पृथक्**—अलग, **धूमाः**—धुए; **विनिश्चरन्ति**—निकल कर फैल जाते हैं; **एवम् वै**—ऐसे ही, **अरे**—अरी मैत्रेयि!, **अस्य**—इस, **महतः**—महान्, **भूतस्य**—सत्तावाले (ब्रह्म) के, **निश्वसितम्**—बाहर निकले सास के समान (उससे अनायास उत्पन्न हुए हैं), **एतत्**—यह सब, **यद्**—जो-कुछ है; **ऋग्वेदः**—ऋग्वेद, **यजुर्वेदः**—यजुर्वेद, **सामवेदः**—सामवेद, **अथर्वाङ्गिरसः**—अथर्ववेद, **इतिहासः**—इतिहास, **पुराणम्**—सृष्टि का वर्णन; **विद्याः**—नाना विद्याए (ज्ञान-शाखाए), **उपनिषदः**—उपनिषद (रहस्य-बोधक

जैसे सब जल समुद्र को पहुंचते हैं, सब स्पर्श त्वचा को, सब गन्ध नासिका को, सब रस जिह्वा को, सब रूप चक्षु को, सब शब्द श्रोत्र को, सब संकल्प मन को, सब विद्या हृदय को, सब कर्म हस्त को, सब आनन्द उपस्थ को, सब विसर्ग पायु को, सब गति पांवों को, वैसे सब वेद, इतिहास, पुराण जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, वाणी को पहुंचते हैं, और वाणी आत्मा द्वारा विकसित होती है, इसलिये आत्मा ही से सृष्टि के संपूर्ण प्रवाह का प्रसार है ॥११॥

ग्रन्थ), **श्लोकाः**—सूक्तिया (छन्दोबद्ध रचनाए), **सूत्राणि**—सूत्ररूप मे प्रतिपादित दर्शन-शास्त्र आदि, **अनुव्याख्यानानि**—उपव्याख्यान, **व्याख्यानानि**—मत्रो की व्याख्याये, **अस्य एव**—इस ब्रह्म के ही, **एतानि सर्वाणि**—ये सब, **निश्वसितानि**—निश्वास के समान हैं (उससे अनायास उत्पन्न—ज्ञात हुए है) ॥१०॥

स यथा सर्वासामपाँ समुद्र एकायनमेवँ सर्वेषाँ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवँ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवँ सर्वेषाँ रसानां जिह्वैकायनमेवँ सर्वेषाँ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवँ सर्वेषाँ शब्दानाँ श्रोत्रमेकायनमेवँ सर्वेषाँ संकल्पानां मन एकायनमेवँ सर्वासां विद्यानाँ हृदयमेकायनमेवँ सर्वेषां कर्मणाँ हस्तावेकायनमेवँ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवँ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवँ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवँ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥११॥

सः यथा—वह जैसे, **सर्वासाम्**—सारे, **अपाम्**—जलो का, **समुद्रः**—समुद्र, **एकायनम्**—एक आधार-स्थान है (वहा ही सव एकत्र होते है), **एवम्**—इस प्रकार, **सर्वेषाम्**—सारे, **स्पर्शानाम्**—छूने से उत्पन्न ज्ञान का, **त्वग्**—त्वचा, **एकायनम्**—केन्द्र-स्थान है, **एवम् सर्वेषाम् गन्धानाम्**—इस ही प्रकार सव गन्ध-ज्ञानो का, **नासिके**—नासिका, नाक, **एकायनम्**—केन्द्र-विन्दु है; **एवम् सर्वेषाम्**—ऐसे सव, **रसानाम्**—स्वादो का, **जिह्वा**—जीभ, **एकायनम्**—केन्द्र-स्थान है, **एवम् सर्वेषाम्**—ऐसे सारे, **रूपाणाम्**—नेत्र से उत्पन्न ज्ञान का, **चक्षुः**—नेत्र, **एकायनम्**—केन्द्र-स्थल है, **एवम् सर्वेषाम्**—ऐसे सब, **शब्दानाम्**—सुने शब्दो का, **श्रोत्रम्**—कान, **एकायनम्**—आधार-स्थान है, **एवम् सर्वेषाम्**—ऐसे सारे, **संकल्पानाम्**—मनन-चिन्तन का, **मनः एकायनम्**—मन (अन्त करण) अन्तिम आधार है, **एवम् सर्वासाम्**—ऐसे सारी, **विद्यानाम्**—ज्ञान-विज्ञानो का, **हृदयम् एकायनम्**—हृदय एकमात्र आधार (गति) है, **एवम् सर्वेषाम्**—ऐसे सारे, **कर्मणाम्**—कर्म (प्रयत्न, चेष्टाओ) का, **हस्तौ**—(कर्मेन्द्रिय) दोनो हाथ, **एकायनम्**—एकमात्र गति है, **एवम्**

जैसे नमक की खील पानी में डाल दी जाय, वह पानी में ही विलीन हो जाती है, उसे पानी में से निकाला नहीं जा सकता, पानी को जहां-जहां से लिया जाय, उसमें नमक ही घुला मिलता है, अरे मैत्रेयी ! इसी प्रकार यह महान् जीवन-शक्ति, यह अनन्त, अपार, विज्ञान-घन आत्मा इन भूतो के साथ ही प्रकट होता है, उनमें घुला-मिला मिलता है, और इन भूतो में ही जा छिपता है। जब तक वह भूतो में प्रकट हो रहा है, तभी तक उसके नाम हैं, उसकी संज्ञा है, उसके यहां से चले जाने पर उसकी कोई संज्ञा नहीं रहती। याज्ञवल्क्य ने कहा, अरे मैत्रेयी, यह रहस्य की बात है जिसे मैं तुझे बता रहा हूं ॥१२॥

सर्वेषाम्—ऐसे सारे, **आनन्दानाम्**—(अनुभव मे आनेवाले) आनन्दो का, **उपस्थ**—जनन-इन्द्रिय, **एकायनम्**—आधार-स्थल है, **एवम् सर्वेषाम्**—ऐसे सारे, **विसर्गाणाम्**—मल-त्याग (मलो का बाहर होना) का, **पायुः**—गुदा-स्थान, **एकायनम्**—केन्द्र है, **एवम् सर्वेषाम्**—ऐसे सारे, **अध्वनाम्**—मार्गों (गति—चलना-फिरना) का, **पादौ**—दोनो पाव, **एकायनम्**—आधार हैं, **एवम् सर्वेषाम्**—ऐसे सारे, **वेदानाम्**—वेद-वचन (उपदेश) का, **वाग्**—वाणी, **एकायनम्**—आधार, परम-गति, अन्तिम पहुच है ॥११॥

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयते न हास्योद्ग्रहणायेव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥१२॥

सः यथा—वह जैसे, **सैन्धव-खिल्यः**—सैन्धव (सेंधा नमक) की खील (ककर), **उदके**—जल मे, **प्रास्तः**—डाली हुई, **उदकम्**—जल को (मे), **एव**—ही, **अनुविलीयेत**—धीरे-धीरे घुल जाती है, **न ह**—नही तो, **अस्य**—इस नमक-खील के, **उद्ग्रहणाय**—ऊपर (बाहर) निकालने के लिए, **इव**—मानो, **स्यात्**—सभव (समर्थ) होता है, **यतः यतः**—जहा-जहा से, **आददीत**—लेवे, **लवणम् एव**—(वहा-वहा) नमक ही है, **एवम् वै**—ऐसे ही, **अरे**—हे मैत्रेयि !, **इदम्**—यह, **महद् भूतम्**—महान् (सनातन) ब्रह्म, **अनन्तम्**—अनन्त, **अपारम्**—अपार है; **विज्ञानघनः**—ज्ञान-स्वरूप, **एव**—ही, **एतेभ्यः**—इन, **भूतेभ्यः**—भूतो (प्रकृति-विकारो) से, **समुत्थाय**—ऊपर उठ कर, **तानि एव अनु**—उन भूतो मे ही फिर, **विनश्यति**—लीन हो जाता है, छिप-सा जाता है, **न**—नही, **प्रेत्य**—मर कर (लीन होने पर), **संज्ञा**—(उसका) सम्यग्-ज्ञान,

मैत्रेयी बोली, भगवन् ! आपने यह कहकर कि यहां से चले जाने पर उसकी कोई संज्ञा नहीं रहती, मुझे घबराहट में डाल दिया। याज्ञवल्क्य ने कहा, मैं तुझे घबराहट में डालने के लिये कुछ नहीं कह रहा। मैं जो-कुछ कह रहा हूं, उसे समझने के लिये यह-सब कहना भी जरूरी है ॥१३॥

जब आत्मा भूतों में प्रकट होता है, तभी तो 'द्वैत' होता है, 'द्वैत' मे ही आत्मा विषय को सूंघता है, आत्मा विषय को देखता है, एक-दूसरे से बात करता है, एक-दूसरे की बात समझता है, एक दूसरे को पहचानता है। परन्तु जब यह भूतों से अलग होकर, अपने आत्मा के सम्पूर्ण-रूप में पहुंच जाता है, तब यह किससे किसको

अस्ति—होता है, (**न प्रेत्य संज्ञा अस्ति**—जीवात्मा के मरने के बाद कोई सज्ञा—पिछला सम्वन्ध—नही वना रहता है), **इति**—ऐसे, **अरे**—हे मैत्रेयि, **ब्रवीमि**—मै तुझे कह (वता) रहा हू, **इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः**—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा ॥१२॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥१३॥

सा ह उवाच मैत्रेयी—(यह सुनकर) उस मैत्रेयी ने कहा कि, **अत्र एव**—यहा (इस विषय मे) ही, **मा**—मुझको, **भगवान्**—आपने, **अमूमुहत्**—मोह (अज्ञान-से) मे डाल दिया; **न प्रेत्य सज्ञा अस्ति**—मरने के वाद कोई नाम (स्थिति) नही रहता, **इति**—यह (कहकर), **स ह उवाच याज्ञवल्क्यः**—उस याज्ञवल्क्य ने कहा (उत्तर दिया), **न वै अरे**—नही तो हे मैत्रेयि!, **अहम्**—मैं, **मोहम्**—मोह (ज्ञानाभास) की बात, व्यर्थ चर्चा, **ब्रवीमि**—कह रहा हू, **अलम्**—पर्याप्त, समर्थ, आवश्यक है, **वै**—ही, **अरे**—हे मैत्रेयि!, **इदम्**—यह (कथन), **विज्ञानाय**—विशेष ज्ञान के लिए ॥१३॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरँ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कँ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत् केन कं मन्वीत तत् केन क विजानीयाद्येनेदँ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥१४॥

यत्र हि—जहा ही, **द्वैतम् इव**—द्वित्व-(दो का होना) सा, **भवति**—होता है, **तद्**—वहा, **इतर**—कोई एक, **इतरम्**—दूसरे को; **जिघ्रति**—सूघता है,

सूंघे, किस से किस को देखे, किस से किस को सुने, किस से किस को कहे, किस से किस को समझे, किस से किस को पहचाने ? आत्मा ही से तो सब-कुछ जानता-पहचानता है, फिर आत्मा को किस से जाने-पहचाने ? अरे मैत्रेयी ! जानने वाले को किस से जाने ? इसीलिये मैं कहता हूं कि जब आत्मा को भूतों से अलग कर दिया जाय, तब उसको संज्ञा नहीं रहती, उस समय वह अपने अनिर्वचनीय रूप में जा पहुंचता है, नष्ट नहीं हो जाता ।।१४।।

द्वितीय अध्याय--(पांचवां ब्राह्मण)

(मधु-विद्या अथवा ब्रह्म-विद्या)

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को 'आत्म-तत्त्व' का उपदेश देते हुए ब्रह्मांड (समष्टि) तथा पिंड (व्यष्टि)--इन दोनो मे--'आत्म-तत्त्व' है, इस रहस्य को समझाते है--

यह 'पृथिवी' सब प्राणियों को मधु-समान प्यारी है, पृथिवी को सब प्राणी मधु-समान प्यारे है । पृथिवी में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में

तद् **पश्यति**—देखता है, **तद्** **शृणोति**—सुनता है, **तद्** **अभिवदति**—बोलता-चालता है, **तद्** **मनुते**—समझता है, मनन करता है, **तद्** **विजानाति**—जानता है, **यत्र वै**—जहा (जिस अवस्था में) तो, **अस्य**—इस (ज्ञानी) के लिए, **सर्वम्**—सब, **आत्मा एव अभूत्**—आत्मा ही हो गया (और की सत्ता का भान ही न रहा), **तत्**—तो (उस अवस्था मे), **केन**—किससे, **कम्**—किसको, **जिघ्रेत्**—सूघे, **तत्** **पश्येत्**—देखे, **तत्** **शृणुयात्**—सुने, **तत्** **अभिवदेत्**—बातचीत करे, **तत्** **मन्वीत**—समझे, मनन करे, **तत्** **विजानीयात्**—जाने, **येन**—जिसके द्वारा, **इदम् सर्वम्**—इस सब को, **विजानाति**—जानता है, **तम्**—उसको, **केन**—किससे, **विजानीयात्**—जाने, **विज्ञातारम्**—(स्वय अन्य को) जाननेवाले को, **अरे**—हे मैत्रेयि !, **केन**—किससे, **विजानीयात्**—जाने, **इति**—यह (सब तेरे विज्ञान के लिये ही तो है) ।।१४।।

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ।।१।।

भी व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥१॥

ये 'जल' सब प्राणियों को मधु-समान प्यारे हैं, जलों को सब प्राणी मधु-समान प्यारे हैं। जलों में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में भी व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥२॥

इयम् पृथिवी—यह पृथिवी, **सर्वेषाम् भूतानाम्**—सब भूतो (पचभूत, प्राणी) की, **मधु**—मधुर, सार, अन्तिम परिणाम है, **अस्यै पृथिव्यै**—इस पृथिवी के, **सर्वाणि भूतानि**—सारे ही भूत, **मधु**—प्रिय, सार है, **यः च अयम्**—और जो यह, **अस्याम्**—इस, **पृथिव्याम्**—पृथिवी मे, **तेजोमयः**—तेज (प्रकाश) सपन्न, **अमृतमयः**—अमर, **पुरुषः**—परम ब्रह्म (व्याप रहा है), **यः च अयम्**—और जो यह, **अध्यात्मम्**—आत्मा के (पिण्ड-शरीर) मे, **शारीरः**—शरीर का स्वामी, देही, **तेजोमयः अमृतमयः**—तेजस्वी, और अमर, **पुरुषः**—जीवात्मा है, **अयम् एव सः**—यह ही वह है, **यः अयम्**—जो यह (हमारा ज्ञेय), **आत्मा**—आत्मा है, **इदम् अमृतम्**—यह अमर है, **इदम् ब्रह्म**—यह ब्रह्म (बडा-श्रेष्ठ) है, **इदम् सर्वम्**—यह ही सव-कुछ है ॥१॥

इमा आपः सर्वेषा भूतानां मध्वासामपा् सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं् रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं् सर्वम् ॥२॥

इमाः आपः—ये जल, **सर्वेषाम् भूतानाम्**—सव भूत-प्राणियो के, **मधु**—प्रिय, सार है, **आसाम्**—इन, **अपाम्**—जलो के, **सर्वाणि भूतानि**—सारे भूत; **मधु**—प्रिय, सार हैं, **यः च अयम्**—और जो यह, **आसु**—इन, **अप्सु**—जलो मे, **तेजोमयः अमृतमय. पुरुषः**—तेजोमय, अमर पुरुष (परमात्मा) है, **य. च अयम्**—और यह जो, **अध्यात्मम्**—आत्म-सबधी पिण्ड मे, **रैतस.**—वीर्य से उत्पन्न (शरीरधारी) या जलमय, **तेजोमयः अमृतमयः**—तेज स्वरूप, अमृतमय, **पुरुष.**—जीवात्मा है, **अयम् सर्वम्**—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

यह 'अग्नि' सब प्राणियों को मधु-समान प्यारी है, अग्नि को सब प्राणी मधु-समान प्यारे हैं। अग्नि में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥३॥

यह 'वायु' सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, वायु को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। वायु में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥४॥

यह 'आदित्य' सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, आदित्य को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। आदित्य में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजो-मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥३॥

अयम् अग्निः—यह अग्नि, अस्य अग्नेः—इस अग्नि के, अस्मिन् अग्नौ—इस अग्नि मे, वाङ्मयः—वाणी-स्वरूप, सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजो-मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥४॥

अयम् वायुः—यह वायु, अस्य वायोः—इस वायु के, अस्मिन् वायौ—इस वायु मे प्राणः—प्राण (श्वास-प्रश्वास) रूप, सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुष-स्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥५॥

अयम् आदित्यः—यह सूर्य, अस्य आदित्यस्य—इस सूर्य के, अस्मिन्

व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥५॥

ये 'दिशाएं' सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय हैं, दिशाओं को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। दिशाओं में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥६॥

यह 'चन्द्र' सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, चन्द्र को सब प्राणी मधु-समान प्रिय हैं। चन्द्र में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥७॥

आदित्ये—इस सूर्य मे चाक्षुषः—नेत्र-सबधी, नेत्र का अधिष्ठाता (नेत्र रूप मे) सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥५॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं श्रौत्र. प्रातिश्रुत्क-स्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥६॥

इमाः दिशः—ये दिशाए, आसाम् दिशाम्—इन दिशाओ के, आसु दिक्षु—इन दिशाओ मे, श्रौत्रः—श्रोत्र (कान) का स्वामी, अधिष्ठाता, प्रातिश्रुत्कः—प्रतिश्रवण करने को उत्सुक, सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥६॥

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्मिंश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमय पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजो-मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥७॥

अयम् चन्द्रः—यह चन्द्रमा, अस्य चन्द्रस्य—इस चन्द्रमा के अस्मिन् चन्द्रे—इस चन्द्रमा मे, मानसः—मन का अधिष्ठाता, सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥७॥

यह 'विद्युत्' सव प्राणियो को मधु-समान प्रिय है, विद्युत् को सव प्राणी मधु-समान प्रिय है। विद्युत् में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृत-मय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सव-कुछ है ॥८॥

यह 'स्तनयित्नु'—गरजने वाला वादल—सव प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, स्तनयित्नु को सव प्राणी मधु-समान प्रिय है। मेघ में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है, शरीर में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सव-कुछ है ॥९॥

यह 'आकाश' सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, आकाश को सव प्राणी मधु-समान प्रिय है। आकाश में व्याप रहा जो तेजोमय,

---

इयं विद्युत्सर्वेषां भूताना मध्वस्या विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमय. पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजो-मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥८॥

इयम् विद्युत्—यह विजली, अस्याः विद्युतः—इस विजली के, अस्याम् विद्युति—इस विजली मे, तैजसः—तेज का अधिपति, सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥८॥

अयं स्तनयित्नुः सर्वेषां भूताना मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्स्तनयित्नौ तेजोमयो-ऽमृतमय. पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शाब्दः सौवरस्तेजोमयो-ऽमृतमय. पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥९॥

अयम्—यह, स्तनयित्नुः—कडकती गरजवाला वादल, अस्य—इस, स्तनयित्नोः—गरजते वादल के अस्मिन्—इस, स्तनयित्नौ—गरजते वादल मे, शाब्द.—शब्द-सम्वन्धी, सौवरः—स्वर का अधिष्ठाता, सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥९॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चा-यमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं हृद्याकाशस्ते-जोमयोऽमृतमय. पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१०॥

अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में व्याप रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥१०॥

यह 'धर्म'--संसार के धारण की शक्ति--सब प्राणियो को मधु-समान प्रिय है, धारण-शक्ति को सब प्राणी मधु-समान प्रिय है। धारण-शक्ति का अधिष्ठाता जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर की धारण-शक्ति का अधिष्ठाता जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥११॥

यह 'सत्य'--वह सचाई जो विश्व का आधार-भूत तत्त्व है--सब प्राणियों को मधु-समान प्रिय है, सत्य को सब प्राणी मधु-समान प्रिय है। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' की विश्व-शक्ति का अधिष्ठाता जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; शरीर में भी सत्य ही टिकता है, असत्य नहीं, शरीर की इस

अयम् आकाशः—यह आकाश, अस्य आकाशस्य—इस आकाश का, अस्मिन् आकाशे—इस आकाश मे , हृदि—हृदय मे, आकाशः—आकाश है, सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥१०॥

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्ते-जोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदँ सर्वम् ॥११॥

अयम्—यह, धर्मः—धर्म (धारक), अस्य धर्मस्य इस धर्म का अस्मिन् धर्मे—इस धर्म (धारक-शक्ति) मे, धार्मः—धर्म का स्वामी (कर्ता), सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥११॥

इदँ सत्यँ सर्वेषा भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाऽय-मस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमय. पुरुषो यश्चाऽयमध्यात्मँ सात्यस्तेजो-मयोऽमृतमय· पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदँ सर्वम् ॥१२॥

इदम्—यह, सत्यम्—सत्य (सब की सत्ता-अस्तित्व का मूल), अस्य सत्यस्य—इस सत्य के, अस्मिन् सत्ये—इस सत्य मे, सात्य—सत्य का अनुष्ठाता (पालक), सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥१२॥

सत्य-शक्ति का अधिष्ठाता जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥१२॥

यह 'मानुष-भाव'—इन्सानियत (Humanity)—सब प्राणियो को मधु-समान प्रिय है, मानुष-भाव को सब प्राणी मधु-समान प्रिय है। मानुष-भाव में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में जो तेजोमय, अमृत-मय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा ही यह सब-कुछ है ॥१३॥

यह 'आत्म-भाव'—अहंभाव—सब प्राणियो को मधु-समान प्रिय है, 'आत्म-भाव' को सब प्राणी मधु-समान प्रिय है। विश्व के आत्म-भाव में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह समष्टि-रूप ब्रह्मांड का 'आत्मा' है; व्यक्ति के आत्म-भाव में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टि-रूप पिंड का 'आत्मा' है। 'आत्मा' ही अमृत है, 'आत्मा' ही ब्रह्म है, 'आत्मा' ही यह सब-कुछ है ॥१४॥

सो, यह 'आत्मा' समष्टि में ब्रह्मांड के पांचो महाभूतों का अधि-पति है और व्यष्टि में पिंड-युक्त सब प्राणियो का राजा है। यह

इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१३॥

इदम्—यह, मानुषम्—मनुष्यत्व (मनुज-धर्म), अस्य मानुषस्य—इस मनुष्य-धर्म (मनुष्यता) के, अस्मिन् मानुषे—इस मनुष्यपन मे, सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥१३॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृत-मयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥१४॥

अयम् आत्मा—यह आत्मा अस्य आत्मनः—इस आत्मा के, अस्मिन् आत्मनि—इस आत्मा मे यः च अयम् आत्मा—और जो यह (देही आत्मा) स्वय (पिण्ड मे) है सर्वम्—अर्थ पूर्ववत् ॥१४॥

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥१५॥

'आत्मा' विश्व-रूपी रथ की 'नाभि' भी है, 'नेमि', अर्थात् परिधि भी है। अरे भीतर से नाभि से जुड़े होते हैं, बाहर से परिधि से जुड़े रहते हैं, तभी टिकते हैं, इसी प्रकार सब भूत, सब देव, सब लोक, सब प्राण और सब जीवात्मा इसी परमात्मा में एक तरफ़ से उसकी नाभि और दूसरी तरफ़ से उसकी परिधि में टिके हुए हैं, उसी में समर्पित हैं, अपने को उसी पर वार रहे हैं ।।१५।।

याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा कि जो-कुछ मैंने तुझे उपदेश दिया, भगवद्-भक्तों में इसका नाम 'मधु-विद्या' प्रसिद्ध है। इस विद्या का किसी समय उपदेश अथर्व-गोत्री दध्यङ ने अश्वियों को दिया था। दध्यङ ऋषि ने इस विद्या के रहस्य को देखकर अश्वियों को कहा था—नरों के, अर्थात् मनुष्य-जाति के कल्याण के लिए मैं इस उग्र कर्म को कर रहा हूं, जैसे गाढ़ान्धकार में विद्युत् के कड़कने के बाद घनघोर वृष्टि होती है, वैसे अविद्या के अन्धकार में 'मधु-विद्या' के इस उग्र उपदेश के बाद मानव-जाति के अन्तरात्मा में शान्ति की वर्षा होगी। अथर्व-गोत्री दध्यङ ने तुम दोनों अश्वि-कुमारों को अश्व के सिर से यह उपदेश दिया है—जैसे तुम अश्व के समान शीघ्र कार्य

सः वै—वह ही, **अयम् आत्मा**—यह (परम) आत्मा, **सर्वेषाम्**—सारे, **भूतानाम्**—भूतो (अचर पचमहाभूत और चर प्राणी) का, **अधिपतिः**—रक्षक, शासक, स्वामी, अधिष्ठाता है, **सर्वेषाम् भूतानाम्**—सब भूतो का, **राजा**—सर्व-शिरोमणि है, **तत्**—तो, **यथा**—जैसे, **रथ-नाभौ**—रथ के पहिये की नाभि (केन्द्र) मे, **रथ-नेमौ च**—रथ के पहिये के घेरे (पुट्ठियो) मे, **अराः**—अरे, **सर्वे**—सारे, **समर्पिताः**—सलग्न है, **एवम् एव**—ऐसे ही, **अस्मिन् आत्मनि**—इस (परम) आत्मा मे, **सर्वाणि भूतानि**—सारे भूत, **सर्वे देवा**—सारे देव, **सर्वे लोकाः**—सारे लोक, **सर्वे प्राणाः**—सारे प्राण, **सर्वे एते**—सारे ये, **आत्मानः**—जीवात्मा, **समर्पिताः**—सबद्ध, सयुक्त, उसमे व्याप्त हैं ।।१५।।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषि: पश्यन्नवोचत्।
तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्।
दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति ।।१६।।

इदम् वै—यह ही, **तद्**—वह, **मधु**—मधु (सार)-विद्या है (जिसको), **दध्यङ**—दध्यङ नामी ऋषि ने, **आथर्वण**—अथर्व-गोत्री या अथर्ववेद-ज्ञ, **अश्विभ्याम्**—अश्वि-कुमारो को, **उवाच**—उपदेश दिया था, **तद् एतद्**—उस

करने के कारण 'अश्वि' हो, वैसे मैं भी अश्व के समान ही शीघ्र चिन्तन करने वाला हूं ॥१६॥

यह वही 'मधु-विद्या' है, जिसका अथर्व-गोत्री दध्यङ ऋषि ने अश्विकुमारों को उपदेश दिया था। 'मधु-विद्या' के रहस्य को देखते हुए किसी ऋषि ने अश्वियों को कहा था—क्योंकि तुम दोनों ने अथर्व-गोत्री दध्यङ का मस्तिष्क अश्व के समान तीव्र-गामी बना दिया, अर्थात् तुम-सरीखे योग्य शिष्यों को देखकर वह भी ज्ञान देने के लिये उत्सुक हो उठा, इसलिये उसने सत्य का पालन करते हुए तुम दोनो को 'कक्ष्य' अर्थात् गुप्त 'मधु-विद्या' का तथा 'त्वाष्ट्र' अर्थात् 'त्वष्टा'-सम्बन्धी 'ब्रह्म-विद्या' का उपदेश दिया ॥१७॥

इस (मधु-विद्या) को, **ऋषिः**—(कक्षीवान्) ऋषि ने, **पश्यन्**—देखते हुए (जानते हुए); **अवोचत्**—कहा था (ऋग्वेद, म० १, सू० ११६, मन्त्र १२, मे उपदेश दिया था), **तद्**—उस, **वाम्**—तुम दोनो के, **नरा**—मनुष्यो, न रमण करने वाले, नेताओ, **सनये**—लाभ के लिए, धन प्राप्ति के लिए, **दंसः**—कर्म को, **उग्रम्**—अधिक प्रयत्न-साध्य, कठिन, **आविष्कृणोमि**—प्रगट करता हूं, **तन्यतुः**—बादल; **न**—जैसे, **वृष्टिम्**—जल-वर्षा को, **दध्यङ**—दध्यङ ऋषि ने, **ह**—निश्चय से, **यत्**—जिस, **मधु**—मधु-विद्या को, **आथर्वणः**—अथर्व-गोत्री, **वाम्**—तुम दोनो को; **अश्वस्य**—अश्व (वीर्यवत्ता, शीघ्रता, व्याप्ति) के, **शीर्ष्णा**—सिर (विचार) से, **प्र**—प्रकर्षता से, अधिकता से, **यद्**—जो, **ईम्**—(यह अव्यय पाद-पूर्ति के लिए है इसका यहा कुछ अर्थ नही), **उवाच**—उपदेश दिया था, **इति**—यह (मन्त्र ऋग्वेद का है) ॥१६॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच, तदेतदृषिः
पश्यन्नवोचदाथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम् ।
स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति ॥१७॥

इदम् . अवोचत्—अर्थ पूर्ववत्, **आथर्वणाय**—अथर्व-गोत्री, अथर्ववेद-ज्ञ, **अश्विनौ**—हे अश्वि-कुमारो! **दधीचे**—दध्यङ (धारणावती मेधा वाले) ऋषि के लिए, **अश्व्यम्**—ज्ञानमय, **शिरः**—मस्तक को, **प्रति+ऐरयतम्**—(प्रार्थना कर) प्रेरित किया (उत्सुक किया), **सः**—उसने, **वाम्**—तुम दोनो को, **मधु**—मधु-विद्या का, **प्रवोचत्**—उपदेश दिया, **ऋतायन्**—ऋत (सत्य प्रतिज्ञा) का पालन करते हुए, ऋत (सनातन गुरु-मर्यादा) का पालन करते हुए, **त्वाष्ट्रम्**—त्वष्टा (जगद्-रचयिता ब्रह्म) सबधी, **यद्**—जो (ज्ञान है वह भी), **दस्रौ**—हिंसा प्रवृत्ति वाले, या कर्म मे तत्पर, **अपि**—भी, **कक्ष्यम्**—रहस्य (गुप्त)

यह वही 'मधु-विद्या' है जिसका अथर्व-गोत्री दध्यङ ऋषि ने अश्विकुमारों को उपदेश दिया था। 'मधु-विद्या' के रहस्य को देखते हुए किसी ऋषि ने कहा था—सृष्टि की रचना करते हुए भगवान् ने दोपायों की पुरी बनाई, चौपायों की पुरी बनाई, और वह पुरुष अपने बनाये इन घोसलों में पक्षी-रूप होकर घुस बैठा। वही पुरुष जिसका हमने समष्टि-रूप से ब्रह्मांड में तथा व्यष्टि-रूप से पिंड में दर्शन किया, जिसे हमने 'आत्मा' कहा, वह इन सब पुरियो में प्रवेश किये बैठा है, इन्ही मे आराम से शयन कर रहा है, वही सबको बाहर से आवृत किये हुए है, वही सबको भीतर से संवृत किये हुए है ॥१८॥

आदेश, **वाम्**—तुम दोनो को (दध्यङ ने दिया था), **इति**—यह (ऋग्वेद म० १, सू० ११७, मन्त्र २२, मन्त्र कक्षीवान् ऋषि ने स्पष्ट किया था) ॥१७॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति। स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम् ॥१८॥

इदम् अवोचत्—अर्थ पूर्ववत्, **पुरः**—(शरीर रूप) नगरियो को, **चक्रे**—रचना की, बनाया, **द्विपदः**—दो पाव वाली (मनुष्य); **पुरः**—(शरीर रूप) नगरियो को, **चक्रे**—बनाया, **चतुष्पदः**—चार पाववाली (पशु), **पुरः**—नगरियो को, **सः**—वह (जीव आत्मा), **पक्षी**—पक्षी (रूप), **भूत्वा**—होकर (शरीर रूप पक्षियो की नगरिया बनाकर), **पुरः**—आगे, पहिले (इन सब नगरियो मे), **पुरुषः**—जीव आत्मा (तथा आत्मा मे व्याप्त ब्रह्म भी), **आविशत्**—प्रविष्ट हुआ, **इति**—यह (मत्रद्रष्टा ऋषि ने कहा), **सः वै**—वह ही, **अयम्**—यह, **पुरुषः**—(शरीर-रूप पुरी में शयन करने वाला) जीवात्मा तथा (जगद्-रूप पुरी मे शयन करने वाला) परमात्मा, **सर्वासु**—सारी, **पूर्षु**—पुरी (नगरियो) मे, **पुरिशयः**—नगरी मे सोनेवाला (रहनेवाला) है, **न**—नही, **एनेन**—इस (पुरुष) से, **किंचन**—कुछ भी, **अनावृतम्**—(न+आवृतम्)—अनाच्छादित है (वह सब के बाहर भी है), **न**—नही, **एनेन**—इस (पुरुष) से, **किंचन**—कुछ भी, **असंवृतम्**—(अन्दर) अव्याप्त है (वह सबके अन्दर भी विराजमान है) ॥१८॥

यह वही 'मधु-विद्या' है, जिसका दध्यङ् ऋषि ने अश्वि-कुमारों को उपदेश दिया था। 'मधु-विद्या' के रहस्य को देखते हुए किसी ऋषि ने कहा था—यह आत्मा जिस रूप के साथ अपने को जोड़ लेता है उसी का प्रतिरूप हो जाता है, उसी का रूप धारण कर लेता है, परन्तु यह प्रति-रूपपना सिर्फ देखने-मात्र का है, आत्मा का यथार्थ-रूप नहीं बदलता। जीवात्मा संसार की माया में खिचा-खिचा भिन्न-भिन्न रूपो को धारण कर भटकता फिरता है, इसे हरने वाले एक-सौ-दस है। ये हरने वाले, इसे प्रलोभनों में फंसाने वाले एक हों, दस हों, सहस्र हों, अनेक हों, अनन्त हों, परन्तु इसका अपना रूप, शुद्ध-रूप 'ब्रह्म' है, 'अपूर्व' और 'अनपर' है, 'अनन्तर' और 'अबाह्य' है—यह ऐसा है जिससे कोई पूर्व नहीं, जिसके कोई पीछे नहीं, जिसके कोई भीतर नहीं, जिसके कोई बाहर नहीं! यह आत्मा ब्रह्म है, यह बात 'सर्वानुभूः' है, प्रत्येक प्राणी इस तत्त्व को अपने भीतर

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच, तदेतदृषिः पश्यन्नवोचद्रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति। अयं वै हरयोऽयं वै दश सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥१९॥

इदम् अवोचत्—अर्थ पूर्ववत्, **रूपम् रूपम्**—प्रत्येक रूप (दृश्य जगत्) के, **प्रतिरूपः**—समान रूप (आकृति) वाला; **बभूव**—हो रहा है, **तद्**—वह, **अस्य**—इस (पुरुष) का, **रूपम्**—स्वरूप, **प्रतिचक्षणाय**—देखने के लिए, उसका भान (ज्ञान मात्र) करने के लिए है, **इन्द्रः**—आत्मा व परमात्मा, **मायाभिः**—प्रकृति (प्रकृति के विकार—दृश्यजगत्) के रूपों से, **पुरुरूपः**—बहुत (विभिन्न) रूप वाला, **ईयते**—जाना जाता है, प्रतीत होता है, **युक्ताः**—जुडे हुए हैं, **हि**—ही, **अस्य**—इस (पुरुष) के, **हरयः**—(इन्द्रिय रूप हरण करनेवाले) घोडे, **शता**—सैंकड़ो, **दश**—दस, **इति**—यह (ऋग्वेद मण्डल ६, सू० ४७, मन्त्र १८, ऋषि ने देखा था), **अयम् वै**—यह ही, **हरयः**—इन्द्रियां, ब्रह्म की ज्ञान-बल-क्रिया रूप शक्तियां, **अयम् वै**—यह ही, **दश च सहस्राणि**—एक हजार दस, **बहूनि**—बहुत, **च**—और, **अनन्तानि च**—अनन्त हैं (विषयों के अनेक—अनन्त होने के कारण इन्द्रिया अनन्त हैं), **तद् एतद्**—वह यह (मधु-विद्या में निर्दिष्ट) ब्रह्म, **अपूर्वम्**—जिससे पहिले कोई न हो,

अनुभव करता है। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से विदा लेते हुए कहा कि यही मेरा अनुशासन है, यही मेरा उपदेश है ॥१९॥

(दधीचि ऋषि के सम्बन्ध मे दो कथानक पाये जाते है। एक तो यह कि वृत्रासुर को मारने के लिये उसने अपनी अस्थिया दे दी, दूसरा यह कि उसने अश्वि-कुमारो को अश्व के सिर से मधु-विद्या का उपदेश दिया। दधीचि की हड्डियो से वृत्र के मारने का अभिप्राय तो यह है कि विद्वान् लोग जीवन मे तो ससार का उपकार करते ही है, मरने के बाद उनकी हड्डिया भी ससार का उपकार ही करती है। दधीचि ने अश्व के सिर से अश्वि-कुमारो को 'मधु-विद्या' का उपदेश दिया, इसके सम्बन्ध मे कथानक यह है कि जब अश्वि-कुमार दधीचि से 'मधु-विद्या' के रहस्य को जानने के लिये आये, तो दधीचि ने कहा कि इन्द्र ने मुझे इस विद्या का उपदेश देने से मना किया है। अश्वि-कुमारो ने कहा कि हम आपका सिर ऐसा बना देगे कि इन्द्र पहचान ही न सके। उन्होने दधीचि का सिर काटकर अलग रख दिया, और उसकी जगह अश्व का सिर लगा दिया। दधीचि ने अश्व के सिर से मधु-विद्या का उपदेश दिया। जब वह उपदेश दे चुका, तो इन्द्र ने आकर उसका सिर काट दिया। अश्वियो ने दधीचि के सिर को, जिसे उन्होने संभाल कर रखा था, फिर धड से जोड दिया। इस कथानक का अभिप्राय क्या है ? इसका अभिप्राय यह है कि गुरु तथा शिष्य की मस्तिष्क-शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। अगर गुरु अपने मस्तिष्क से ही शिष्य को शिक्षा देने लगे, तो शिष्य के पल्ले कुछ न पडे। इसलिये शिष्य के सिर के समान ही गुरु को अपने सिर को बनाना पडता है। अश्वि-कुमार का सिर अश्व का है, अर्थात् उनका मस्तिष्क

सब से पहिले विद्यमान, **अनपरम्** (न+अपरम्)—जिसके बाद में कोई न हो, अन्त तक रहनेवाला, **अनन्तरम्**—जिसके अन्दर कोई नही (अव्याप्य), **अबाह्यम्**—जिससे कोई बाहर नही (सर्व व्यापक), **अयम्**—यह, **आत्मा**—सतत ज्ञान-गमन-प्राप्ति शील, **ब्रह्म**—सब से बडा (श्रेष्ठ), **सर्व+अनुभूः**—सब का अनुभव (ज्ञान) करने वाला (सर्वज्ञ), या सबके अनुभव मे आने वाला (स्व-सवेद्य) है, **इति**—यह ही, **अनुशासनम्**—पुन पुन उपदेश है ॥१९॥

अभी पशु-समान है, अत दधीचि को भी अश्व का ही सिर चाहिये, उसी सतह पर उसे उतरना चाहिये । ऐसी अवस्था मे मानो शिष्य गुरु का सिर काटकर अलग रख देता है । परन्तु अगर शिष्य पशु-का-पशु ही वना रहे, तो गुरु भी पशु के साथ ही टक्कर मारता रहेगा । इसलिये कथानक मे शिष्यो के ऊपर यह उत्तरदायित्व डाल दिया कि शिष्य गुरु के सिर को फिर से जोड दे, स्वय इतना योग्य वन जाय कि गुरु की ऊची विचार-धारा के साथ अपनी विचार-धारा को मिला सके ।)

द्वितीय अध्याय—(छठा ब्राह्मण)

(उपनिषद् की गुरु-शिष्य परम्परा)

उपनिषद् के रहस्य की परम्परा इस प्रकार चली आती है। सबसे पहले गुरु ब्रह्मा है। उसके बाद ब्रह्मा ने जिसे ज्ञान दिया, और उसने जिसे दिया, वह परम्परा निम्न प्रकार है :—

१. प्रथम गुरु 'स्वयंभू ब्रह्मा' है, २. उसने 'परमेष्ठी ब्रह्मा' को ज्ञान दिया, फिर क्रम यो चला : ३. सनग, ४. सनातन, ५. सनारु,

---

अथ वंश. पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनादगौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥१॥

अथ—अव, **वशः**—(नीचे से ऊपर की ओर निर्दिष्ट) वश (गुरु-शिष्य-परम्परा) का वर्णन है (१) **पौतिमाष्यः गौपवनात्**—पौतिमाष्य ने गौपवन से; (२) **गौपवनः पौतिमाष्यात्**—गौपवन ने पौतिमाष्य से, (३) **पौतिमाष्यः गौपवनात्**—पौतिमाष्य ने गौपवन से, (४) **गौपवनः कौशिकात्**—गौपवन ने कौशिक से, (५) **कौशिकः कौण्डिन्यात्**—कौशिक ने कौण्डिन्य से, (६) **कौण्डिन्यः शाण्डिल्यात्**—कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से, (७) **शाण्डिल्यः कौशिकात् च गौतमात् च**—शाण्डिल्य ने कौशिक और गौतम (दोनो) से, (८) **गौतमः**—गौतम ने ॥१॥

आग्निवेश्यादाग्निवेश्य. शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लातो गौतमाद्गौतमः सैतवप्राचीनयोग्याभ्यां सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद् भारद्वाजः पाराशर्यात् पाराशर्यो वैजवापायनाद् वैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥२॥

६. व्यष्टि, ७, विप्रचित्ति, ८. एकर्षि, ९. प्रध्वंसन, १०. मृत्यु-प्राध्वंसन, ११. अथर्वा दैव, १२. दध्यङ, १३. अश्वि, १४. विश्व-रूप त्वाष्ट्र, १५. आभूति त्वाष्ट्र, १६. अयास्य आंगिरस, १७. पथि सौभर, १८. वत्सनपात् बाभ्रव, १९. विदर्भी कौण्डिन्य, २०. गालव, २१. कुमारहारित, २२. कैशोर्य काप्य, २३. शाण्डिल्य,

---

आग्निवेश्यात्—आग्निवेश्य से, (९) **आग्निवेश्यः शाण्डिल्यात् च आनभिम्लातात् च**—आग्निवेश्य ने शाण्डिल्य और आनभिम्लात (दोनो) से, (१०) **आनभिम्लातः आनभिम्लाताद्**—आनभिम्लात ने आनभिम्लात से, (११) **आनभिम्लातः आनभिम्लाताद्**—आनभिम्लात ने आनभिम्लात से, (१२) **आनभिम्लातः गौतमाद्**—आनभिम्लात ने गौतम से, (१३) **गौतमः सैतव-प्राचीनयोग्याभ्याम्**—गौतम ने सैतव और प्राचीनयोग्य (दोनो) से, (१४) **सैतव-प्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्**—सैतव और प्राचीनयोग्य (दोनो) ने पाराशर्य से, (१५) **पाराशर्यः भारद्वाजात्**—पाराशर्य ने भारद्वाज से, (१६) **भारद्वाजः भारद्वाजात् च गौतमात् च**—भारद्वाज ने भारद्वाज और गौतम (दोनो) से, (१७) **गौतम. भारद्वाजात्**—गौतम ने भारद्वाज से, (१८) **भारद्वाजः पाराशर्यात्**—भारद्वाज ने पाराशर्य से, (१९) **पाराशर्यः बैजवापायनाद्**—पाराशर्य ने बैजवापायन से, (२०) **बैजवापायनः कौशिकायनेः**—बैजवापायन ने कौशिकायनि से, (२१) **कौशिकायनिः**—कौशिकायनि ने ॥२॥

घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात् पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद् भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद् गौतमो गौतमाद् गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्य. कुमारहारितात् कुमारहारितो गालवाद् गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद् बाभ्रव. पथः सौभरात्पन्था. सौभरोऽयास्यादागिरसादयास्य आंगिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद् विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वंसनान्मृत्यु. प्राध्वंसन. प्रध्वंसनात्प्रध्वंसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टि सनारोः सनारुः सनातनात् सनातन. सनगात्सनग. परमेष्ठिन. परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयभु ब्रह्मणे नमः ॥३॥

घृतकौशिकात्—घृतकौशिक से, (२२) **घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्**—घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, (२३) **पाराशर्यायणः पाराशर्यात्**—पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, (२४) **पाराशर्यः जातूकर्ण्यात्**—पाराशर्य ने

२४. वात्स्य, २५. गौतम, २६. गौतम, २७. माण्टि, २८. आत्रेय, २९. भारद्वाज, ३०. आसुरि, ३१. औपजन्वनि, ३२. त्रैवणि, ३३. आसुरायण तथा यास्क, ३४. जातूकर्ण्य, ३५. पाराशर्य, ३६. पाराशर्याण, ३७. घृतकौशिक ३८. कौशिकायनि, ३९. वैजवापायन, ४० पाराशर्य, ४१. भारद्वाज, ४२. गौतम, ४३. भारद्वाज, ४४. पाराशर्य, ४५. संतव और प्राचीनयोग्य, ४६. गौतम, ४७. आनभिम्लात, ४८. आनभिम्लात, ४९. आनभिम्लात, ५०. आग्निवेश्य शाण्डिल्य, ५१. गौतम, ५२. शाण्डिल्य कौशिक, ५३. कौण्डिन्य,

---

जातूकर्ण्य से, (२५) **जातूकर्ण्यः आसुरायणात् च यास्कात् च**—जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्क (दोनों) से, (२६) **आसुरायण त्रैवणेः**—आसुरायण ने त्रैवणि से, (२७) **त्रैवणि. औपजन्वने**—त्रैवणि ने औपजन्वनि से, (२८) **औपजन्वनि. आसुरे.**—औपजन्वनि ने आसुरि से, (२९) **आसुरि. भारद्वाजात्**—आसुरि ने भारद्वाज से, (३०) **भारद्वाजः आत्रेयात्**—भारद्वाज ने आत्रेय से, (३१) **आत्रेयः माण्टेः**—आत्रेय ने माण्टि से, (३२) **माण्टिः गौतमात्**—माण्टि ने गौतम से, (३३) **गौतमः गौतमाद्**—गौतम ने गौतम से, (३४) **गौतम. वात्स्याद्**—गौतम ने वात्स्य से, (३५) **वात्स्यः शाण्डिल्यात्**—वात्स्य ने शाण्डिल्य से, (३६) **शाण्डिल्यः कैशोर्यात् काप्यात्**—शाण्डिल्य ने कैशोर्य काप्य से, (३७) **कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्**—कैशोर्य काप्य ने कुमारहारित से, (३८) **कुमारहारित. गालवाद्**—कुमारहारित ने गालव से, (३९) **गालवः विदर्भीकौण्डिन्यात्**—गालव ने विदर्भीकौण्डिन्य से, (४०) **विदर्भीकौण्डिन्यः वत्सनपातः वाभ्रवात्**—विदर्भीकौण्डिन्य ने वत्सनपात्-वाभ्रव से, (४१) **वत्सनपाद् वाभ्रवः पथः सौभरात्**—वत्सनपात्-वाभ्रव ने पथिन्-सौभर से, (४२) **पन्थाः सौभरः अयास्याद् आंगिरसाद्**—पथिन्-सौभर ने अयास्य-आगिरस से, (४३) **अयास्यः आंगिरसः आभूतेः त्वाष्ट्रात्**—अयास्य-आगिरस ने आभूति-त्वाष्ट्र से, (४४) **आभूतिः त्वाष्ट्रः विश्वरूपात् त्वाष्ट्रात्**—आभूति-त्वाष्ट्र ने विश्वरूप-त्वाष्ट्र से, (४५) **विश्वरूप· त्वाष्ट्र. अश्विभ्याम्**—विश्वरूप-त्वाष्ट्र ने अश्वि-कुमारो से, (४६) **अश्विनौ दधीच आथर्वणात्**—अश्वि-कुमारो ने दध्यङ्ङ आथर्वण से, (४७) **दध्यङ आथर्वणः अथर्वणः दैवात्**—दध्यङ्ङ आथर्वण ने अथर्वा दैव से, (४८) **अथर्वा दैवः मृत्योः प्राध्वंसनात्**—अथर्वा-दैव ने मृत्यु-प्राध्वंसन से, (४९) **मृत्यु· प्राध्वंसन प्रध्वंसनात्**—मृत्यु-प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से, (५०) **प्रध्वंसन· एकर्षे.**—प्रध्वंसन ने एकर्षि से, (५१) **एकर्षिः विप्रचित्तेः**—एकर्षि ने विप्रचित्ति से; (५२) **विप्रचित्तिः व्यष्टे.**—विप्रचित्ति ने व्यष्टि

५४. कौशिक, ५५. गौपवन, ५६. पौतिमाष्य, ५७. गौपवन, ५८. पौतिमाष्य । इस प्रकार स्वयंभू ब्रह्मा से पौतिमाष्य तक ब्रह्म-विद्या की परम्परा चली आई है, ब्रह्म को नमस्कार हो ॥१-३॥

(बृहदारण्यक ४र्थ अध्याय, ६ष्ठ ब्राह्मण मे भी कुछ भेद से यही वश दिया गया है । ६ष्ठ अध्याय ५म ब्राह्मण मे एक और गुरु-शिष्य-परम्परा दी गई है जो इससे भिन्न है ।)

तृतीय अध्याय--(पहला ब्राह्मण)

(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा अश्वल का विवाद)

प्राचीन-काल में किसी समय विदेहराज जनक ने बहु-दक्षिण-नामक यज्ञ किया । विदेह (वर्तमान मिथिला) के ब्राह्मणो के अतिरिक्त वहां कुरु (वर्तमान दिल्ली के आस-पास के प्रदेश) तथा पंचाल (कन्नौज के आस-पास के प्रदेश) से अनेक ब्राह्मण पधारे थे । विदेह-राज जनक के मन में यह कौतूहल उत्पन्न हुआ कि इन ब्राह्मणो में 'अनूचानतम', अर्थात् अतिशय विद्वान् कौन है ? इस उद्देश्य से राजा

से, (५३) **व्यष्टिः सनारोः**—व्यष्टि ने सनारु से, (५४) **सनारु सनातनात्**—सनारु ने सनातन से, (५५) **सनातनः सनगात्**—सनातन ने सनग से, (५६) **सनगः परमेष्ठिन.**—सनग ने परमेष्ठी से, (५७) **परमेष्ठी ब्रह्मणः**—परमेष्ठी (ब्रह्मा) ने ब्रह्म से, (५८) **ब्रह्म**—ब्रह्म तो, **स्वयंभु**—स्वयभू (स्वय ही आदि गुरु, सर्वज्ञ) है, **ब्रह्मणे**—उस स्वयम्भू ब्रह्म को, **नमः**—नमस्कार है ॥३॥

ॐ । जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव क.स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवां सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्ग्योरावद्धा बभूवु. ॥१॥

ओम्—सब के रक्षक, आदिगुरु परमेश्वर का स्मरण कर, **जनक**—राजा जनक ने, **ह**—कभी पहले, **वैदेहः**—विदेह देश के राजा, **बहुदक्षिणेन**—बहुत (ब्राह्मण निमित्त) दक्षिणा वाले, **यज्ञेन**—यज्ञ के द्वारा, **ईजे**—यज्ञ किया, सम्मेलन (सगतिकरण) किया, **तत्र ह**—और उस (यज्ञ) मे, **कुरु-पञ्चालानाम्**—कुरु और पञ्चाल देशो के, **ब्राह्मणाः**—विद्वान् ब्राह्मण, **अभिसमेता**—एकत्र, सम्मिलित, **बभूवुः**—हुए, **तस्य ह**—और उस, **जनकस्य**—राजा जनक की, **वैदेहस्य**—विदेह-नरेश, **विजिज्ञासा**—जानने की इच्छा, **बभूव**—हुई, **क.स्वित्**—कौन-सा, **एषाम्**—इन, **ब्राह्मणानाम्**—ब्राह्मणो का (मे),

ने एक हज़ार गौएं रुकवा लीं, और एक-एक गौ के दोनों सीगो में दस-दस तोले सोना बधवा दिया ।।१।।

उनसे विदेहराज बोले, आदरणीय ब्राह्मणो ! आप लोगो में जो सबसे श्रेष्ठ ब्रह्म-ज्ञानी हो, वह इन गौओ को अपने घर ले जा सकता है । उन ब्राह्मणो में से किसी ने गौओ को हांक ले जाने का साहस नहीं किया । तब याज्ञवल्क्य ने अपने ही एक ब्रह्मचारी से कहा, हे सामश्रवा ! इन गौओ को हांक ले चलो ! वह उन्हें हांककर याज्ञवल्क्य के आश्रम में ले गया । यह देखकर वे ब्राह्मण क्रुद्ध हो उठे, और कहने लगे कि यह अपने को हम सबसे बढ़कर ब्रह्म-वेत्ता कैसे कहता है ? वहां विदेहराज जनक के पुरोहित अश्वल भी विराजते थे ।

अनूचानतमः—अधिक वेद-व्याख्याता है, **इति**—यह, **स ह**—और उसने, **गवाम्**—गोओ की, **सहस्रम्**—एक हज़ार, (**गवाम् सहस्रम्**—एक सहस्र गौए), **अवरुरोध**—घेर कर खडी कर दी, **दश दश**—दस-दस, **पादाः**—(सिक्के का) चौथा हिस्सा, **एकैकस्याः**—एक-एक (प्रत्येक) गाय के, **शृङ्गयो**—सीगो मे, **आवद्धा**—बधे हुए, टके हुए, **वभूवुः**—थे ।।१।।

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयँ स्म इति तँ ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः ।।२।।

तान् ह—और उन (ब्राह्मणो) को, **उवाच**—राजा बोला, **ब्राह्मणाः**—हे ब्राह्मणो !, **भगवन्तः**—आदरणीय, **यः**—जो, **व**—तुम मे से, **ब्रह्मिष्ठ**—सव से अधिक ब्रह्म-ज्ञानी या वेद-व्याख्याता (हो), **सः**—वह, **एताः**—इन, **गा**—गौओ को, **उदजताम्**—हाँक कर ले जावे, **इति**—ऐसे (कहा), **ते ह ब्राह्मणाः**—वे ब्राह्मण तो, **न**—नही, **दधृषुः**—साहस (हिम्मत) कर सके, **अथ ह**—तव, **याज्ञवल्क्य**—याज्ञवल्क्य ने, **स्वम्**—अपने, **एव**—ही, **ब्रह्मचारिणम्**—ब्रह्मचारी (शिष्य) को, **उवाच**—कहा, **एताः**—इन (गौओ) को, **सोम्य**—सुशील, विनीत, **उदज**—हाँक ले जा, **सामश्रवाः**—हे सामश्रवा, **इति**—ऐसे, **ताः ह**—उन (गायो) को, **उदाचकार**—(सामश्रवा ने) हाँक दिया, **ते ह ब्राह्मणाः**—(इस पर) वे ब्राह्मण, **चुक्रुधुः**—कुपित हो गये; **कथम्**—

उन्होंने याज्ञवल्क्य से पूछा, आप अपने को हम सबसे बढ़कर ब्रह्म-वेत्ता समझते है ? अगर आप वास्तव में ही इतने महान् ब्रह्म-वेत्ता है, तो हम सभी आपको नमस्कार करते है। हम सब भी इन गौओं को लेना चाहते थे, परन्तु हम अपने को सर्वोच्च ब्रह्म-वेत्ता कहने से

याज्ञवल्क्य ने अपने ब्रह्मचारी को कहा—गौएं हाक ले जाओ !

कैसे, क्योकर, **नः**—हम से, **ब्रह्मिष्ठः**—अधिक ब्रह्मज्ञानी या वेदज्ञ, **ब्रुवीत**—(अपने को) कहते (समझते) हो, **इति**—ऐसे, **अथ ह**—तत्पश्चात्, **जनकस्य वैदेहस्य**—विदेहराज जनक का, **होता**—(यज्ञ मे) होता, **अश्वल.**—अश्वल-नामी, **बभूव**—था, **सः ह**—उस (अश्वल) ने, **एनम्**—इस (याज्ञवल्क्य) को,

हिचकते रहे। आप अपने को इस उच्च-कोटि का समझते हैं, तो हमारे प्रश्नो का उत्तर दीजिये। यह कहकर अश्वल ने प्रश्न करना प्रारम्भ किया——॥२॥

अश्वल ने पूछा, हे याज्ञवल्क्य! संसार में जब हर वस्तु को मृत्यु व्याप रही है, सब मृत्यु के वश में है, तव किस प्रकार 'यजमान' (यज्ञ करने वाला) मृत्यु से छुटकारा पा सकता है? यजमान को मृत्यु से छुटकारा दिलाने के लिये 'यज्ञ' किये जाते हैं, परन्तु मृत्यु तो सभी को व्याप रही है, फिर वह मृत्यु से कैसे छूट सकता है?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया——ब्रह्मांड का अग्नि-देवता पिंड में वाणी बनकर बैठा हुआ है। तभी कहा है, 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्'——अग्नि वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हो गई। यज्ञ में 'होता' यजमान की 'वाणी' को फिर से 'अग्नि' का रूप दे देता है, इसी से यजमान मृत्यु को जीत लेता है। अपने पिंड को ब्रह्मांड से, व्यष्टि को समष्टि से मिला देना, इनमें सामंजस्य उत्पन्न कर देना——यही मृत्यु के पाश से छूट जाना है। होता, वाणी, अग्नि——इन तीनो के सहयोग से

पप्रच्छ——पूछा, **त्वम् नु खलु**——क्या निश्चय ही तू, **नः**——हम से, **याज्ञवल्क्य**——हे याज्ञवल्क्य, **ब्रह्मिष्ठः**——अधिक ब्रह्मज्ञानी, वेदज्ञ, **असि**——है, **इति**——ऐसे, **सः ह**——उस (याज्ञवल्क्य) ने, **उवाच**——कहा, **नमः**——नमस्कार, प्रणाम, **वयम्**——हम, **ब्रह्मिष्ठाय**——ब्रह्मज्ञानी को, **कुर्मः**——करते है, **गो-कामाः**——गौओ की चाहनावाले, **एव**——ही, **वयम्**——हम, **स्मः**——हैं, **इति**——यह (उत्तर दिया), **तम् ह**——उस (याज्ञवल्क्य) से, **ततः एव**——उसके पश्चात् ही, **प्रष्टुम्**——प्रश्न पूछने के लिए, **दध्रे**——धारणा की, (**प्रष्टुम् दध्रे**——पूछना आरम्भ किया), **होता अश्वलः**——(जनक के) होता (अश्वल) ने ॥२॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदँ सर्वं मृत्युनाऽऽप्तँ सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति होत्रर्त्विजाग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक् सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥३॥

याज्ञवल्क्य——हे याज्ञवल्क्य, **इति ह**——ऐसे (सम्बोधन कर), **उवाच**——(अश्वल) कहने लगा, **यद् इदम् सर्वम्**——जो यह सब कुछ (दृश्य), **मृत्युना**——मृत्यु से, **आप्तम्**——प्राप्त (घिरा हुआ), **सर्वम्**——सब ही, **मृत्युना**——मृत्यु से **अभिपन्नम्**——युक्त है, **केन**——किस (साधन-उपाय) के द्वारा, **यजमान**——यज्ञकर्ता यजमान, **मृत्योः**——मृत्यु की, **आप्तिम्**——पहुच से, **अतिमुच्यते**——सर्वथा

मृत्यु का मुकाबिला होता है। यह जो पिंड में 'वाणी' है, वही ब्रह्मांड में 'अग्नि' है। 'वाणी' का 'अग्नि'-रूप हो जाना ही 'मुक्ति' है, मृत्यु से छूटना है, यही 'अतिमुक्ति' है ॥३॥

(होता का काम यजमान की 'वाणी' को 'अग्नि' का रूप दे देना है। जैसे अग्नि मे सब मल भस्म हो जाते है, तेजस्विता आ जाती है, वैसे यजमान की वाणी अग्नि की तरह शुद्ध---सत्य-रूप ---तथा तेजस्वी हो जाती है, यही मृत्यु को जीत लेना है।)

अश्वल ने फिर दूसरा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! संसार मे जब सब जगह दिन-रात व्याप रहे है, सब जगह छाये हुए है, तब किस प्रकार 'यजमान' दिन-रात के बन्धन से छुटकारा पाकर अमर हो सकता है ? ये दिन-रात उसके जीवन को एक-एक रात करके कम ही तो करते रहते है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया---ब्रह्मांड का सूर्य-देवता पिंड में चक्षु बनकर बैठा हुआ है। यज्ञ में 'अध्वर्यु' यजमान के 'चक्षु' को फिर से 'आदित्य' का रूप दे देता है, इसी से यजमान दिन-रात से छूटकर अमर हो जाता है; 'चक्षु'-रूप व्यष्टि के लिये दिन-रात होते है,

---

मुक्त हो जाता है, **इति** (यह प्रश्न किया), **होत्रा**---होता (नामक), **ऋत्विजा**---ऋत्विक् से, **अग्निना**---अग्नि (साधन) से, **वाचा**---वाणी से, **वाग् वै**---वाणी ही तो, **यज्ञस्य**---यज्ञ (सब कर्मों) का, **होता**---होता (प्रदर्शक-निर्देशक) है, **तद्**---तो, **या इयम् वाक्**---(शरीर मे) जो यह वाणी है, **सः अयम् अग्निः**---(ब्रह्माण्ड मे) वह ही यह अग्नि है, **सः होता**---वह (अग्नि) होता है, **सः**---वह (अग्नि), **मुक्तिः**---छुटकारा (दिलाने वाला) है, **सा**---वह (वाणी), **अति-मुक्तिः**---सर्वथा मोक्ष-प्रद है ॥३॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदँ सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तँ सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यत इत्यध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषाऽऽदित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥४॥

याज्ञवल्क्य ! इति ह उवाच---हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सबोधन कर (अश्वल ने फिर) कहा, **यद् इदम् सर्वम्**---जो यह सब (विश्व), **अहोरात्राभ्याम्**---दिन और रात से, **आप्तम्**---व्याप्त (पहुच मे) है, **सर्वम्**---सारा (विश्व), **अहोरात्राभ्याम्**---दिन-रात (काल) से, **अभिपन्नम्**---युक्त है, **केन**---

'आदित्य'-रूप समष्टि के लिये नहीं रहते। अपने पिंड को ब्रह्मांड से, व्यष्टि को समष्टि से मिला देना—यही दिन-रात के पाश से छूट जाना है। यह जो पिंड में 'चक्षु' है, वही ब्रह्मांड में 'आदित्य' है। 'चक्षु' का 'आदित्य'-रूप हो जाना ही 'मुक्ति' है, यही 'अतिमुक्ति' है ॥४॥

अश्वल ने फिर तीसरा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! जब सृष्टि की सभी वस्तुओं में पूर्व-पक्ष और अपर-पक्ष व्याप रहे हैं, सब पर छा रहे हैं, तब किस प्रकार 'यजमान' शुक्ल-कृष्ण-पक्षों के बन्धन से छूट सकता है ? ये पक्ष उसके जीवन को पखवाड़ा-पखवाड़ा कम ही तो करते रहते हैं ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—ब्रह्मांड का वायु-देवता पिंड में प्राण बनकर बैठा हुआ है। यज्ञ में 'उद्‌गाता' यजमान के 'प्राण' को फिर से 'वायु' का रूप दे देता है, इसी से यजमान शुक्ल-कृष्ण-पक्ष के

किस (साधन) से, **यजमानः**—यजमान, **अहोरात्रयोः**—दिन-रात (काल) की, **आप्तिम्**—पहुच से, **अतिमुच्यते**—सर्वथा छूट जाता है, **इति**—यह (पूछा), **अध्वर्युणा**—अध्वर्यु (नामक), **ऋत्विजा**—ऋत्विग् से, **चक्षुषा**—(शरीर मे) नेत्र द्वारा, **आदित्येन**—(जगत् मे) सूर्य द्वारा, **चक्षुः वै**—आंख ही तो, **यज्ञस्य**—यज्ञ का, **अध्वर्युः**—अध्वर (यज्ञ) की प्राप्ति करानेवाला है, **तद् यद् इदम् चक्षुः**—तो जो (शरीर मे) यह नेत्र है, **सः असौ आदित्यः**—वह ही तो (विश्व मे) सूर्य है, **सः अध्वर्युः**—वह ही अध्वर्यु है, **सः मुक्तिः**—वह ही छुटकारा है, **सा अतिमुक्तिः**—वह ही सर्वात्मना मोक्ष-प्रद है ॥४॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तꣳ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इत्युद्‌गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योद्‌गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्‌गाता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥५॥

याज्ञवल्क्य इति ह उवाच—फिर अश्वल ने कहा हे याज्ञवल्क्य !, **यद् इदम् सर्वम्**—जो यह सब, **पूर्वपक्ष+अपरपक्षाभ्याम्**—शुक्ल और कृष्णपक्ष (काल) से, **आप्तम्**—पहुचा हुआ (व्याप्त), **सर्वम्**—सब, **पूर्वपक्ष+अपरपक्षाभ्याम् अभिपन्नम्**—शुक्ल और कृष्ण पक्षो से युक्त है, **केन**—किस (उपाय) से, **यजमानः**—यजमान, **पूर्वपक्ष+अपरपक्षयोः**—शुक्ल और कृष्ण पक्ष की, **आप्तिम् अतिमुच्यते**—पहुच से सर्वथा छुटकारा पाता है ?, **इति**—

बन्धन से छूटकर अमर हो जाता है। अपने पिंड को ब्रह्मांड से, व्यष्टि को समष्टि से मिला देना—यही पखवाड़ो के पाश से छूट जाना है। यह जो पिंड में 'प्राण' है, वही ब्रह्मांड में 'वायु' है। 'प्राण' का 'वायु'-रूप हो जाना ही 'मुक्ति' है, यही 'अतिमुक्ति' है ॥५॥

अश्वल ने फिर चौथा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! जब यह अन्तरिक्ष निरवलम्ब है, इसकी कोई टेकन नहीं, तब किस सीढ़ी से 'यजमान' स्वर्ग-लोक में जा पहुंचता है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—ब्रह्मांड का चन्द्र-देवता पिंड में मन बनकर बैठा हुआ है। यज्ञ में 'ब्रह्मा' यजमान के 'मन' को फिर से 'चन्द्रमा' का रूप दे देता है, इसी से यजमान को स्वर्ग-लोक पहुंचने के लिये किसी दूसरी सीढ़ी की आवश्यकता नहीं रहती। अपने पिंड को ब्रह्मांड से, व्यष्टि को समष्टि से मिला देना—यही बिना सीढ़ी के ऊपर चढ़ जाना है। ब्रह्मा, मन, चन्द्रमा—इन तीनों के सहयोग

यह (पूछा), **उद्गात्रा**—उद्गाता (नामक), **ऋत्विजा**—ऋत्विक् से, **वायुना**—(ब्रह्माण्डमे) वायु से, **प्राणेन**—(शरीर में) प्राण (श्वास-प्रश्वास) से, **प्राणः वै**—प्राण ही, **यज्ञस्य**—(शरीर-)यज्ञ का, **उद्गाता**—उद्गाता है, **तद् यः अयम् प्राणः**—तो जो यह (शरीर मे) प्राण है, **सः**—वह ही, **वायुः**—(विश्व मे) वायु है, **सः उद्गाता**—वह (वायु) ही उद्गाता है, **सः मुक्तिः**—वह छुटकारा (करनेवाला) है, **सा अतिमुक्तिः**—वह ही सर्वथा छूट जाना (मुक्ति) है ॥५॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव केनाऽऽक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः साऽतिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ संपदः ॥६॥

याज्ञवल्क्य इति ह उवाच—(फिर अश्वल ने) कहा कि हे याज्ञवल्क्य, **यद् इदम्**—जो यह, **अन्तरिक्षम्**—अन्तरिक्ष, **अनारम्बणम्**—विना अवलम्ब (सीढी आदि आधार) के, **इव**—समान (जैसा-सा) है, **केन**—किस, **आक्रमेण**—ऊपर चढने के साधन (सीढी) के द्वारा, **यजमानः**—यजमान, **स्वर्गम् लोकम्**—स्वर्ग लोक को, **आक्रमते**—चढ पाता है (प्राप्त करता है), **इति**—यह (पूछा), **ब्रह्मणा**—ब्रह्मा-नामक, **ऋत्विजा**—ऋत्विग् द्वारा, **मनसा**—मन से, **चन्द्रेण**—चन्द्रमा से, **मनः वै**—मन ही, **यज्ञस्य**—(शरीर-) यज्ञ का, **ब्रह्मा**—(अध्यक्ष) ब्रह्मा ऋत्विक् है, **तद् यद् इदम्**—तो जो यह, **मनः**—(शरीर मे)

से निरवलम्ब भी सावलम्ब हो जाता है। यह जो पिंड में 'मन' है, वही ब्रह्मांड में 'चन्द्रमा' है। 'मन' का 'चन्द्र'-रूप हो जाना ही 'मुक्ति' है, यही 'अतिमुक्ति' है ॥६॥

(वैदिक विचार-धारा मे—केन ३, प्रश्न २-३, बृहदा०-१-३—'विराट्-पुरुष' की वाणी से अग्नि, आख से आदित्य, प्राण से वायु तथा मन से चन्द्र का प्रकट होना वताया गया है। इस 'विराट्-पुरुष' से ब्रह्माड की रचना के अनन्तर, ब्रह्मांड से पिंड की रचना का वर्णन करते हुए अग्नि से वाणी, आदित्य से आख, वायु से प्राण तथा चन्द्र से मन की रचना कही गई है। इस विकसित अवस्था से मुक्तावस्था मे लौटते हुए पिंड की वाणी फिर अग्नि वन जाती है, पिड की आख फिर आदित्य वन जाती है, पिड का प्राण फिर वायु वन जाता है, पिंड का मन फिर चन्द्र वन जाता है, और इस प्रकार व्यक्ति समष्टि मे, पिंड ब्रह्मांड मे, मानुष-पुरुष विराट्-पुरुष मे लौट जाता है। इसी प्रक्रिया को याज्ञवल्क्य ने यहां खोला है। इस प्रक्रिया का यह अभिप्राय नही कि केवल मुक्त होते समय ही वाणी अग्नि का, चक्षु आदित्य का, वायु प्राण का और मन चन्द्र का रूप धारण करता है, इसका यह अभिप्राय है कि हमे हर समय अपने जीवन मे वाणी को अग्नि का, चक्षु को आदित्य का, वायु को प्राण का और मन को चन्द्र का रूप देने का प्रयत्न करते रहना चाहिये—यही मुक्ति का मार्ग है।)

अश्वल ने फिर पांचवां प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य! आज जो यह यज्ञ होने वाला है, इसमें कितनी 'ऋचाओं' से 'होता' यज्ञ करेगा?

मन है, **सः असौ**—वह ही यह, **चन्द्रः**—(विश्व मे) चन्द्रमा है, **सः**—वह, **ब्रह्मा**—ब्रह्मा (ऋत्विक्) है, **स. मुक्ति.**—वह (मन का चन्द्र हो जाना) ही छुटकारा है, **सा अतिमुक्तिः**—वह ही सर्वथा छूट जाना है, **इति**—ये सव, **अतिमोक्षाः**—अतिमुक्ति (के साधन) है, **अथ**—इसके आगे, **संपदः**—सम्पत्तिया (फल-प्राप्ति वर्णित) हैं ॥६॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होतास्मिन्यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति ॥७॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, तीन से ! वे तीन ऋचाएं कौन-सी हैं ? वे हैं, 'पुरोनुवाक्या', 'याज्या' तथा 'शस्या'। यज्ञ के प्रारंभ में जो ऋचाएं पढ़ी जाती हैं वे हैं, 'पुरोनुवाक्या'; यज्ञ जिन ऋचाओं से किया जाता है वे हैं, 'याज्या'; यज्ञ समाप्ति पर, यज्ञ समाप्त होने की प्रसन्नता में जो ऋचाएं पढ़ी जाती हैं वे हैं, 'शस्या'। इस यज्ञ की भांति मानव-जीवन एक यज्ञ है। कार्य प्रारंभ करते हुए जो संकल्प की घोषणा की जाती है, वह मानो 'पुरोनुवाक्या'-ऋचा है; कार्य को जिस दृढ़ता से किया जाता है, वह मानो 'याज्या'-ऋचा है; सफलता-पूर्वक कार्य-समाप्ति पर जो प्रसन्नता होती है, वह मानो 'शस्या'-ऋचा है। इन तीनों से यजमान को क्या लाभ होता है, किन लोकों पर विजय पाता है ? इनसे वह 'प्राणभृत्' को, प्राण का भरण अर्थात् धारण करने वाले सब के मन को मानो जीत लेता है—जो उठाये हुए कार्य को सफलता-पूर्वक पूर्ण करता है, वह सब प्राणियों की वाह-वाह जीत लेता है ॥७॥

अश्वल ने फिर छठा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! आज जो यह यज्ञ होने वाला है, इसमें कितनी 'आहुतियों' से 'अध्वर्यु' हवन करेगा ?

याज्ञवल्क्य ! इति ह उवाच—(अश्वल ने फिर) कहा हे याज्ञवल्क्य !, **कतिभिः**—कितनी, **अयम्**—यह, **अद्य**—आज (इस समय), **ऋग्भिः**—ऋचाओ से, **होता**—होता ऋत्विग्, **अस्मिन्**—इस, **यज्ञे**—यज्ञ मे, **करिष्यति**—(अपना शसन-कार्य) करेगा, **तिसृभिः**—तीन (प्रकार की ऋचाओ) से, **इति**—यह (उत्तर दिया), **कतमाः**—कौनसी, **ताः**—वे, **तिस्रः**—तीन (ऋचाये) है, **इति**—यह (पूछा), (पहली) **पुरोनुवाक्या**—यज्ञ-प्रारम्भ से पूर्व प्रयुक्त होनेवाली पुरोनुवाक्या, **च**—और, **याज्या च**—और (दूसरी) याज्या जिनसे यजन-आहुति-दान किया जाता है, **शस्या**—शस्या (प्रशसा-स्तुति परक) ऋचा, **एव**—ही, **तृतीया**—तीसरी है, **किम्**—क्या, **ताभि**—उन (ऋचाओ) से, **जयति**—जीतता (प्राप्त करता) है, **इति**—यह (फिर पूछा), **यत् किंच इदम्**—जो कुछ भी यह, **प्राणभृत्**—प्राणधारी, जीव है, **इति**—यह (उत्तर याज्ञवल्क्य ने दिया) ॥७॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति दीप्यत इव ही देवलोको

याज्ञवल्क्य ने कहा, तीन से ! वे तीन आहुतियां कौन-सी हैं ? वे हैं, 'उज्ज्वलन्ति'—प्रदीप्त हो उठने वाली; 'अतिनेदन्ते'—चट-चटाने वाली; 'अधिशेरते—कुण्ड की तलहटी में जा सोने वाली। घी अग्नि में पड़ते ही उसे प्रदीप्त कर देता है; सामग्री समिधाओं पर पड़ी चट-चटाती है; कुछ आहुति कुण्ड के तले में जाकर आराम से पड़ जाती है। यह मानव-जीवन भी एक यज्ञ है जिस में हमारे काम ही आहुतियां हैं। जिन कर्मो की आहुतियों से मनुष्य देवों की भांति प्रदीप्त हो उठता है, उनसे 'देव-लोक' को जीत लेता है; जिन कर्मों की आहुतियों से जीवन के संघर्ष में पड़ कर चट-चटाता है, राजनीति के कोलाहल में पड़ता है, उनसे 'पितृ-लोक' को जीत लेता है (तभी म्यूनिसिपैलिटियों के सदस्यों को 'पितर'—City fathers—कहते हैं); **जिन कर्मों की आहुतियों से साधारण-सा मनुष्य बना रहता है, जो आहुतियां उसे न दीप्ति देती है, न संघर्ष में डाल कर पितरों की श्रेणी में ही ले आती हैं, उनसे 'मनुष्य-लोक' को जीत लेता है—क्योंकि 'देव-लोक' में दीप्ति है, 'पितृ-लोक' में संघर्ष है, 'मनुष्य-लोक' में सिर्फ़ पड़े रहना है, यह सब से नीचे है ॥८॥**

या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥८॥

याज्ञवल्क्य ! इति ह उवाच—(अश्वल ने) फिर कहा हे याज्ञवल्क्य ! **कति**—कितनी, **अयम्**—यह; **अद्य**—आज, **अध्वर्युः**—अध्वर्यु (ऋत्विग्), **अस्मिन् यज्ञे**—इस यज्ञ मे; **आहुती**—आहुतियो को (का), **होष्यति**—हवन करेगा, **तिस्रः**—तीन ही; **इति**—ऐसे, **कतमाः ताः तिस्रः**—कौन-सी वे तीन हैं, **इति**—यह, **याः**—जो; **हुताः**—होम-अग्नि मे डाली हुई; **उज्ज्वलन्ति**—खूब प्रदीप्त होती हैं, **याः हुताः**—जो होमी हुईं; **अतिनेदन्ते**—शब्द-सा करती हैं, **याः हुता**—जो होमी हुई, **अधिशेरते**—तल-भाग मे विना जले पडी रहती है, **किम् ताभिः जयति**—क्या उन (आहुतियो) से जीतता (प्राप्त करता) है ?, **याः हुता उज्ज्वलन्ति**—जो होमी हुई प्रदीप्त हो जाती हैं, **देवलोकम्**—देव-लोक को, **एव**—ही, **ताभिः**—उनसे, **जयति**—जीतता है, **दीप्यते**—प्रकाशमान हो रहा है, **इव**—मानो, समान, जैसा, **ही (हि)**—क्योंकि, **देवलोकः**—देवलोक; **याः हुता अतिनेदन्ते**—जो होमी हुई शब्द-सा करती है, **पितृलोकम् एव**—पितृलोक को ही, **ताभिः जयति**—उन (आहुतियो) से प्राप्त

अश्वल ने फिर सातवां प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! आज जो यह यज्ञ होने वाला है, इसमे कितने 'देवताओं' से 'ब्रह्मा' दक्षिण दिशा में बैठा हुआ यज्ञ की रक्षा करेगा ? याज्ञवल्क्य ने कहा, एक से ! वह एक देवता कौन-सा है ? वह है, मन । मन एक है, परन्तु वह जहां-तहां अनन्त दिशाओं में, इन्द्रियों के सब विषयों में भागता है । ब्रह्मा का काम अनन्त दिशाओं में न जाने देकर एकमात्र यज्ञ में लाकर मन को टिका देना है । यह मानव-जीवन भी यज्ञ है जिसमे मन को अनन्त दिशाओं में न जाने देकर लक्ष्य में केन्द्रित कर देने से ही 'अनन्त-लोक' पर विजय प्राप्त होती है ॥९॥

अश्वल ने फिर आठवां प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! आज जो यह यज्ञ होने वाला है, इसमें कितने 'स्तोत्रों' से 'उद्गाता' स्तोत्र-

---

करता है, **अति इव**—मानो बढकर (अत्यधिक), **हि**—ही, **पितृलोकः**—पितरो का लोक है, **याः हुताः अधिशेरते**—जो तल-भाग मे पडी रहती है, **मनुष्यलोकम् एव**—मनुष्य-लोक को ही, **ताभिः जयति**—उन (आहुतियो) से प्राप्त करता है, **अधः इव**—नीचा (निम्न भाग) मे मानो, **हि**—क्योकि, **मनुष्यलोकः**—मनुष्य-लोक है ॥८॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥९॥

याज्ञवल्क्य ! इति ह उवाच—(अश्वल ने फिर) कहा, हे याज्ञवल्क्य !, **कतिभिः**—कितनी, **अयम्**—यह, **अद्य**—आज, **ब्रह्मा**—ब्रह्मा (ऋत्विग्), **यज्ञम्**—यज्ञ को, **दक्षिणतः**—दक्षिण दिशा की ओर से, **देवताभिः**—देवताओ से (द्वारा), **गोपायति**—रक्षा करता है, बचाता है, **इति**—ऐसे (पूछा), **एकया इति**—एक (ही देवता) से, **कतमा**—कौन सी, **सा+एका**—वह एक (देवता) है, **इति**—यह (पूछा), **मनः एव इति**—(वह देवता) मन (सावधानता-सुविचार) ही है, **अनन्तम् वै मनः**—मन अनन्त है, **अनन्ताः**—अन्त (सख्या) हीन, **विश्वेदेवाः**—विश्वेदेव है, **अनन्तम् एव**—अनन्त ही, **सः**—वह (ब्रह्मा), **तेन**—उस (मन) से, **लोकम्**—लोक को, **जयति**—प्राप्त कर लेता है ॥९॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्गाताऽस्मिन्यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः

पाठ करेगा ? याज्ञवल्क्य ने कहा, तीन से ! वे तीन 'स्तोत्र' कौन-से हैं ? वे हैं, 'पुरोनुवाक्या'-'याज्या'-'शस्या'। अश्वल ने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! जब जीवन एक यज्ञ है, तब इन तीनो को, अध्यात्म में, अर्थात् पिंड में घटा कर दिखलाओ ! याज्ञवल्क्य ने कहा, 'प्राण' ही पुरोनुवाक्या-स्तोत्र-पाठ है, प्राण ही जीवन के प्रारंभ में प्रभु का गुण-गान करने लगता है; 'अपान' ही याज्या-स्तोत्र-पाठ है, अपान की गति ठीक रहने से ही यह जीवन-यज्ञ ठीक से चलता है; 'व्यान' ही शस्या-स्तोत्र-पाठ है, व्यान मानो जीवन के अंग-अंग में प्रभु की स्तुति गा रहा है। यजमान पुरोनुवाक्या से, प्राण से, पृथिवी-लोक को जीत लेता है; याज्या से, अपान से, अन्तरिक्ष-लोक को जीत लेता है; शस्या से, व्यान से, द्यु-लोक को जीत लेता है—प्राण-अपान-व्यान की गति ठीक कर लेने से मानो पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यु का राजा बन कर विचरता है। यह सुनकर विदेहराज जनक का पुरोहित अश्वल तो चुप होकर बैठ गया ॥१०॥

शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्त-
रिक्षलोकं याज्यया द्युलोकँ शस्यया ततो ह होताऽश्वल उपरराम ॥१०॥

याज्ञवल्क्य ! इति ह उवाच—(अश्वल ने फिर) कहा, हे याज्ञवल्क्य, **कति**—कितनी, **अयम्**—यह, **अद्य**—आज, **उद्गाता**—उद्गाता (ऋत्विग्), **अस्मिन् यज्ञे**—इस यज्ञ मे, **स्तोत्रियाः**—स्तोत्र (स्तुति-) प्रधान ऋचाए, **स्तोष्यति**—प्रस्तुत करेगा, **इति**—यह (पूछा), **तिस्रः इति**—तीन, **कतमाः ताः तिस्रः**—कौन सी तीन वे (स्तुति-प्रधान) ऋचाए हैं, **इति**—यह, **पुरोनुवाक्या च**—(पहली) पुरोनुवाक्या, **याज्या च**—और (दूसरी) याज्या, **शस्या एव तृतीया**—शस्या ही तीसरी है, **कतमा**—कौन सी, **ताः**—वे हैं, **याः**—जो, **अध्यात्मम्**—शरीर में स्थित हैं, **इति**—यह (पूछा); **प्राणः एव**—प्राण ही, **पुरोनुवाक्या**—पुरोनुवाक्या (कहलाता) है, **अपानः**—अपान, **याज्या**—याज्या (कहलाता) है, **व्यानः शस्या**—व्यान (का नाम) शस्या है, **किम् ताभिः जयति इति**—उन (अध्यात्म स्तोत्रियाओ) से क्या प्राप्त करता है ?, **पृथिवीलोकम् एव**—पृथिवीलोक को ही, **पुरोनुवाक्यया**—पुरोनुवाक्या (प्राण) से, **जयति**—जीतता (पा लेता) है, **अन्तरिक्षलोकम्**—अन्तरिक्षलोक को, **याज्यया**—याज्या (अपान) से, **द्युलोकम्**—द्यु-लोक को, **शस्यया**—शस्या (व्यान) से, **ततः**

तृतीय अध्याय——(दूसरा ब्राह्मण)

(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा आर्तभाग का विवाद)

अश्वल ने 'मुक्ति' तथा 'अतिमुक्ति' के सम्बन्ध में प्रश्न किये थे, अब जरत्कारु-गोत्री आर्तभाग 'ग्रह' तथा 'अतिग्रह' के सम्बन्ध में प्रश्न करने खड़े हुए। उन्होंने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! कितने 'ग्रह' हैं, कितने 'अतिग्रह' हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा——आठ ग्रह हैं, आठ ही अतिग्रह हैं ! आर्तभाग ने पूछा——वे कौन से हैं ॥१॥

('ग्रह' का अर्थ है, 'पकड लेने वाला', 'अतिग्रह' का अर्थ है, 'बहुत जोर से पकड लेने वाला'——इन दोनो पर आगे विचार किया गया है।)

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया——'प्राण' (नासिका) 'ग्रह' है, इसने जीव को पकड़ रखा है; 'अपान' (गन्ध) अतिग्रह है, इसने घ्राणेन्द्रिय को, उसका विषय बनकर, और भी अधिक जकड़ रखा है ॥२॥

ह——उसके बाद, **होता अश्वलः**——(सन्तुष्ट) अश्वल होता, **उपरराम**——चुप (शान्त) हो गया ॥१०॥

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति । अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति ॥१॥

अथ ह——तत्पश्चात्, **एनम्**——इस (याज्ञवल्क्य) को, **जारत्कारवः**——जरत्कारु-गोत्री, **आर्तभागः**——आर्तभाग (ऋतभाग के पुत्र) ने, **पप्रच्छ**——पूछा, **याज्ञवल्क्य ! इति ह उवाच**——उसने कहा हे याज्ञवल्क्य ! **कति**——कितने, **ग्रहाः**——ग्रह (जीव को पकड मे लेनेवाले या विषय या कर्म का ग्रहण करने वाले) हैं, **कति**——कितने, **अतिग्रहाः**——(अत्यधिक पकडनेवाले) अतिग्रह है, **इति**——यह (पूछा), **अष्टौ**——आठ, **ग्रहाः**——ग्रह है, **अष्टौ**——आठ, **अतिग्रहाः**——अतिग्रह हैं, **इति**——यह (उत्तर दिया), **ये ते**——जो वे, **अष्टौ ग्रहा**——आठ ग्रह हैं, **अष्टौ अतिग्रहाः**——आठ अतिग्रह हैं, **कतमे**——कौन से, **ते**——वे हैं, **इति**——यह (बताओ) ॥१॥

प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनाऽतिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति ॥२॥

प्राणः वै ग्रहः——प्राण (घ्राण-नासिका) ही ग्रह है, **सः**——वह (प्राण-ग्रह), **अपानेन**——गन्ध (विषय) से, **अतिग्राहेण**——अतिग्रह से, **गृहीतः**——

'वाणी' ग्रह है, इसने जीव को पकड़ रखा है; 'नाम' अतिग्रह है, इसने वाणी को भी, उसका विषय बन कर, और भी अधिक जकड़ रखा है ॥३॥

'जिह्वा' ग्रह है, इसने जीव को जकड़ रखा है; 'रस' अतिग्रह है, इसने जिह्वा को भी, उसका विषय बन कर, और भी अधिक जकड़ रखा है ॥४॥

'चक्षु' ग्रह है, इसने जीव को पकड़ रखा है; 'रूप' अतिग्रह है, इसने चक्षु को भी, उसका विषय बनकर, और भी अधिक जकड़ रखा है ॥५॥

'श्रोत्र' ग्रह है, इसने जीव को पकड़ रखा है; 'शब्द' अतिग्रह है, इसने श्रोत्र को भी, उसका विषय बनकर, और भी अधिक जकड़ रखा है ॥६॥

जकडा हुआ है, **अपानेन हि**—अपान से ही, **गन्धान्**—गन्धों को, **जिघ्रति**—सूघता है ॥२॥

वाग्वै ग्रह. स नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ॥३॥

वाग् वै—वाणी (जिह्वा) ही, **ग्रहः**—ग्रह है, **सः**—वह, **नाम्ना**—नाम (सज्ञा, शब्द) से, **अतिग्राहेण**—अतिग्रह से, **गृहीतः**—जकडा हुआ है, **वाचा**—वाणी से ही, **हि**—ही, **नामानि**—नाम (शब्द-रूप विषय) को, **अभिवदति**—बोलता (उच्चारण करता) है ॥३॥

जिह्वा वै ग्रह. स रसेनाऽतिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति ॥४॥

जिह्वा वै—जीभ ही, **ग्रहः**—(विषय को) ग्रहण करनेवाला है, **स.** वह (ग्रह), **रसेन**—स्वाद रूप (विषय), **अतिग्राहेण**—अतिग्रह से, **गृहीतः**—जकडा हुआ है, **जिह्वया हि**—जिह्वा से ही, **रसान्**—रसो (स्वादो) को, **विजानाति**—जानता है ॥४॥

चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणाऽतिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥५॥

चक्षुः वै—नेत्र ही, **ग्रहः**—ग्रहण करनेवाला है, **सः**—वह (नेत्र-ग्रह), **रूपेण**—रूप (नेत्र-विषय); **अतिग्राहेण**—अतिग्रह से, **गृहीत.**—सयत है, **चक्षुषा हि**—नेत्र से ही, **रूपाणि**—रूपो को, **पश्यति**—देखता है ॥५॥

श्रोत्रं वै ग्रह' स शब्देनाऽतिग्राहेण गृहीत. श्रोत्रेण हि शब्दाञ्छृणोति ॥६॥

श्रोत्रम् वै ग्रह.—कान ही 'ग्रह' है, **सः**—वह (कान) ग्रह, **शब्देन**—(विषय-रूप) शब्द, **अतिग्राहेण**—अतिग्रह से, **गृहीतः**—सयत है, **श्रोत्रेण हि शब्दान् शृणोति**—क्योकि कान से ही शब्दो को सुनता है ॥६॥

'मन' ग्रह है, इसने जीव को पकड़ रखा है; 'कामना' अतिग्रह है, इसने मन को भी, उसका विषय बनकर, और भी अधिक जकड़ रखा है ॥७॥

दोनों 'हाथ' ग्रह है, इन्होंने जीव को पकड़ रखा है; 'कर्म' अतिग्रह है, इसने हाथों को भी, उनका विषय बनकर, और भी अधिक जकड़ रखा है ॥८॥

'त्वचा' ग्रह है, इसने जीव को पकड़ रखा है; 'स्पर्श' अतिग्रह है, इसने त्वचा को भी, उसका विषय बन कर, और भी अधिक जकड़ रखा है—ये आठ 'ग्रह' है; और ये आठ 'अतिग्रह' है ॥९॥

आर्तभाग ने फिर दूसरा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! जब 'ग्रह' तथा 'अतिग्रह' के रूप में 'मृत्यु' प्राणीमात्र को अपना अन्न

मनो वै ग्रहः स कामेनाऽतिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते ॥७॥

मनः—मन (अन्त करण), **वै ग्रहः**—ग्रह है, **सः**—वह ग्रह (मन), **कामेन**—कामना (सकल्प-विकल्प) रूप, **अतिग्राहेण**—अतिग्रह से, **गृहीतः**—सयत, नियमित है, **मनसा हि**—मन से ही, **कामान्**—कामनाओ को, **कामयते**—चाहता है ॥७॥

हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्याँ हि कर्म करोति ॥८॥

हस्तौ वै—दोनो हाथ भी, **ग्रहः**—ग्रह हैं, **सः**—वह ग्रह (हाथ), **कर्मणा**—कर्म (चेप्टा-प्रयत्न) रूप, **अतिग्राहेण**—अतिग्रह से, **गृहीतः**—सयत है, **हस्ताभ्याम् हि**—क्योकि हाथो से ही, **कर्म करोति**—(मनुष्य) कर्म करता है ॥८॥

त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनाऽतिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि
स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥९॥

त्वग् वै—त्वचा भी, **ग्रहः**—ग्रह है, **सः**—वह ग्रह (त्वचा), **स्पर्शेन**—स्पर्श (छूना) रूप, **अतिग्राहेण**—अतिग्रह से, **गृहीतः**—सयत, सबद्ध है, **त्वचा हि**—त्वचा से ही, **स्पर्शान्**—(शीत-उष्ण, मृदु-कठोर) स्पर्शो को, **वेदयते**—जानता है, **इति एते**—इस प्रकार ये, **अष्टौ**—आठ, **ग्रहाः**—ग्रह (विपयो के ग्रहण करनेवाले तथा कर्म करनेवाले) है, **अष्टौ**—आठ, **अतिग्रहाः**—अतिग्रह (इन ग्रहरूप ज्ञान-कर्म-इन्द्रियो को भी सयम—नियत-क्षेत्र—मे रखनेवाले ग्रहो के भी ग्रह) हैं ॥९॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदँ सर्वं मृत्योरन्न का स्वित्सा देवता
यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्यु जयति ॥१०॥

बनाये हुए हैं, तब मृत्यु से छुटकारा कैसे हो ? मृत्यु की मृत्यु क्या है, मृत्यु का ग्रह क्या है, मृत्यु किस का अन्न है ? अगर मृत्यु की मृत्यु नहीं, तो मोक्ष-साधन व्यर्थ है; अगर मृत्यु की मृत्यु है, तो वह क्या है ?

आर्तभाग ने जब याज्ञवल्क्य को इस प्रकार घेरा, तो याज्ञवल्क्य ने कहा, देखो, 'अग्नि' सब पदार्थों की मृत्यु है, सभी को भस्म कर देता है, परन्तु 'जल' उसे भी खा जाते हैं, बुझा देते हैं, उसे अपना अन्न बना लेते हैं। इसलिये मत कहो कि मृत्यु की मृत्यु नहीं, 'ब्रह्म-साक्षात्कार' ही मृत्यु की मृत्यु है—उसे पा लेने से मृत्यु भी मानो मर जाता है। जो इस रहस्य को जान जाता है, वह मृत्यु को जीत लेता है ॥१०॥

आर्तभाग ने फिर तीसरा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! जब यह पुरुष मरता है, तब ग्रह-अतिग्रह-रूपी इन्द्रियां इसके साथ जाती हैं, या नहीं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—नहीं, इन्द्रियां यहीं लीन

याज्ञवल्क्य इति ह उवाच—(आर्तभाग ने फिर) कहा (पूछा) हे याज्ञवल्क्य !, **यद् इदम् सर्वम्**—जो यह सब (दृश्य जगत्), **मृत्योः**—मृत्यु का, **अन्नम्**—अन्न (भोज्य) है, (**मृत्योः अन्नम्**—मृत्यु इसे ग्रस लेती है), **का स्वित्**—कौन-सी, **सा**—वह, **देवता**—देवता है, **यस्याः**—जिस (देवता) का, **मृत्युः अन्नम्**—मृत्यु भी भोज्य है, जो मृत्यु को भी खा जाता है, **अग्निः वै**—अग्नि ही, **मृत्युः**—(अन्य सब को जला कर भस्म—नष्ट—करनेवाली) मृत्यु है, **सः**—वह अग्नि, **अपाम्**—जलों का, **अन्नम्**—भोज्य, ग्रास है, **पुनः**—फिर तो (इस रहस्य का ज्ञाता), **मृत्युम्**—मृत्यु-भय को, **अपजयति**—दूर भगा देता है ॥१०॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्
प्राणाः क्रामन्त्याहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव
समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ॥११॥

याज्ञवल्क्य इति ह उवाच—(आर्तभाग ने) फिर पूछा हे याज्ञवल्क्य ! **यत्र**—जिस समय में, **अयम्**—यह, **पुरुषः**—देही जीवात्मा, **म्रियते**—मर जाता है, **उत्**—ऊपर को, **अस्मात्**—इस (मृत-देह) से, **प्राणाः**—प्राण (इन्द्रिया), **क्रामन्ति**—चली जाती हैं, (**उत् क्रामन्ति**—निकल जाती हैं), **आहो**—या; **न**—नहीं (निकलते), **इति**—यह पूछा, **न**—नहीं (निकलते),

हो जाती है, प्राण निकल जाता है, और शरीर वायु से भर जाता है, वायु से भरा हुआ मरा पड़ा सोता है ॥११॥

आर्तभाग ने फिर चौथा प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! मर जाने पर कौन वस्तु है, जो उसे नहीं छोड़ती ? याज्ञवल्क्य ने कहा, नाम ही पीछे जाता है, अच्छा किया होता है तो अच्छा नाम चलता है, बुरा किया होता है तो बुरा नाम चलता है । 'नाम' अनन्त है— तरह-तरह के नाम मनुष्य अपने पीछे छोड़ सकता है, दिव्य-गुण भी अनन्त हैं, इन दिव्य-गुणों के कारण मनुष्य जैसा चाहे वैसा नाम पीछे छोड़ सकता है । जो इस रहस्य को जानता है वह अनन्त लोकों पर विजय पाता है ॥१२॥

आर्तभाग ने फिर पांचवां प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! अब तक हमारी-तुम्हारी 'मुक्त' होने वाले पुरुष के विषय में चर्चा हुई, अब 'बद्ध' जीव के विषय में मेरे प्रश्न का उत्तर दो । जब यह पुरुष मर

इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः—यह उत्तर मे (याज्ञवल्क्य ने) कहा, **अत्र एव**—यहा ही, **समवनीयन्ते**—(अपने-अपने कारण मूल भूतो मे) लीन हो जाती है, **सः**—वह (मृत का शव), **उच्छ्वयति**—फूल जाता है, **आध्मायति**—(वायु मे) भर जाता है, अफर जाता है, **आध्मातः**—अफरा हुआ, **मृत**—मरा हुआ (शव रूप मे), **शेते**—लम्बा पडा रहता है ॥११॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति नामे-त्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥१२॥

याज्ञवल्क्य ! इति ह उवाच—(आर्तभाग ने फिर) कहा हे याज्ञवल्क्य !, **यत्र**—जिस समय, **अयम्**—यह, **पुरुषः**—देहधारी आत्मा, **म्रियते**—मर जाता है, **किम्**—क्या (वस्तु), **एनम्**—इस (मृत आत्मा) को, **न**—नही, **जहाति**—छोडती है, **इति**—यह (पूछा), **नाम इति**—नाम (सज्ञा, विशेषण) इसे नही छोडता, **अनन्तम् वै नाम**—सज्ञा (विशेषण) अनन्त है, **अनन्ताः विश्वेदेवाः**—विश्वेदेव (दिव्य शक्तिया एव गुण) भी अनन्त है, **अनन्तम् एव**—अनन्त ही, **सः**—वह (ज्ञानी), **तेन**—उससे, **लोकम्**—लोक को, **जयति**—जीत लेता (प्राप्त करता) है ॥१२॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाश-मात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते

जाता है, और इसकी 'वाणी' अग्नि में, 'प्राण' वायु में, 'चक्षु' आदित्य में, 'मन' चन्द्रमा में, 'श्रोत्र' दिशाओं में, 'शरीर' पृथिवी में, शरीरवर्ती-'आकाश' ब्रह्मांड के महाकाश में, 'लोम' औषधियों में, 'केश' वनस्पतियो में, 'शोणित और रेत' जल में लीन हो जाते हैं—जव 'कार्य' अपने कारण में, 'पिंड' ब्रह्मांड में चल देता है, तब जीव का आधार कुछ नहीं बच रहता, फिर जीव किस आधार से रहता है? रहता भी है, या नहीं, या वह भी समाप्त ही हो जाता है? याज्ञवल्क्य ने कहा, हे सोम्य आर्तभाग, ला अपना हाथ दे, मेरे साथ चल, हम दोनों ही इस विषय पर अलग बैठ कर विचार करेंगे, इस जन-समूह में इस गंभीर विषय पर विचार नही हो सकेगा, तुम तो समझ जाओगे, दूसरे लोग नहीं समझेंगे। आर्तभाग के दुराग्रह को तोड़ने का याज्ञवल्क्य को यह अच्छा उपाय सूझा। वे दोनों उठकर कुछ दूर जाकर विचार-विनिमय करने लगे। उन्होंने अलग बैठकर 'कर्म' ही की चर्चा की, 'कर्म' ही की प्रशंसा की, और यह निष्कर्ष निकाला कि सब-कुछ छूट जाने पर भी 'कर्म' नहीं छूटता, 'कर्म' के

क्वाय तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभा-
गाऽऽवामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सजन इति तौ होत्क्रम्य
मन्त्रयांचक्राते तौ ह यदूचतु. कर्म हैव तदूचतुरथ यत्प्रशशंसतु
कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति
पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥१३॥

याज्ञवल्क्य इति ह उवाच—(आर्तभाग ने फिर) कहा, हे याज्ञवल्क्य!, **यत्र**—जहा, जिस समय, **अस्य**—इस, **पुरुषस्य**—देही आत्मा की, **मृतस्य**—मरे हुए (शव-रूप मे पडे हुए), **अग्निम्**—अग्नि को (मे), **वाक्**—वाणी, **अपि+एति**—लीन हो जाती है, **वातम्**—वायु को, **प्राणः**—प्राण (घ्राण या श्वास-प्रश्वास), **चक्षुः**—नेत्र, **आदित्यम्**—सूर्य को, **मनः**—मन, **चन्द्रम्**—चन्द्रमण्डल को, **दिश.**—दिशाओं को (अवकाश) को, **श्रोत्रम्**—कान, **पृथिवीम्**—(पञ्चभूतमयी) पृथिवी को, **शरीरम्**—सम्पूर्ण देह, **आकाशम्**—आकाश को, **आत्मा**—आत्मा (हृदयाकाश), **ओषधी.**—ओषधियो को, **लोमानि**—रोए, **वनस्पतीन्**—वनस्पतियो को, **केशाः**—वाल, **अप्सु**—जलो में, **लोहितम् च**—रुधिर, **रेतः च**—और वीर्य, **निधीयते**—रख दिया जाता (लीन हो जाता है), **क्व**—कहा, **तदा**—तव, **अयम्**—यह, **पुरुषः**—(शरीर से युक्त) आत्मा, **भवति**—होता, रहता है? **इति**—

सहारे ही जीव टिका रहता है, 'पुण्य-कर्म' से जीव पुण्य करने वाला होता है, 'पाप-कर्म' से पाप करने वाला होता है। इसके बाद जरत्कारु-गोत्री आर्तभाग चुप होकर बैठ गया ॥१३॥

तृतीय अध्याय—(तीसरा ब्राह्मण)

(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा भुज्यु का विवाद)

जरत्कारु आर्तभाग के 'ग्रह' और 'अतिग्रह' एवं 'मुक्त' और 'बद्ध' जीवों की मृत्यु के सम्बन्ध में प्रश्न हो चुकने पर लह्य-वंशोत्पन्न भुज्यु प्रश्न करने को खड़े हुए। उन्होंने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! समय गुजरा, जब हम अपने कुछ मित्रों के साथ अध्ययन के लिये

यह, **आहर**—ला, आगे बढा, **सोम्य**—हे सुशील, **हस्तम्**—हाथ को, **आर्तभाग**! —हे आर्तभाग, **आवाम्**—हम दोनो, **एव**—ही (एकान्त मे), **एतस्य**—इसके (विषय मे), **वेदिष्यावः**—जानेगे, चर्चा करेगे, **न**—नही, **नौ**—हम दोनो, **एतत्**—इस (चर्चा) को, **सजने**—जन-युक्त (देश मे), जन-समूह मे, **इति**—यह (विचार प्रगट कर)।, **तौ ह**—और उन दोनो ने, **उत्क्रम्य**—(वहा से) उठकर, **मन्त्रयांचक्राते**—मन्त्रणा (विचार, ऊहापोह, तर्क-वितर्क) की, **तौ ह**—उन दोनो ने, **यद्**—जो कुछ, **ऊचतुः**—कहा, **कर्म**—कर्म (के विषय मे), **तद्**—वह (कथन), **ऊचतुः**—कहा, बताया, **अथ**—और; **यत्**—जिसकी, **प्रशशंसतुः**—प्रशसा की, श्रेष्ठता बताई, **कर्म ह एव**—कर्म की ही, **तद्**—तो, **प्रशशंसतुः**—प्रशसा की, **पुण्यः**—(जीवात्मा तब) पुण्य (फल-भोगी), **वै**—अवश्य, **पुण्येन**—धर्ममय, **कर्मणा**—कर्म से, **भवति**—होता है, **पापः**—पाप-(फल भोक्ता), **पापेन**—अधर्ममय कर्म से, **इति**—यह उपदेश दिया, **ततः ह**—उसके बाद, **जारत्कारवः**—जरत्कारु-गोत्री, **आर्तभागः**—आर्तभाग, **उपरराम**—संतुष्ट होकर शान्त (चुप) हो गया ॥१३॥

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्यासीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति त यदा लोकानामन्तानपृच्छा-माथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन् स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥१॥

अथ ह—इसके वाद, **एनम्**—इस (याज्ञवल्क्य) को , **भुज्यु**—भुज्यु-नामक ऋषि ने, **लाह्यायनिः**—लह्य-वशी, **पप्रच्छ**—पूछा, **याज्ञवल्क्य इति**

मद्र-देश में विचरण कर रहे थे। घूमते-घूमते हम पतंचल काप्य के यहां पहुंचे। उसकी कन्या का गन्धर्व-विवाह हुआ था। हमने उसके पति से पूछा, आप का शुभ-नाम क्या है? उसने कहा, मेरा नाम है, सुधन्वा आंगिरस। हम ने पूछा, आप ने तो दिग्दिगन्त में भ्रमण किया है, यह तो बताइये 'पारिक्षित'-लोग आजकल कहां है? हे याज्ञवल्क्य! तुम जानते हो 'पारिक्षित'-लोग कहां हैं? ॥१॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, मैं बताता हूं, तुम्हें गन्धर्व ने क्या उत्तर दिया। यह कहकर, भुज्यु को गन्धर्व ने जो-कुछ कहा था, वह याज्ञवल्क्य ने कह सुनाया। 'पारिक्षित' एक राजवंश का नाम है। इस वंश के राजा 'अश्वमेध'-यज्ञ करते थे। 'पारिक्षित' क्योंकि अश्वमेध-

---

ह उवाच—और कहा हे याज्ञवल्क्य!, **मद्रेषु**—मद्र देश मे, **चरकाः**—(अध्ययनार्थ) विचरणशील, यात्रा करते हुए, **पर्यव्रजाम**—घूम रहे थे, **ते**—वे (हम), **पतञ्चलस्य**—पतञ्चल-नामी के, **काप्यस्य**—कपि-गोत्री, **गृहान्**—घरो को, **ऐम**—आये, पहुंचे, **तस्य**—उस (पतञ्चल) की, **आसीत्**—थी, **दुहिता**—पुत्री, **गन्धर्व-गृहीता**—गन्धर्व (कला-निपुण, विद्यावान्) द्वारा विवाहित अथवा गान्धर्व-विधि मे विवाहित, **तम्**—उस (गन्धर्व) को, **अपृच्छाम**—हमने पूछा, **कः**—कौन, किस नामवाला, **असि**—तू है, **इति**—यह (पूछा); **सः**—उसने, **अब्रवीत्**—कहा, उत्तर दिया, **सुधन्वा**—सुधन्वा नामक, **आङ्गिरसः**—अंगिरा-गोत्री, **इति**—यह (मेरा नाम है), **तम्**—उसको (से); **यदा**—जब, **लोकानाम्**—लोको के, **अन्तान्**—अन्त (पराकाष्ठा, समाप्ति के विषय मे), **अपृच्छाम**—पूछा, **अथ**—और, **एनम्**—इसको, **अब्रूम**—कहा (पूछा), **क्व**—कहा, **पारिक्षिताः**—(अश्वमेध-यज्ञ करने वाले) पारिक्षित-वंशी (राजा), **अभवन्**—हैं, रहते है, **इति**—ऐसे (पूछा), **क्व पारिक्षिताः अभवन्**—पारिक्षित राजा कहा हैं, **सः**—वह (मैं), **त्वा**—तुझसे, **पृच्छामि**—पूछता हू, **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य, **क्व पारिक्षिताः अभवन्**—वे अश्वमेधयाजी पारिक्षित राजा कहा है, **इति**—यह ॥१॥

> स होवाचोवाच वै सोऽगच्छन्वै ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तꣳ समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति ताꣳ समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती

यज्ञ करते थे, इसलिये वे भी वही पहुंचे जहां अश्वमेध-यज्ञ करने वाले पहुंचते है। भुज्यु ने कहा, कहां पहुंचते हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा, सुनो! जहां से सूर्य उदय होता है, और जहां अस्त होता है, उतना रास्ता तय करने के लिये देव-रथ को ३२ दिन लगते हैं। पृथिवी जितनी इधर दीखती है उतनी नीचे की तरफ भी है, इसलिये पृथिवी देव-रथ के मार्ग से दुगुनी है। पृथिवी से दुगुना समुद्र है। पृथिवी तथा समुद्र को ऊपर का आकाश बहुत पास से छूता है, यह अन्तर मानो छुरे की धार या मक्खी के पंख जितना है। आकाश तथा पृथिवी के बीच इस अन्तर में--जो इस विशाल सृष्टि के विस्तार को देखते हुए इतना थोड़ा है जितना पतला मक्खी का पंख या छुरे की धार--इस अन्तर में वायु रहती है। इन्द्र, अर्थात् परमात्मा ने मानो स्वयं पक्षी का रूप धारण कर अश्वमेध-यज्ञ करने वाले पारिक्षितों को कहा, उड़ जाओ इस पृथ्वी से आकाश के 'वायु' में, और उसके

क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणा-
काशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि
धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमिव वै स
वायुमेव प्रशशंस तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप
पुनर्मृत्युं जयति य एव वेद ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥२॥

सः ह उवाच—उस याज्ञवल्क्य ने उत्तर मे कहा कि, **उवाच वै**—कहा था, बताया था, **सः**—उस (सुधन्वा गन्धर्व) ने, **अगच्छन् वै**—निश्चय ही गये (प्राप्त हुए) हैं, **ते**—वे (पारिक्षित), **तद्**—उसको, वहा, **यत्र**—जहा, **अश्वमेधयाजिनः**—अश्वमेध नामक यज्ञ करनेवाले, **गच्छन्ति**—जाते हैं, **इति**—ऐसे, (भुज्यु ने फिर पूछा) **क्व नु**—कहा ही, **अश्वमेधयाजिनः**—अश्वमेध यज्ञ करनेवाले, **गच्छन्ति**—जाते है, **इति**—यह (बताइये), **द्वात्रिंशतम्**—बत्तीस, **वै**—निश्चयपूर्वक, **देवरथ+अह्न्यानि**—सूर्य के रथ (जितना मार्ग सूर्य एक दिन मे पूर्व से पश्चिम तक तै करता हे उतना) के दिन (मार्ग के) के परिमाणवाला, **अयम्**—यह (अश्वमेध-याजियो का), **लोकः**—लोक है, **तम्**—उस (लोक) के, **समन्तम्**—चारो ओर, **पृथिवी**—पृथिवी, **द्विस्तावत्**—दोवार, उस (देवरथ-मार्ग) से दुगनी, **पर्येति**—चारो ओर है, **ताम् समन्तम्**—

साथ-साथ पहुंच जाओ उस ब्रह्म-लोक में जहां अश्वमेध-यज्ञ करने वाले जा पहुंचते हैं। इस प्रकार अश्वमेध-यज्ञ करके पारिक्षित भी इस विशाल पृथिवी से 'वायु' द्वारा आकाश में मानो उड़ते हुए उसी लोक मे जा पहुंचे जहां दूसरे अश्वमेध-यज्ञ करने वाले पहुंचे है। यह सब चमत्कार वायु का है, क्योकि अस्ल में वे 'वायु', अर्थात् 'प्राण' द्वारा ही उस लोक तक पहुंचे। वायु का अर्थ व्यष्टि में, अर्थात् पिंड में, 'प्राण' है, समष्टि में, अर्थात् ब्रह्मांड में 'वायु' है—पारिक्षितो का व्यष्टि-रूप प्राण ब्रह्मांड के समष्टि-रूप वायु में लीन होकर 'ब्रह्म-लोक' पहुंच गया—यही वह स्थान है, जहां अश्वमेध-यज्ञ करने वाले पहुंचते हैं, और जहां पारिक्षित पहुंचे। जो इस रहस्य को जानता है वह मृत्यु को जीत लेता है। इसके बाद लह्य-वंशोत्पन्न भुज्यु चुप होकर बैठ गया ॥२॥

उस पृथिवी के चारो ओर, **पृथिवीम्**—पृथिवी के, **द्विस्तावद्**—(उससे) दुगना, **समुद्र**—समुद्र, **पर्येति**—चारो ओर घिरा है, **तद्**—तो, **यावती**—जितनी (सूक्ष्म), **क्षुरस्य**—उस्तरे की, **धारा**—धार, **यावद् वा**—या जितना, **मक्षिकाया**—मक्खी का, **पत्रम्**—पर, पख (सूक्ष्म) है, **तावान्**—उतना, **अन्तरेण**—(पृथिवी और समुद्र के) मध्य मे, **आकाशः**—आकाश है (अर्थात् समुद्र और पृथिवी अति निकट हैं), **तान्**—उन (पारिक्षितो) को, **इन्द्रः**—यज्ञाधिपति, देवो के देव, ऐश्वर्य के अधिष्ठाता भगवान् ने, **सुपर्णः**—गरुड, सुपतनशील, **भूत्वा**—होकर (अर्थात् तत्काल, अनायास ही), **वायवे**—वायु को, **प्रायच्छत्**—दे दिया (वे वायुमण्डल मे विचरने लगे), **तान्**—उन (आये हुए पारिक्षित राजाओ) को, **वायु**—वायु ने, **आत्मनि**—अपने मे, **धित्वा**—धारण कर, **तत्र**—वहा, **अगमयत्**—पहुचा दिया, **यत्र**—जहा (जिस गति—लोक मे), **अश्वमेधयाजिनः**—(अन्य) अश्वमेध यज्ञ करने वाले, **अभवन्**—रहते हैं, **इति**—यह (सब है, जो सुधन्वा ने बताया था), **एवम् इव वै**—इस जैसा ही है, ऐसे ही है, **सः**—उस (गन्धर्व सुधन्वा) ने, **वायुम् एव**—वायु की ही, **प्रशशंस**—प्रशंसा की (श्रेष्ठ निरूपण किया), **तस्माद्**—उस कारण से, **वायुः एव**—वायु ही, **व्यष्टिः**—(शरीर-पिण्ड) में इकली है, **वायु**—वायु, **समष्टि**—(ब्रह्माड) मे समूह रूप मे है; **अप पुन मृत्युम् जयति**—वह (ज्ञानी) मृत्यु को जीत लेता (मृत्यु से छूट जाता) है, **य एवम् वेद**—जो ऐसे जानता है, **ततः ह**—और उसके बाद, **भुज्युः लाह्यायनि**—लह्य-वशी भुज्यु, **उपरराम**—(सतुष्ट होकर) शान्त (चुप) हो गया ॥२॥

तृतीय अध्याय--(चौथा ब्राह्मण)
(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा उषस्त चाक्रायण का विवाद)

अब उषस्त चाक्रायण प्रश्न पूछने को खड़े हुए। उन्होंने कहा, हे याज्ञवल्क्य! जो साक्षात् ब्रह्म है, अपरोक्ष, अर्थात् प्रत्यक्ष 'ब्रह्म' है, इन्द्रियों से दीखनेवाला ब्रह्म है, जिसे लोग 'आत्मा' भी कहते है, जो सबके भीतर है, उसकी व्याख्या करो। याज्ञवल्क्य ने कहा, 'एष ते आत्मा सर्वान्तरः'--यह तेरा 'आत्मा' सबके भीतर है। उषस्त ने कहा, कौन-सा आत्मा सबके भीतर है? याज्ञवल्क्य ने कहा, वही जो 'प्राण' द्वारा जीवन में दिखाई देता है, 'अपान'-'व्यान'-'उदान' द्वारा अपने को प्रकट कर रहा है, 'स ते आत्मा सर्वान्तरः'--वह तेरा 'आत्मा' सबके भीतर है, 'एष ते आत्मा सर्वान्तरः'--यह तेरा 'आत्मा' सबके भीतर है ॥१॥

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व इत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥१॥

अथ ह—इसके बाद, **एनम्**—इस (याज्ञवल्क्य) को, **उषस्तः**—उषस्त ने, **चाक्रायण**—चाक्रायण, **पप्रच्छ**—पूछा, **याज्ञवल्क्य इति ह उवाच**—और कहा कि हे याज्ञवल्क्य!, **यत्**—जो, **साक्षात्**—अनुभव का विषय, **अपरोक्षात्**—प्रत्यक्ष, **ब्रह्म**—ब्रह्म है, (और) **य**—जो, **आत्मा**—आत्मा, **सर्व+अन्तरः**—सब के अन्दर विद्यमान है (सर्वान्तर्यामी है), **तम्**—उसको (की), **मे**—मुझे, **व्याचक्ष्व**—व्याख्या करो, स्पष्टतया समझाओ, **इति**—यह (निवेदन किया), **एषः**—यह, **ते**—तेरा (अपना), **आत्मा**—(ज्ञानमय) आत्मा, **सर्वान्तर**—अन्तर्यामी है, **कतमः**—कौन-सा, **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य, **सर्वान्तरः**—सर्वान्तर्यामी है?, **यः**—जो, **प्राणेन**—प्राण से, **प्राणिति**—श्वास लेता है, **सः ते आत्मा सर्वान्तर**—वह (श्वसन-क्रिया का प्रेरयिता) तेरा आत्मा अन्तर्यामी है, **यः**—जो, **अपानेन**—अपान से, **अपानिति**—अपान का कार्य कराता है, **सः ते आत्मा सर्वान्तरः**—वह ही तेरा आत्मा (तेरे अन्दर) अन्तर्यामी

उषस्त चाक्रायण ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! जैसे कोई गौ और अश्व के विषय में पूछे और उसे गाय तथा घोड़ा न दिखाकर 'दूध देनेवाली गौ होती है'—'दौड़नेवाला घोड़ा होता है'—यह कह-कर टाल दिया जाय, वैसे ही 'साक्षात्-प्रत्यक्ष ब्रह्म आत्मा जो सबके भीतर है, क्या है'—यह पूछने पर तुमने मुझे यह कहकर टाल दिया कि जो सबके भीतर है, वह 'आत्मा' है ! याज्ञवल्क्य ! सबके भीतर रहनेवाला 'आत्मा' कहां है, दिखलाओ तो ? याज्ञवल्क्य ने कहा, वह तो स्वयं देखनेवाला है, उसे तुम किससे देखोगे, वह तो स्वयं सुननेवाला है, उसे तुम किससे सुनोगे, वह तो स्वयं मनन करनेवाला है, उसका तुम किससे मनन करोगे, वह तो स्वयं जानने-हारा है, उसका विज्ञान तुम किससे प्राप्त करोगे ? 'तेरा यह आत्मा सबके भीतर है'—'अर्थात् जब तुम पूछते हो, दिखाओ आत्मा कहां

है, यः—जो, व्यानेन—व्यान (प्राण-भेद) से, व्यानिति—व्यान का कार्य कराता है, सः ते आत्मा सर्वान्तर—वह ही सर्वान्तर्यामी तेरा आत्मा है, यः—जो, उदानेन—उदान (प्राण-भेद) से, उदानिति—उदान का कार्य कराता है, सः ते आत्मा सर्वान्तर—वह (शरीर में) अन्तर्यामी ही तेरा आत्मा है, एषः ते आत्मा सर्वान्तर—यह ही (तेरा जिज्ञास्य) आत्मा शरीर में व्यापक है ॥१॥

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येव-मेवैतद् व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरोक्षाद्‌ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञ-वल्क्य सर्वान्तरः। न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारꣳ शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम ॥२॥

सः ह उवाच उषस्तः चाक्रायण—उस चाक्रायण उषस्त ने फिर कहा, यथा—जैसे, विब्रूयात्—स्पष्टतया बताया जाय, असौ गौः—यह गाय है, असौ अश्व—यह घोड़ा है, इति—ऐसे, एवम् एव—इस प्रकार ही, एतद्—यह भी, व्यपदिष्टम् भवति—बताने योग्य है, बताया जाना चाहिये, यद् एव—जो ही, साक्षात्—अनुभव का विषय, अपरोक्षात्—प्रत्यक्ष, ब्रह्म—ब्रह्म है, यः आत्मा सर्वान्तरः—जो सर्वान्तर्यामी आत्मा है, तम् मे व्याचक्ष्व—उसका मेरे प्रति व्याख्या (निरूपण) कर, इति—यह, एषः—यह, ते—तेरा, आत्मा—आत्मा, सर्वान्तरः—सब के मध्य में है, कतमः—कौनसा, याज्ञवल्क्य—हे

है, तो मैं यही तो कह सकता हूं कि आत्मा तो सबके भीतर दीख रहा है'—इससे भिन्न कोई उपदेश तो दुःख पहुंचानेवाला ही है— 'अतो अन्यद् आर्तम्' । यह सुनकर उषस्त चाक्रायण चुप होकर बैठ गया ॥२॥

तृतीय अध्याय—(पांचवां ब्राह्मण)

(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा कहोल का विवाद)

इसके बाद कुषीतकी के पुत्र कहोल खड़े हुए । उन्होंने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात्-अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा है, जो सर्वान्तर है, सबके भीतर है, उसकी व्याख्या फिर करो । याज्ञवल्क्य ने वही उत्तर, जो उषस्त को दिया था, फिर दोहरा दिया—'यह तेरा आत्मा सबके भीतर है ।' कहोल ने पूछा, हम तो भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-

---

याज्ञवल्क्य, **सर्वान्तरः**—सब मे विद्यमान है, (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया), **न**—नही, **दृष्टेः**—दर्शन-शक्ति (आख) के, **द्रष्टारम्**—देखनेवाले (आत्मा) को, **पश्येः**—(तू आख से) देख सकेगा, **न**—न ही, **श्रुतेः**—कर्ण-इन्द्रिय के, **श्रोतारम्**—सुननेवाले (आत्मा) को, **शृणुयाः**—(तू कान से) सुन सकेगा, **न**—न ही, **मतेः**—(मनन-शक्ति) मन के भी, **मन्तारम्**—मनन करने वाले (आत्मा) को, **मन्वीथाः**—(तू मन से) मनन कर सकेगा, **न**—नही, **विज्ञातेः**—(ज्ञान-शक्ति) बुद्धि के, **विज्ञातारम्**—जाननेवाले (आत्मा) को, **विजानीयाः**—(तू बुद्धि से) जान सकेगा, **एषः**—यह ही , **ते**—तेरा, **आत्मा**—आत्मा, **सर्वान्तरः**—सर्व (देह) व्यापी है, **अत.**—इससे, **अन्यत्**—भिन्न (कथन), **आर्तम्**—दुखदायी, व्यर्थ है, **ततः ह उषस्तः चाक्रायणः**—उसके वाद चाक्रायण उषस्त (सतुष्ट होकर), **उपरराम**—शान्त (चुप) हो गया ॥२॥

अथ हैनं कहोल. कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षाद-परोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः । कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्यु-मत्येति । एतं वै तमात्मान विदित्वा ब्राह्मणा. पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणा-याश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवत. । तस्माद् ब्राह्मण. पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं च पाण्डित्य च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौन च निर्विद्याऽथ ब्राह्मण. स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्तं ततो ह कहोल. कौषीतकेय उपरराम ॥१॥

मृत्यु से घिरे हुए हैं, हमारे भीतर वह कौन-सा आत्मा है जो भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मृत्यु को लांघे हुए है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, यह वही आत्मा है, जिसे जान लेने पर ब्रह्म-ज्ञानी 'पुत्रैषणा' (Sex impulse)- 'वित्तैषणा' (Possessive impulse)-'लोकैषणा' (Self-assertive impulse) से मुंह फेर कर ऊपर उठ जाते हैं, भिक्षा से निर्वाह कर सन्तुष्ट रहते हैं—ये एषणाएं छूटती नहीं, पर उसके जान लेने पर आप-से-आप छूट जाती हैं। ऐ कहोल ! जो पुत्रैषणा है वही वित्तैषणा है, जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है; 'पुत्रैषणा-वित्तैषणा' और 'वित्तैषणा-लोकैषणा'—इन दोनों का जोड़ा भी एक ही है। वास्तव में मनुष्य में आधार-भूत जो एषणा (Urge, Libido) है, वही आयु तथा समय-भेद से भिन्न-भिन्न एषणाओं का रूप धारण करती है। इसलिये ब्रह्म-ज्ञानी जब एषणाओं को छोड़ देता है, तब 'पाण्डित्य' को छोड़कर 'बाल-भाव' में आ जाता है, बालक-जैसा सरल बन जाता है। इसके बाद वह 'पाण्डित्य' तथा 'बाल-भाव' दोनों को छोड़कर 'मुनि' बन जाता है—मौन की तरह शान्त हो जाता है। फिर अमौन-मौन सब को छोड़कर अपने शुद्ध ब्रह्म-ज्ञानी के रूप

अथ ह—इसके बाद, **एनम्**—इस (याज्ञवल्क्य) को, **कहोल**—कहोल (नामक); **कौषीतकेयः**—कुषीतकी के पुत्र, **पप्रच्छ**—पूछने लगा, **याज्ञवल्क्य इति ह उवाच**—और कहा कि हे याज्ञवल्क्य !, **यद् सर्वान्तरः**—अर्थ पूर्ववत्, **यः**—जो, **अशनाया-पिपासे**—भूख-प्यास को, **शोकम्**—शोक को, **मोहम्**—मोह को, **जराम्**—क्षीणता या बुढ़ापे को, **मृत्युम्**—मौत को, **अत्येति**—पार कर जाता है, इनका शिकार नहीं होता है, **एतम् वै**—इस ही, **आत्मानम्**—आत्मा को, **विदित्वा**—जान कर, भान कर, **ब्राह्मणा**—ब्रह्म-ज्ञानी ब्राह्मण, **पुत्र+एषणाया च**—पुत्र की इच्छा (काम-भाव) से, **वित्त+एषणायाः च**—और धन की इच्छा (अर्थ) से, **लोक-एषणायाः**—लोक-संग्रह (यश) की इच्छा (धर्म-भाव) से, **व्युत्थाय**—विशेष रूप से ऊपर उठकर (इनको छोडकर), **अथ**—तदनन्तर, **भिक्षाचर्यम्**—भिक्षा से जीवन-निर्वाह, **चरन्ति**—करते हैं, (**भिक्षा-चर्यम् चरन्ति**—भिक्षुक हो जाते हैं, सन्यास ग्रहण कर लेते हैं, मोक्ष-पथ के अनुगामी हो जाते हैं), **या हि एव**—जो ही, **पुत्रैषणा**—पुत्र-कामना है, **सा**—वह (भी), **वित्तैषणा**—धन-कामना (की उत्पादक) है, **या वित्तैषणा**—जो धन की कामना है, **सा लोकैषणा**—वह ही यश की कामना (की पूर्ति के

में आ जाता है। कहोल ने पूछा, ऐसा ब्रह्म-ज्ञानी कैसे बने ? याज्ञवल्क्य ने कहा, जैसे भी बने ऐसा ही बने, इससे भिन्न कोई भी मार्ग दुःख ही पहुंचाने वाला है। यह सुनकर कुषीतकी का पुत्र कहोल चुप होकर बैठ गया ॥१॥

तृतीय अध्याय—(छठा ब्राह्मण)

(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा गार्गी का विवाद)

इसके बाद वाचक्नवी गार्गी खड़ी हुई और पूछने लगी, हे याज्ञवल्क्य ! यह 'पृथिवी' चारों तरफ से 'जल' में ओत-प्रोत है—जल ही इस पृथिवी पर छा रहा है, जल किस में ओत-प्रोत है ?

लिये) है, **उभे हि एते**—दोनो ही ये, **एषणे**—(एक शब्द मे) कामना (तृष्णा का रूप), **एव**—ही, **भवतः**—है, **तस्माद्**—उस कारण से, **ब्राह्मणः**—ब्रह्म ज्ञानी, आत्मज्ञानी, **पाण्डित्यम्**—पडिताई, विद्या (शास्त्र-ज्ञान) को, **निर्विद्य**—निश्शेषता (पूर्णता) से जानकर अथवा (**निर्विद्य**—उपरत होकर, उपेक्षा कर, छोड कर), **बाल्येन**—बाल-भाव से, निर्लेप रूप मे, **तिष्ठासेत्**—रहने की इच्छा (प्रयत्न) करे, (और फिर) **बाल्यम् च पाण्डित्यम् च**—बाल-भाव (निर्लेपता) और पाण्डित्य (शास्त्रज्ञता) को, **निर्विद्य**—उपेक्षा कर, छोड कर, **अथ**—तब, **मुनिः**—चुप, वाक्सयमी (हो जाये), **अमौनम् च**—वाक्पटुता, **मौनम् च**—और वाक्सयम को, **निर्विद्य**—उपेक्षा कर, छोडकर, **अथ**—तत्पश्चात्, **ब्राह्मणः**—ब्रह्म-ज्ञानी (हो जाये), (कहोल ने पूछा कि) **सः ब्राह्मणः**—वह ब्राह्मण, **केन**—किस (साधन) से, किस प्रकार, **स्यात्**—हो सकता है, (उत्तर मे कहा) **येन**—जिस भी प्रकार, जिस भी साधन से, **स्यात्**—होवे, **तेन**—उस प्रकार से, **ईदृशः**—ऐसा (उपरि-निर्दिष्ट), **एव**—ही (होवे), **अतः अन्यत्**—इससे भिन्न (रूप में) तो, **आर्तम्**—पीडाजनक एव व्यर्थ ही है, **ततः ह कहोलः कौषीतकेयः**—उसके पश्चात् (प्रश्न का समाधान पाकर) कुषीतकी का पुत्र कहोल, **उपरराम**—शान्त (चुप) हो गया ॥१॥

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदँ सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्ष-लोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्व-लोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्य-लोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'वायु' में ! वायु किस में ओत-प्रोत है ? 'अन्तरिक्ष-लोको' में ! अन्तरिक्ष-लोक किस में ओत-प्रोत है ? 'गन्धर्व-लोकों' में ! गन्धर्व-लोक किस में ओत-प्रोत है ? 'आदित्य-लोको' में ! आदित्य-लोक किस मे ओत-प्रोत है ? 'चन्द्र-लोको' में ! चन्द्र-लोक किस में ओत-प्रोत है ? 'नक्षत्र-लोको' में ! नक्षत्र-लोक किस मे ओत-प्रोत है ? 'देव-लोकों' में ! देव-लोक किस में ओत-प्रोत है ? 'इन्द्र-लोकों' मे ! इन्द्र-लोक किस मे ओत-प्रोत है ? 'प्रजापति-लोको' में ! प्रजापति-लोक किस में ओत-प्रोत है ? हे याज्ञवल्क्य ! यह बताओ कि जैसे कपड़े में ताना-बाना होता है और तभी कपड़ा रह सकता है, जैसे सूत्र में मनके पिरोये होते है और तभी माला रह सकती है, वैसे प्रजापति के ये सब लोक-लोकान्तर किस कपड़े में ताने-बाने की तरह

ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि माऽतिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवता-मतिपृच्छसि गार्गि माऽतिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥१॥

अथ ह एनम्—इसके बाद इससे, गार्गी—गार्गी ने, वाचक्नवी—वचक्नु की पुत्री, पप्रच्छ—पूछा, याज्ञवल्क्य इति ह उवाच—और कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! , यद् इदम् सर्वम्—जो यह सब कुछ, अप्सु—जल मे, ओतम् च प्रोतम् च—ओत-प्रोत (अन्दर-बाहर से सबद्ध) है, रमा हुआ है, कस्मिन्—किसमे, नु खलु—निश्चय से, आप —जल, ओताः च प्रोताः च—ओत-प्रोत (रमे हुए) हैं, इति—यह (बताओ), वायौ—वायु मे, गार्गि—हे गार्गि ! , इति—यह (उत्तर है), कस्मिन् नु खलु—(और) किस मे; वायुः—वायु, ओतः च प्रोतः च—ओत-प्रोत है, इति—यह (बताइये), अन्तरिक्ष-लोकेषु—अन्तरिक्ष लोको मे, गार्गि इति—हे गार्गि ! (यह ओत-प्रोत है), कस्मिन् नु खलु—और किस मे, अन्तरिक्षलोकाः ओताः च प्रोताः च इति—अन्तरिक्ष लोक ओत-प्रोत है यह (बताइये), गन्धर्वलोकेषु—गन्धर्व-लोको मे; गार्गि इति—हे गार्गि ! ये (ओत-प्रोत है), कस्मिन् नु खलु गन्धर्वलोकाः ओताः च प्रोताः च—किसमे ये गन्धर्व-लोक ओत-प्रोत है यह (पूछा), आदित्यलोकेषु गार्गि इति—हे गार्गि ! ये आदित्य (सूर्य) लोको मे ओत-प्रोत है, कस्मिन् नु खलु आदित्यलोकाः ओताः च प्रोताः च इति—किसमें ये आदित्य-लोक ओत-प्रोत

या किस सूत्र में मनके की तरह ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, हे गार्गी, 'ब्रह्म-लोक' मे ! गार्गी ने कहा, ब्रह्म-लोक किस में ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य बोले, हे गार्गी 'अतिप्रश्न' मत पूछ, कहीं तेरा सिर न फिर जाय। तू 'अनतिप्रश्न्य'-देवता के विषय में, अर्थात् उस देवता के विषय में जिसके संबंध मे 'अतिप्रश्न' हो ही नहीं सकता, पूछने लगी है, यह ब्रह्म-देवता ऐसा है जिसके विषय में 'अति-प्रश्न' तो हो ही नहीं सकता, अर्थात् इसके विषय में कोई भी प्रश्न आगे चल ही नहीं सकता, जो आगे-आगे प्रश्न करता चला जायगा वह कही नहीं रुकेगा, उसका सिर फिर जायगा, इसलिये हे गार्गी ! तू 'अतिप्रश्न' मत कर। यह सुनकर गार्गी चुप होकर बैठ रही ॥१॥

है, **चन्द्र-लोकेषु गार्गि इति**—हे गार्गि ! ये चन्द्र-लोको मे ओत-प्रोत है, **कस्मिन् नु खलु चन्द्रलोकाः ओताः च प्रोताः च इति**—किसमे ये चन्द्र-लोक ओत-प्रोत है, **नक्षत्र-लोकेषु गार्गि इति**—हे गार्गि ! ये नक्षत्र-लोको मे ओत-प्रोत है, **कस्मिन् नु खलु नक्षत्र-लोकाः ओताः च प्रोता· च इति**—किसमे ये नक्षत्र-लोक ओत-प्रोत हैं, **देवलोकेषु गार्गि इति**—हे गार्गि ! ये देव-लोको मे ओत-प्रोत है, **कस्मिन् नु खलु देवलोका· ओताः च प्रोताः च इति**—किसमे ये देव-लोक ओत-प्रोत है, **इन्द्रलोकेषु गार्गि इति**—हे गार्गि ! ये इन्द्र-लोको मे ओत-प्रोत हैं, **कस्मिन् नु खलु इन्द्रलोकाः ओताः च प्रोताः च इति**—किसमे ये इन्द्रलोक ओत-प्रोत हैं, **प्रजापतिलोकेषु गार्गि इति**—हे गार्गि ! प्रजापति-लोको मे ये ओत-प्रोत है, **कस्मिन् नु खलु प्रजापतिलोकाः ओताः च प्रोताः च**—किसमे ये प्रजापति-लोक ओत-प्रोत है, **ब्रह्मलोकेषु गार्गि इति**—हे गार्गि ! ये ब्रह्म-लोक मे ओत-प्रोत हैं, **कस्मिन् नु खलु ब्रह्मलोकाः ओता· च प्रोता· च**—किसमे ये ब्रह्म-लोक ओत-प्रोत है, **सः ह उवाच**—उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा, **गार्गि**—हे गार्गि ! **मा**—मत, **अतिप्राक्षीः**—इससे आगे पूछ, **मा**—नही, **ते**—तेरा, **मूर्धा**—मस्तक, **व्यपप्तद्**—गिरे, झुके, **अनतिप्रश्न्याम्**—जो अति-प्रश्न (आगे-आगे, और-और विविध प्रश्नो) का विषय—ज्ञेय नही है, जो प्रश्नो से परे है (जो विविध प्रश्नो के समाधान से नही जाना जा सकता, किन्तु अनुभव का विपय है), **वै**—ऐसे, **देवताम्**—देवता के विषय मे, **अतिपृच्छसि**—पुन पुन पूछ रही है, **गार्गि मा अतिप्राक्षीः**—हे गार्गि ! अव और आगे मत पूछ, **इति**—यह (याज्ञवल्क्य ने कहा), **ततः ह**—और उसके वाद (ऋषि के तात्पर्य को समझ कर), **गार्गी वाचक्नवी**—वचक्नु की पुत्री गार्गी, **उपरराम**—चुप (शान्त) हो गई (बैठ गयी) ॥१॥

(गार्गी के ये प्रश्न ३३ देवताओ से सम्बन्ध रखते है। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र तथा प्रजापति---वैदिक साहित्य मे ये ३३ देवता माने जाते है। अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, देव-लोक, चन्द्र, नक्षत्र---ये आठ वसु है, इनमें अग्नि का वास पृथिवी मे, वायु का अन्तरिक्ष मे, आदित्य का देवलोक (द्यु-लोक) मे, चन्द्र का नक्षत्र-लोक मे है। दस 'देव', अर्थात् इन्द्रियां तथा मन मिलकर ग्यारह रुद्र है। बारह मास बारह आदित्य है। गार्गी के प्रश्न मे इन्ही ३३ देवताओ का हेर-फेर है। गार्गी ने अपने प्रश्नो मे अग्नि को नही रखा, जल को रखा है, क्योकि अग्नि इस प्रकार फैली हुई नही पाई जाती जैसे जल पाये जाते है। ३३ देवताओ के 'अग्नि-पृथिवी-वायु-अन्तरिक्ष' की जगह गार्गी ने 'पृथिवी-जल-वायु-अन्तरिक्ष'---इस क्रम को लिया है, ३३ देव-ताओ के 'आदित्य-देव-चन्द्र-नक्षत्र' की जगह गार्गी ने 'गन्धर्व-आदित्य-चन्द्र-नक्षत्र'---इस क्रम को लिया है, और इस क्रम मे भी 'देव-लोक' की जगह 'गन्धर्व-लोक' के सम्बन्ध मे प्रश्न किया है, और गन्धर्व-लोक को आदित्य से पहले कह दिया है, ३३ देवताओ के ११ रुद्रों को देव कहकर बचे हुए देवताओ को दृष्टि मे रखकर गार्गी ने 'देव-इन्द्र-प्रजापति-ब्रह्म' के सम्बन्ध मे प्रश्न किया है। रुद्र क्योकि इन्द्रियो का नाम है, और इन्द्रियो को उपनिषद् में 'देव' कहा जाता है, इसलिये रुद्रो को 'देव' कहना असगत नही है। याज्ञवल्क्य के कहने का मुख्य अभिप्राय इतना ही है कि तैंतीस-के-तैंतीस देवता ब्रह्म मे ही माला के मनके की तरह पिरोये हुए है, कोई स्वतन्त्र नही है।)

तृतीय अध्याय---(सातवां ब्राह्मण)

(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा उद्दालक का विवाद)

इसके बाद आरुणि उद्दालक खड़े हुए और कहने लगे, हे याज्ञ-वल्क्य! समय गुज़रा जब हम लोग अपने कुछ मित्रों के साथ यज्ञ-

---

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद् भार्या गन्धर्वगृहीता

शास्त्र का अध्ययन करने के लिये मद्र-देश में पतंचल काप्य के घर मे निवास करते थे। उसकी स्त्री का एक गन्धर्व से गहरा परिचय था। हमने उस गन्धर्व से पूछा, आप का शुभ-नाम क्या है? उसने, कहा, मेरा नाम है, कबन्ध आथर्वण। उसने पतंचल काप्य से और हम याज्ञिकों से प्रश्न किया, क्या तुम उस 'सूत्र' को जानते हो जिस में यह लोक, पर-लोक और सब भूत मनके की तरह पिरोये हुए हैं? काप्य ने कहा, भगवन्! मैं नही जानता। फिर उसने दूसरा प्रश्न किया, हे काप्य! क्या तुम उस 'अन्तर्यामी' को जानते हो जो इस लोक, पर-लोक और सब भूतों का अन्तर्यमन कर रहा है, भीतर से उनका नियमन कर रहा है, नियन्त्रण कर रहा है? काप्य

तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् कबन्ध आथर्वण इति सोऽब्रवीत्पतञ्चल काप्य याज्ञिकाँश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाँश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकँ सर्वाणि भूतानि च योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चल काप्यं याज्ञिकाँश्च यो वै तत्काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वाँस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति यो वा इदं कश्चिद्ब्रूयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति॥१॥

अथ ह—और इसके बाद, **एनम्**—इस (याज्ञवल्क्य) से, **उद्दालकः**—उद्दालक ने, **आरुणिः**—अरुण के पुत्र, **पप्रच्छ**—पूछा, **याज्ञवल्क्य इति ह उवाच**—और कहा कि हे याज्ञवल्क्य!, **मद्रेषु**—मद्र-देश मे, **अवसाम**—हम रहते थे, **पतञ्चलस्य काप्यस्य**—कपि-गोत्री पतञ्चल के, **गृहेषु**—घरो मे, **यज्ञम्**—यज्ञ को (के विषय मे), **अधीयानाः**—अध्ययन करते हुए, **तस्य**—उसकी, **आसीत्**—थी, **भार्या**—पत्नी, **गन्धर्वगृहीता**—किसी गन्धर्व (विद्या-कला के ज्ञाता) से परिचित (अनुरक्त), **तम्**—उस (परिचित गन्धर्व) को, **अपृच्छाम**—हमने पूछा, **कः असि**—तू कौन (किस नामवाला) है, **इति**—ऐसे, **सः**—उस (गन्धर्व) ने, **अब्रवीत्**—कहा, **कबन्ध**—कबन्ध (नाम का), **आथर्वणः**—अथर्व-गोत्री या अथर्ववेद का ज्ञाता, **इति**—यह (परिचय दिया),

ने कहा, भगवन् ! मैं नहीं जानता। तब उसने कहा, हे काप्य ! जो उस 'सूत्र' को, और उस 'अन्तर्यामी' को जानता है, वही ब्रह्मवित् है, वही लोकवित् है, वही देववित् है, वही वेदवित् है, वही भूतवित् है, वही आत्मवित् है, वही सर्ववित् है। उसके बाद उसने 'सूत्र' तथा 'अन्तर्यामी' के विषय में चर्चा की। उसने जो-कुछ कहा वह मुझे मालूम है। हे याज्ञवल्क्य ! अगर तुझे उस 'सूत्र' और 'अन्तर्यामी' का ज्ञान नहीं है, और फिर भी तुमने ब्रह्म-ज्ञानी को दी जाने वाली गौएं हंकवा ली हैं, तो तुम्हारा सिर गिर पड़ेगा, तुम्हें मुंह की खानी पड़ेगी। याज्ञवल्क्य ने कहा, हे गौतम ! मैं उस 'सूत्र', और उस 'अन्तर्यामी' को जानता हूं। आरुणि ने कहा, सब कोई कहा करते हैं, मैं जानता हूं, मैं जानता हूं—जो जानते हो, सो कहो ॥१॥

सः—उस (गन्धर्व) ने, अब्रवीत्—कहा, पतञ्चलम् काप्यम्—(गृहस्वामी) काप्य पतञ्चल को, याज्ञिकान् च—और हम यज्ञ के अध्येताओं को, वेत्थ—जानता है, नु—क्या, काप्य—हे काप्य !, तत्—उस, सूत्रम्—धागा, बन्धन को, येन—जिससे, अयम् च लोकः—यह लोक (यह वर्तमान जीवन); परः च लोकः—और दूसरा (अन्य) लोक (पर-जन्म), सर्वाणि च भूतानि—और सारे (चर-अचर) भूत, संदृब्धानि—(एक-सूत्र में) बंधे (जकड़े) हुए, भवन्ति—होते हैं, इति—यह (पूछा), सः अब्रवीत् पतञ्चलः काप्यः—(उत्तर में) काप्य पतञ्चल ने कहा, न अहम् तद्—नहीं मैं उस (सूत्र) को, वेद इति—जानता हूं; स अब्रवीत् पतञ्चलम् काप्यम् याज्ञिकान् च—(फिर) उसने काप्य पतञ्चल और हम यज्ञ-अध्येताओं को कहा (पूछा), वेत्थ नु त्वम् काप्य—हे काप्य क्या तू जानता है, तम्—उस, अन्तर्यामिणम्—अन्तर्यामी को, यः—जो, इमम् च लोकम्—इस लोक को, परम् च लोकम्—और दूसरे (इस लोक से भिन्न) लोक को, सर्वाणि भूतानि च—और सारे (चर-अचर) भूतों को, यः—जो; अन्तरः—अन्दर रमण करता हुआ, अन्दर स्थित (विद्यमान), यमयति—नियन्त्रित करता है, नियम (मर्यादा) में रखता है; इति—यह (पूछा), सः याज्ञिकान् च—अर्थ पूर्ववत्, यः वै—जो तो, तत्—उस, काप्य—हे काप्य !, सूत्रम्—सूत्र (बन्धन) को, विद्यात्—जान जाये, तम् च अन्तर्यामिणम्—और उस अन्तर्यामी को, इति—ऐसे, सः ब्रह्मवित्—वह ब्रह्मज्ञानी, सः लोकवित्—वह लोकों का ज्ञाता, सः देववित्—वह देवताओं का ज्ञाता, सः भूतवित्—वह (चर-अचर) भूतों का ज्ञाता, सः आत्मवित्—वह आत्मा (अपने स्वरूप) का ज्ञाता, सः सर्ववित्—वह सबको जानने वाला (होता)

याज्ञवल्क्य ने कहा, हे गौतम ! ब्रह्मांड मे 'वायु' तथा पिंड मे 'प्राण' ही वह सूत्र है जिस में यह लोक, पर-लोक और सब भूत मनके की तरह पिरोये हुए है। इसीलिये हे गौतम ! जब पुरुष मर जाता है तब लोग कहने लगते है कि इसके अंग गिर गये, ढीले पड़ गये। हे गौतम ! प्राण-वायु-रूपी सूत्र से ही तो जीवित पुरुष के अंग मनके की तरह गुंथे रहते है ! आरुणि ने कहा, ठीक है; हे याज्ञवल्क्य ! अब 'अन्तर्यामी' के विषय में कहो ॥२॥

है), **इति**—यह (कह कर), **तेभ्यः**—उन (काप्य आदि) को, **अब्रवीत्**—(गन्धर्व ने) उपदेश दिया, **तद्**—उस (उपदेश या सूत्र) को, **अहम्**—मैं (आरुणि उद्दालक), **वेद**—जानता हू, **तत्**—उस, तो, **चेत्**—अगर, **त्वम्**—तू, **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य !, **सूत्रम्**—उस सूत्र (वन्धन) को, **अविद्वान्**—न जाननेवाला, न जानकर भी, **तम् च अन्तर्यामिणम्**—और उस अन्तर्यामी को, **ब्रह्मगवीः**—ब्राह्मणो के निमित्त प्रदान की हुई गौओ को, **उदजसे**—अपने घर की ओर ले जाने के लिए हॉकता है (तो), **मूर्धा**—मस्तक, **ते**—तेरा, **विपतिष्यति**—गिर जायगा, **इति**—यह (आरुणि ने कहा), **वेद वै अहम्**—निश्चय ही मैं जानता हू, **गौतम**—हे गोतम-गोत्री (उद्दालक), **तत् सूत्रम् तम् च अन्तर्यामिणम् इति**—उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को यह (याज्ञवल्क्य ने कहा), **यः वै इदम् कश्चिद्**—जो कोई भी यह, **ब्रूयात्**—कहे, कह सकता है कि, **वेद वेद इति**—मैं जानता हू, मैं जानता हू, **यथा**—जैसे (जिस प्रकार), **वेत्थ**—तू जानता है, **तथा**—वैसे, **ब्रूहि**—कह (वता), **इति**—यह (आरुणि ने कहा) ॥१॥

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोक. सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥२॥

सः ह उवाच—उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा, **वायुः वै**—वायु ही, **गौतम**—हे गौतम (उद्दालक), **तत्**—वह, **सूत्रम्**—वन्धन है, **वायुना**—वायु (रूप), **वै**—ही, **गौतम**—हे गौतम !, **सूत्रेण**—सूत्र (धागे, वन्धन) से, **अयम्** . **भवन्ति**—अर्थ पूर्ववत्, **तस्माद् वै**—उस कारण से ही, **गौतम**—हे गौतम ! **पुरुषम्**—मनुष्य को, **प्रेतम्**—मरे हुए, **आहुः**—कहते हैं, **व्यस्रंसिषत**—ढीले पड गये है, शिथिल हो गये है, **अस्य**—इस (मृत) के, **अङ्गानि**—अग-प्रत्यग; **इति**—ऐसे, **वायुना हि गौतम सूत्रेण**—वायु रूप सूत्र से ही हे गौतम, **संदृब्धानि**—

याज्ञवल्क्य ने कहा, जो 'पृथिवी' में रहता हुआ भी पृथिवी से अलग है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, परन्तु जिसका पृथिवी ही शरीर है, जो पृथिवी के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा--'तेरा', अर्थात् जिसे तू कहता है, 'मैं जानता हूं'-'मैं जानता हूं'—यही 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥३॥

जो 'जलों' में रहता हुआ भी जलों से अलग है, जिसे जल नहीं जानते, परन्तु जिसका जल ही शरीर है, जो जलों के भीतर से उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥४॥

बधे हुए, कसे हुए (वे अग), **भवन्ति**—होते है, **इति**—यह (जान), **एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य यह इस प्रकार ही है (आपका कथन सत्य है), **अन्तर्यामिणम् ब्रूहि इति**—अब अन्तर्यामी के विषय मे बताओ, **इति**—यह (कहा) ॥२॥

य· पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो य पृथिवी न वेद यस्य
पृथिवी शरीर य· पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥३॥

यः—जो, **पृथिव्याम्**—पृथिवी मे, **तिष्ठन्**—ठहरा हुआ, स्थित, **पृथिव्याः**—पृथिवी मे, **अन्तर**·—पृथक् (सत्तावाला) है, **यम्**—जिसको, **पृथिवी न वेद**—पृथिवी नही जानती है, **यस्य**—जिसका, **पृथिवी**—पृथिवी; **शरीरम्**—शरीर है, **यः**—जो, **पृथिवीम्**—पृथ्वी को, **अन्तर**·—भीतर (मध्य) रहता हुआ ही, **यमयति**—नियत्रण मे रखता है, **एषः**—यह, **ते**—तेरा, **आत्मा**—आत्मा (के अन्दर विद्यमान ब्रह्म), **अन्तर्यामी**—अन्तर्यामी, **अमृतः**—(और) अमर (मृत्यु से परे) है ॥३॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योन्तरो यमापो न विदुर्यस्याप· शरीरं
योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥४॥

य·—जो, **अप्सु**—जलो में, **तिष्ठन्**—रहता हुआ, **अद्भ्यः**—जलो से, **अन्तर**·—पृथक् है, **यम्**—जिसको, **आपः**—जल, **न विदु**·—नही जानते है, **यस्य**—जिसका, **आप**—जल, **शरीरम्**—शरीर (व्याप्य) है, **य**·—जो, **अप**—जलो को, **अन्तर**—अन्दर विराजमान, **यमयति**—नियमन करता है, **एष**—यह नियन्ता ही, **ते**—तेरा, **आत्मा**—आत्मा (मे स्थित ब्रह्म) ही, **अन्तर्यामी अमृतः**—अन्तर्यामी और अमर है ॥४॥

जो 'अग्नि' में रहता हुआ भी अग्नि से अलग है, जिसे अग्नि नहीं जानती, परन्तु जिसका अग्नि ही शरीर है, जो अग्नि के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।।५।।

जो 'अन्तरिक्ष' में रहता हुआ भी अन्तरिक्ष से अलग है, जिसे अन्तरिक्ष नहीं जानता, परन्तु जिसका अन्तरिक्ष ही शरीर है, जो अन्तरिक्ष के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।।६।।

जो 'वायु' मे रहता हुआ भी वायु से अलग है, जिसे वायु नहीं जानता, परन्तु जिसका वायु ही शरीर है, जो वायु के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।।७।।

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं
योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।।५।।

यः—जो, **अग्नौ**—अग्नि मे, **तिष्ठन्**—रहता हुआ, **अग्नेः**—अग्नि से, **अन्तरः**—भिन्न है, **यम् अग्निः न वेद**—जिसको अग्नि नही जान पाती; **यस्य अग्निः शरीरम्**—जिसका अग्नि शरीर है, **यः**—जो, **अग्निम्**—अग्नि को, **अन्तर**—अन्दर रहता हुआ, **यमयति**—मर्यादा मे रखता है, **एषः ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः**—यह ही अमर अन्तर्यामी तेरा आत्मा (मे भी विद्यमान) है।।५।।

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षं
शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।।६।।

यः—जो, **अन्तरिक्षे**—अन्तरिक्ष मे, **तिष्ठन्**—ठहरा हुआ, विद्यमान, **अन्तरिक्षात्**—अन्तरिक्ष से, **अन्तरः**—बाहर (पृथक्) है, **यम् अन्तरिक्षम् न वेद**—जिसको अन्तरिक्ष नही जान पाता, **यस्य अन्तरिक्षम् शरीरम्**—जिसका अन्तरिक्ष शरीर है, **यः**—जो, **अन्तरिक्षम्**—अन्तरिक्ष को, **अन्तरः**—अन्दर रहता हुआ, **यमयति**—नियन्त्रण मे रखता है, **एषः अमृत**—अर्थ पूर्ववत् ।।६।।

यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः
शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत ।।७।।

यः—जो, **वायौ**—वायु मे, **तिष्ठन्**—रहता हुआ भी, **वायोः**—वायु से, **अन्तरः**—बाहर है, **यम् वायुः न वेद**—जिसको वायु नही जानता, **यस्य वायुः शरीरम्**—जिसका वायु शरीर है, **य. वायुम्**—जो वायु को, **अन्तर.**—अन्दर रहता हुआ, **यमयति**—नियमित रखता है, **एष अमृत.**—अर्थ पूर्ववत् ।।७।।

जो 'द्यु' में रहता हुआ भी द्यु से अलग है, जिसे द्यु नही जानता, परन्तु जिसका द्यु-लोक ही शरीर है, जो द्यु-लोक के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।।८।।

जो 'आदित्य' में रहता हुआ भी आदित्य से अलग है, जिसे आदित्य नहीं जानता, परन्तु जिसका आदित्य ही शरीर है, जो आदित्य के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।।९।।

जो 'दिशाओं' में रहता हुआ भी दिशाओं से अलग है, जिसे दिशाएं नहीं जानतीं, परन्तु जिसका दिशाएं ही शरीर है, जो दिशाओं के भीतर से उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ।।१०।।

यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं
यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।।८।।

यः—जो, दिवि—द्यु-लोक मे, तिष्ठन्—विराजमान, दिवः—द्यु-लोक से, अन्तरः—बाहर है, यम् द्यौः न वेद—जिसको द्यु-लोक नही जानता, यस्य द्यौः शरीरम्—जिसका द्यु-लोक शरीर है, यः दिवम्—जो द्यु-लोक को, अन्तरः—अन्दर रहता हुआ भी, यमयति—नियमित रखता है, एषः अमृतः—अर्थ पूर्ववत् ।।८।।

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः
शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।।९।।

यः—जो, आदित्ये—सूर्य मे; तिष्ठन्—रहता हुआ, आदित्याद्—सूर्य से, अन्तरः—पृथक्, बाहर है, यम् आदित्यः न वेद—जिसको सूर्य नही जानता, यस्य आदित्यः शरीरम्—जिसका सूर्य शरीर है, यः आदित्यम् अन्तरः यमयति—जो सूर्य को अन्दर रहता हुआ भी नियम मे रखता है, एषः अमृतः—अर्थ पूर्ववत् ।।९।।

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः
शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।।१०।।

यः—जो, दिक्षु—दिशाओं (अवकाश) मे, तिष्ठन्—रहता हुआ भी, दिग्भ्यः—दिशाओं से, अन्तरः—पृथक् (बाहर भी) है, यम् दिशः—जिसको दिशाएं, न विदुः—नही जानती है, यस्य—जिसका, दिशः—दिशाएं, शरीरम्—शरीर है, यः—जो, दिशः—दिशाओं को, अन्तरः—अन्दर रहता हुआ; यमयति—नियम मे रखता है, एषः अमृतः—अर्थ पूर्ववत् ।।१०।।

जो 'चन्द्र-तारक' में रहता हुआ भी उनसे अलग है, जिसे चन्द्र-तारक नही जानते, परन्तु जिसका चन्द्र और तारे ही शरीर है, जो चन्द्र-तारक के भीतर से उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥११॥

जो 'आकाश' में रहता हुआ भी आकाश से अलग है, जिसे आकाश नहीं जानता, परन्तु जिसका आकाश ही शरीर है, जो आकाश के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१२॥

जो 'तम' में रहता हुआ भी तम से अलग है, जिसे तम नहीं जानता, परन्तु जिसका तम ही शरीर है, जो तम के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१३॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठँ् श्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्र-तारकँ् शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥११॥

यः—जो, **चन्द्रतारके**—चन्द्रमा और तारा-गण मे, **तिष्ठन्**—रहता हुआ, **चन्द्रतारकाद्**—चन्द्र और तारो से, **अन्तरः**—वाहर है, **यम् चन्द्रतारकम् न वेद**—जिसको चन्द्र और तारे नही जानते, **यस्य चन्द्रतारकम् शरीरम्**—जिसका चन्द्र और तारे शरीर है, **यः चन्द्रतारकम्**—जो चन्द्र और तारो को, **अन्तरः**—अन्दर रहता हुआ, **यमयति**—नियमित करता है, **एषः . अमृतः**—अर्थ पूर्ववत् ॥११॥

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१२॥

यः—जो, **आकाशे**—आकाश मे, **तिष्ठन्**—रहता हुआ, **आकाशाद्**—आकाश से, **अन्तरः**—वाहर, पृथक् है, **यम् आकाशः न वेद**—जिसको आकाश नही जानता, **यस्य आकाशः शरीरम्**—जिसका आकाश शरीर (व्याप्य) है, **यः आकाशम् अन्तरः यमयति**—जो आकाश को अन्दर रहता हुआ भी नियन्त्रण में रखता है, **एषः अमृतः**—अर्थ पूर्ववत् ॥१२॥

यस्तमसि तिष्ठँ्स्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१३॥

यः—जो, **तमसि**—तमो-गुण मे (अन्धकार मे), **तिष्ठन्**—स्थित, **तमसः**—तमोगुण से, **अन्तर.**—पृथक् है, **यम् तमः न वेद**—जिसको तमोगुण नही जानता, **यस्य तम. शरीरम्**—जिसका तमोगुण शरीर (व्याप्य) है, **यः**

जो 'तेज' में रहता हुआ भी तेज से अलग है, जिसे तेज नही जानता, परन्तु जिस का तेज ही शरीर है, जो तेज के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१४॥

पृथिवी, अप्, तेज आदि देवताओ के विषय में जो कहा वह 'अधिदैवत' है। याज्ञवल्क्य कहते है, अब 'भूतो' के विषय में सुनो। जो सब 'भूतो' में, प्राणियो में रहता हुआ भी प्राणियों से अलग है, जिसे प्राणी नहीं जानते, परन्तु जिसका प्राणी ही शरीर है, जो प्राणियो के भीतर से उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१५॥

तमः—जो तमोगुण को, अन्तर·—अन्दर रहता हुआ, यमयति—नियन्त्रण मे रखता है, एष· अमृतः—अर्थ पूर्ववत् ॥१३॥

यस्तेजसि तिष्ठँस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेज शरीरं यस्ते-
जोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥१४॥

यः—जो, तेजसि—तेजोगुण (प्रकाश) मे, तिष्ठन्—रहता हुआ, तेजस—तेजोगुण मे, अन्तर·—बाह्य है, यम् तेज· न वेद—जिसको तेजोगुण (प्रकाश) नही जानता, यस्य तेजः शरीरम्—जिसका तेजोगुण शरीर है, यः तेज·—जो तेज को, अन्तर·—अन्दर रहता हुआ, यमयति—नियमित करता है, एषः अमृतः—अर्थ पूर्ववत्, इति—यह (कथन-व्याख्या), अधिदैवतम्—(ब्रह्माण्ड के) देवताओ के सम्बन्ध मे (की है), अथ—अब, इसके आगे, अधिभूतम्—भूतो के सम्बन्ध मे (व्याख्या करते है) ॥१४॥

य· सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यँ सर्वाणि भूतानि
न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं य· सर्वाणि भूतान्यन्तरो
यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥१५॥

यः—जो, सर्वेषु भूतेषु—सारे (चर-अचर) भूतो मे, तिष्ठन्—रहता हुआ, सर्वेभ्यः भूतेभ्यः—सब भूतो (प्राणियो) से; अन्तरः—पृथक् है, यम् सर्वाणि भूतानि—जिसको सारे भूत, न विदु—नही जानते, यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्—जिसका सारे भूत शरीर है, यः—जो, सर्वाणि भूतानि—सारे भूतो को; अन्तरः—भीतर विद्यमान, यमयति—नियमन करता है, एषः · अमृतः—अर्थ पूर्ववत्, इति—यह (व्याख्या), अधिभूतम्—भूतो के सम्बन्ध मे है, अथ—अब, अध्यात्मम्—आत्मा (शरीर—पिण्ड) के विषय मे यो जानो ॥१५॥

भूतों, अर्थात् प्राणि-जगत् के विषय में जो कहा वह 'अधिभूत' है। याज्ञवल्क्य कहते है, 'ब्रह्मांड' के विषय में सुन चुकने के बाद अब 'अध्यात्म', अर्थात् 'पिंड' के विषय में सुनो। जो 'प्राण' में रहता हुआ भी प्राण से अलग है, जिसे प्राण नही जानता, परन्तु जिसका प्राण ही शरीर है, जो प्राण के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१६॥

जो 'वाणी' मे रहता हुआ भी वाणी से अलग है, जिसे वाणी नहीं जानती, परन्तु जिसका वाणी ही शरीर है, जो वाणी के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१७॥

जो 'चक्षु' मे रहता हुआ भी चक्षु से अलग है, जिसे चक्षु नहीं जानते, परन्तु जिसका चक्षु ही शरीर है, जो चक्षु के भीतर से उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१८॥

जो 'श्रोत्र' मे रहता हुआ भी श्रोत्र से अलग है, जिसे श्रोत्र नहीं जानते, परन्तु जिसका श्रोत्र ही शरीर है, जो श्रोत्र के भीतर से

य. प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो य प्राणो न वेद यस्य प्राण.
शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत. ॥१६॥

यः प्राणे—प्राण में (घ्राण मे), प्राणात्—प्राण से, प्राणः—प्राण, प्राणः—प्राण, प्राणम्—प्राण को, अमृतः—शेप अर्थ पूर्ववत् ॥१६॥

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ्न वेद यस्य वाक्
शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१७॥

यः वाचि—वाणी (जिह्वा) मे, वाच.—वाणी से, वाङ—वाणी, वाक् वाणी, वाचम्—वाणी को, अमृत—शेप अर्थ पूर्ववत् ॥१७॥

यश्चक्षुषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो य चक्षुर्न वेद यस्य चक्षु.
शरीर यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत. ॥१८॥

य· चक्षुषिः—नेत्र मे, चक्षुष.—नेत्र से, चक्षु·—नेत्र, चक्षुः—नेत्र, चक्षु·—आख, नेत्र को, अमृत.—शेप अर्थ पूर्ववत् ॥१८॥

य श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यं श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रं
शरीरं य. श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत ॥१९॥

उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥१९॥

जो 'मन' में रहता हुआ भी मन से अलग है, जिसे मन नही जानता, परन्तु जिसका मन ही शरीर है, जो मन के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥२०॥

जो 'त्वचा' में रहता हुआ भी त्वचा से अलग है, जिसे त्वचा नहीं जानती, परन्तु त्वचा ही जिसका शरीर है, जो त्वचा के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥२१॥

जो 'विज्ञान', अर्थात् चेतना (Consciousness) में रहता हुआ भी चेतना से अलग है, जिसे चेतना नही जानती, परन्तु चेतना ही जिसका शरीर है, जो चेतना के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है ॥२२॥

य. श्रोत्रे—कान मे, श्रोत्रात्—कान से, . श्रोत्रम्—कान, . श्रोत्रम्—कान, . श्रोत्रम्—कान को, अमृतः—शेप अर्थ पूर्ववत् ॥१९॥

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः
शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥२०॥

य. मनसि—मन मे, मनसः—मन से, मनः—मन, . मन—मन, . मनः—मन को, . अमृतः—शेप अर्थ पूर्ववत् ॥२०॥

यस्त्वचि तिष्ठँस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ्‌ न वेद यस्य त्वक्
शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥२१॥

य. त्वचि—त्वचा (चमडी-खाल) मे, . त्वचः—त्वचा से, त्वङ्—त्वचा, त्वक्—त्वचा, त्वचम्—त्वचा को, . अमृतः—शेप अर्थ पूर्ववत् ॥२१॥

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानँ
शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥२२॥

यः . विज्ञाने—चेतना (बुद्धि) मे, . विज्ञानाद्—चेतना (बुद्धि) मे, विज्ञानम्—चेतना, विज्ञानम्—चेतना, . विज्ञानम्—चेतना को, . अमृत—शेप अर्थ पूर्ववत् ॥२२॥

संसार के जितने 'रेतस्', अर्थात् 'कारण' हैं, जो उनमें रहता हुआ भी उनसे अलग है, जिसे 'कारण' नहीं जानते, परन्तु जो 'कारणो का शरीर' है, कारणों का कारण है, बीजों का बीज है, जो 'कारणों' के भीतर से उनका नियमन कर रहा है, यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, 'अमृत' है। वह अन्तर्यामी द्रष्टा है, दृष्ट नही है; श्रोता है, श्रुत नहीं है; मन्ता है, मत नहीं है; विज्ञाता है, विज्ञात नहीं है। विश्व में उसके बिना कोई द्रष्टा नहीं, उसके बिना कोई श्रोता नहीं, उसके बिना कोई मन्ता नहीं, उसके बिना कोई विज्ञाता नहीं। यही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है, उसके अतिरिक्त सब दुःख-ही-दुःख है। यह सुनकर उद्दालक आरुणि चुप होकर बैठ गया ॥२३॥

यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो यँ रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥२३॥

यः रेतसः—वीर्य (कारण) मे, **रेतसः**—कारण से, **रेतः**—कारण, **रेतः**—कारण (वीर्य), **रेतः**—वीर्य (कारण) को, **अमृतः**—शेप शब्दार्थ पूर्ववत्, **अदृष्टः**—न देखा हुआ (स्वय नेत्र का विषय नही), **द्रष्टा**—सब को देखने वाला (सर्व-साक्षी), **अश्रुतः**—न सुना हुआ (जो कर्ण का विपय नही), **श्रोता**—स्वय सुननेवाला, **अमतः**—जिस का मनन नही किया जा सकता (मन का विपय नही), **मन्ता**—स्वय मनन-शक्ति सपन्न है, **अविज्ञातः**—न जाना हुआ (बुद्धि से परे), **विज्ञाता**—स्वय सब को प्रत्यक्ष जानने वाला, **न**—नही, **अन्यः**—भिन्न, दूसरा, **अतः**—इस (अन्तर्यामी आत्मा) से, **अस्ति**—है, **द्रष्टा**—देखनेवाला (साक्षी), **न अन्यः अतः अस्ति**—इसके सिवाय अन्य कोई नही है, **श्रोता**—सुननेवाला, **न अन्यः अतः अस्ति मन्ता**—इसके सिवाय अन्य कोई मनन करनेवाला नही, **न अन्यः अतः अस्ति विज्ञाता**—इसके अतिरिक्त अन्य कोई जाननेवाला नही, **एषः ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः**—यह ही अमर (जरा-मृत्यु से परे) तेरा आत्मा अन्तर्यामी (तेरे शरीर मे रहकर नियन्ता) है (जिसे तू जानना चाहता था), **अतः**—इमसे, **अन्यत्**—भिन्न तो, **आर्तम्**—दुखजनक, विनाशी है, **ततः ह**—और उसके वाद, **उद्दालकः आरुणिः**—अरुण का पुत्र उद्दालक, **उपरराम**—(अपने प्रश्न का समाधान पाकर) शान्त (चुप) हो गया ॥२३॥

तृतीय अध्याय--(आठवां ब्राह्मण)

(जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा गार्गी का दोबारा विवाद)

इसके बाद वाचक्नवी गार्गी फिर दोबारा खड़ी हुई। उसने कहा, हे आदरणीय ब्राह्मणो ! आज्ञा हो तो मैं याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न और करना चाहूंगी। अगर इन्होंने उनका उचित समाधान कर दिया, तो आप समझ लो कि आप में से कोई इस ब्रह्म-वेत्ता को जीत न सकेगा। सबने एक-स्वर होकर कहा, गार्गी ! पूछो ॥१॥

गार्गी ने याज्ञवल्क्य को सम्बोधन करके कहा, हे याज्ञवल्क्य ! जिस प्रकार काशी या विदेह का कोई उग्र-स्वभाव का वीर उतरे

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माक-मिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति ॥१॥

अथ ह—इसके बाद (दोबारा); वाचक्नवी—वचक्नु की पुत्री गार्गी, उवाच—बोली, ब्राह्मणाः—हे (उपस्थित) ब्राह्मणो !; भगवन्तः—आदरणीय, हन्त—तो, अहम्—मैं, इमम्—इस (याज्ञवल्क्य) से, द्वौ प्रश्नौ—दो प्रश्न, प्रक्ष्यामि—पूछूंगी, तौ—उन (दोनों प्रश्नों को), चेत्—अगर, मे—मेरे, मुझे, वक्ष्यति—कहेगा, उत्तर दे देगा, न वै—नहीं ही, जातु—कदापि, कोई भी, युष्माकम्—तुम्हारा (तुम में से), इमम्—इस, कश्चित्—कोई, ब्रह्मोद्यम्—ब्रह्म-वक्ता को, जेता—जीत सकेगा, इति—यह (गार्गी ने घोषणा की), पृच्छ—(प्रश्न) पूछ, गार्गि—हे गार्गि !, इति—यह (याज्ञवल्क्य ने या उपस्थित ब्राह्मणों ने कहा) ॥१॥

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठे-देवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति ॥२॥

सा ह उवाच—उस (गार्गी) ने कहा, अहम् वै—मैं, त्वा—तुझको, याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य !, यथा—जैसे, काश्यः वा—काशी-देश का, वैदेहः वा—या विदेह-देश का, उग्रपुत्र—क्षत्रिय-पुत्र या राजपुत्र, उज्ज्यम्—प्रत्यञ्चा (डोरी) से शून्य, धनुः—धनुष को, अधिज्यम्—प्रत्यञ्चा से युक्त, कृत्वा—करके, द्वौ—दो, बाणवन्तौ—बाण (लोहे की तेज़ नोक) वाले, सपत्न+अतिव्याधिनौ—पुख (पर) वाले एवं गहरा बींधनेवाले या शत्रु-संहारक

हुए चिल्ले को धनुष पर चढ़ाकर, और शत्रु को बींधने वाले दो नोकीले बाणों को हाथ मे लेकर सामने खड़ा हो जाय, ठीक इसी तरह मैं दो प्रश्नो को लेकर तेरे सामने खड़ी हूं। इन दोनों प्रश्नों का उत्तर दो ! याज्ञवल्क्य ने कहा, हे गार्गी ! पूछो ॥२॥
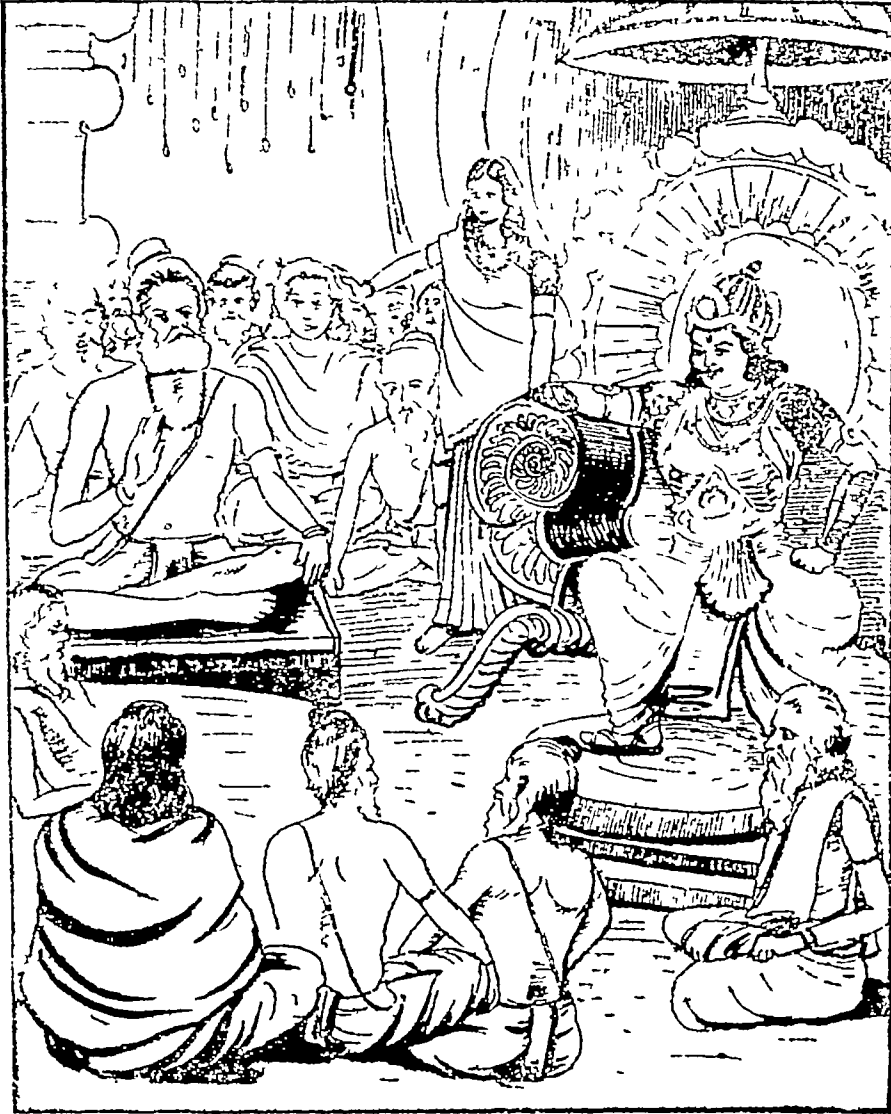
राजा जनक की सभा में ऋषि याज्ञवल्क्य से गार्गी प्रश्न कर रही है

(बाणो को), हस्ते कृत्वा—हाथ मे लेकर, उप+उत्तिष्ठेत्—पास (सामने) आकर खडा हो जाये, एवम् एव अहम्—ऐसे ही मैं, त्वा—तुझको, द्वाभ्याम् —दो, प्रश्नाभ्याम्—प्रश्नो के साथ, उप+उदस्थाम्—सामने उपस्थित हू, तौ —उन (दोनो प्रश्नो) को, मे—मुझे, ब्रूहि—कह, उत्तर दे, इति—यह (कहा), पृच्छ गार्गि इति—हे गार्गि ! तू पूछ ॥२॥

गार्गी ने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! द्यु से जो ऊपर है, पृथिवी से जो नीचे है, द्यु और पृथिवी के जो बीच में है, और जिसे भूत-भवत्-भविष्यत् कहा जाता है—वह सब किसमें ओत-प्रोत है ॥३॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, फिर तुमने ओत-प्रोत की बात शुरू की। ख़ैर, सुनो। द्यु से जो ऊपर है, पृथिवी से जो नीचे है, द्यु और पृथिवी के जो बीच में है, और जिसे भूत, भवत्, भविष्यत् कहा जाता है, वह सब 'आकाश' में ओत-प्रोत है ॥४॥

गार्गी ने कहा, याज्ञवल्क्य ! मेरा तुझे नमस्कार है, तूने मेरे प्रथम प्रश्न की विवेचना कर दी। अब दूसरे प्रश्न के लिये तय्यार हो जाओ। याज्ञवल्क्य ने कहा, गार्गी ! पूछो ! ॥५॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी
इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥३॥

सा ह उवाच—उस (गार्गी) ने कहा, यत्—जो, ऊर्ध्वम्—ऊपर, याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य !, दिवः—द्यु-लोक के, यद्—जो, अवाक्—नीचे, यद्—जो, अन्तरा—मध्य मे, द्यावापृथिवी—द्यु-लोक और पृथिवी के, इमे—इन (दोनो), यद्—जिसको, भूतम्—हुआ (भूतकाल मे था), भवत् च—हो रहा है (वर्तमान काल मे है), भविष्यत् च—और होगा (भविष्य-काल मे भी रहेगा), इति—ऐसे, आचक्षते—कहते है, कस्मिन्—किसमे, तद्—वह, ओतम् च प्रोतम् च—ओत-प्रोत (सबद्ध) है, इति—यह (गार्गी ने प्रश्न किया) ॥३॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे
यद्भूत च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति ॥४॥

सः ह उवाच—उस (याज्ञवल्य) ने कहा (उत्तर दिया), यद् आचक्षते—अर्थ पूर्ववत्, आकाशे—आकाश मे, तद्—वह, ओतम् च प्रोतम् च—ओत-प्रोत है (रमा हुआ, सबन्ध एव आधार वाला) है ॥४॥

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एत
व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ॥५॥

सा ह उवाच—उस गार्गी ने (सतुष्ट होकर) कहा, नमः ते अस्तु याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य तुझे नमस्कार है, य.—जिस(तू) ने, मे—मेरे, एतम्—इस (प्रश्न) को, वि+अवोच—विवेचनापूर्वक उत्तर दिया, अपरस्मै—दूसरे (प्रश्न) के लिए, धारयस्व—धारण करो, तत्पर हो, इति—यह (कहा), पृच्छ गार्गि इति—हे गार्गी तू (प्रश्न) पूछ ॥५॥

गार्गी ने फिर वही प्रश्न दोहरा दिया। हे याज्ञवल्क्य ! द्यु से जो ऊपर है, पृथिवी से जो नीचे है, द्यु और पृथिवी के जो बीच में है, और जिसे भूत, भवत्, भविष्यत् कहा जाता है——वह सब किस में ओत-प्रोत है ॥६॥

याज्ञवल्क्य ने फिर वही उत्तर दोहरा दिया। द्यु से जो ऊपर है, पृथिवी से जो नीचे है, द्यु और पृथिवी के जो बीच में है, जिसे भूत, भवत्, भविष्यत् कहा जाता है, वह सब आकाश में ओत-प्रोत है।

इस प्रकार एक ही बात को दोहराकर, और यह देखकर कि याज्ञवल्क्य पहले की तरह झिड़क नहीं देगा, गार्गी ने साहस बटोरकर पूछा, याज्ञवल्क्य ! वह आकाश किस में ओत-प्रोत है ॥७॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, हे गार्गी, जिसमें आकाश ओत-प्रोत है, उसे ब्रह्म-वेत्ता लोग 'अक्षर' कहते हैं। वह 'अक्षर'——अविनाशी तत्त्व——न स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है; न अंगारे की तरह लोहित है, न घी की तरह स्निग्ध है; न छाया है, न तम है, न

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूत च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिस्तदोतं च प्रोत चेति ॥६॥

सा ह प्रोतम् च इति—अर्थ तृतीय कण्डिका (मत्र) के समान जाने ॥६॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥७॥

सः ह उवाच प्रोतम् च इति—अर्थ पूर्ववत्, कस्मिन् नु खलु—किसमे तो निस्सदेह, आकाशः—आकाश, ओतः च प्रोतः च—ओत-प्रोत है, इति—यह (बताइये) ॥७॥

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥८॥

सः ह उवाच—उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा, एतद् वै—इस (जिसमे आकाश ओत-प्रोत है) ही, तद्—उस (आधार-पट) को, अक्षरम्—अक्षर (अविनाशी), गार्गि—हे गार्गि !, ब्राह्मणाः—ब्रह्म-वेत्ता, अभिवदन्ति—कहते है (अर्थात् वह आकाश 'अक्षर' मे ओत-प्रोत है जो कि), अस्थूलम्—स्थूल नही, अनणु

आकाश है। यह तत्त्व असंग है, अरस है, अगंध है, अचक्षु है, अश्रोत्र है; वाक्-रहित, मन-रहित, तेज-रहित, प्राण-रहित, मुख-रहित, मात्रा-रहित। इस अविनाशी-तत्त्व के न कुछ भीतर है, न बाहर है; न वह किसी को खाता है, न कोई उसे खाता है ॥८॥

हे गार्गी! इसी 'अक्षर' के शासन-सूत्र में बंधे सूर्य और चन्द्र अपने-अपने स्थानो पर ठहरे हुए हैं; हे गार्गी! इसी 'अक्षर' के शासन-सूत्र में बंधे द्यावा-पृथिवी अपने-अपने स्थानो पर ठहरे हुए हैं; हे गार्गी! इसी 'अक्षर' के शासन-सूत्र में बंधे निमेष, मुहूर्त, रात्रि, अर्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर ठहरे हुए हैं; हे गार्गी! इसी 'अक्षर' के शासन-सूत्र में बंधी नदियां सफ़ेद-बर्फीले पर्वतों से पूर्व को,

---

(न+अणु)—अणु (सूक्ष्म) भी नहीं; **अह्रस्वम्**—(परिमाण में) छोटा नहीं; **अदीर्घम्**—न लम्बा ही है, **अलोहितम्**—न लाल है, **अस्नेहम्**—न चिकना (मुलायम) है, **अच्छायम्**—छाया भी नहीं, **अतमः**—न अन्धकार (तमोगुण) ही है, **अवायु**—न वायु है, **अनाकाशम्**—न आकाश ही है; **असङ्गम्**—न सग (सगी-साथियो) वाला है, निर्लेप है, **अरसम्**—रस नहीं (जिह्वा का विषय नहीं), **अगन्धम्**—गन्ध-विहीन, **अचक्षुष्कम्**—उसके नेत्र नहीं, **अश्रोत्रम्** उसके कान भी नहीं, **अवाग्**—वाणी से रहित, **अमनः**—उसके मन नहीं, **अतेजस्कम्**—वह तेज भी नहीं, **अप्राणम्**—प्राण (जीवन) से रहित, **अमुखम्**—उसका कोई मुख नहीं, **अमात्रम्**—मात्रा (परिमाण, अंश) से रहित, **अनन्तरम्**—उनके अन्दर कुछ नहीं; **अबाह्यम्**—बाहर भी कुछ नहीं, **न**—नहीं, **तद्**—वह (अक्षर), **अश्नाति**—खाता है (भोक्ता है), **किंचन**—कुछ भी, **न**—नहीं, **तद्**—उसको, **अश्नाति**—खाता है, **कश्चन**—कोई भी ॥८॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥९॥

एतस्य वै—इस ही, **अक्षरस्य**—अक्षर (अविनाशी ब्रह्म) के; **प्रशासने**—नियन्त्रण में, **गार्गि**—हे गार्गि!, **सूर्याचन्द्रमसौ**—सूर्य और चन्द्रमा; **विधृतौ**—भलीभांति धारण किये हुए, **तिष्ठतः**—अपने-अपने स्थान (कक्षा) में स्थित

पश्चिम को, और भिन्न-भिन्न दिशाओं को बह रही है; हे गार्गी! इसी 'अक्षर' के शासन-सूत्र में बंधे हुए मनुष्य दानियों की प्रशंसा करते हैं, देव-लोग यजमानों की प्रशंसा करते हैं, और पितर-लोग दर्वी अर्थात् होम की कड़छी को पकड़े मानो मानव-सेवा की आहुतियां डाल रहे हैं ॥९॥

हे गार्गी! इस लोक में जो इस 'अक्षर' को बिना जाने यज्ञ-याग आदि में लगा रहता है, या अनेक वर्षों तक तप में लीन रहता है, उसके यज्ञ-याग-तप का अन्त आ ही जाता है; हे गार्गी! जो इस 'अक्षर' को बिना जाने इस लोक से प्रयाण करता है वह 'कृपण' है,

---

है, **एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि**—हे गार्गि! इस अक्षर (ब्रह्म) के नियम मे, **द्यावापृथिव्यौ**—द्युलोक और पृथिवी-लोक, **विधृते**—धारण किये हुए, **तिष्ठतः**—ठहरे है, **एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि**—हे गार्गि! इस अक्षर के शासन मे, **निमेषाः**—क्षण, **मुहूर्त्ताः**—मुहूर्त्त (प्रहर), **अहोरात्राणि**—दिन-रात, **अर्धमासाः**—पक्ष (कृष्ण-शुक्ल), **मासाः**—मास, **ऋतवः**—ऋतु, **संवत्सरा**—वर्ष, **इति**—ये सव काल के अवयव (स्वय काल भी), **विधृताः तिष्ठन्ति**—धारण किये हुए ठहरते हैं, **एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि**—हे गार्गि! इस अक्षर (ब्रह्म) के शासन मे, **प्राच्य**—पूर्व की ओर वहनेवाली, **अन्याः**—दूसरी, **नद्यः**—नदिया, **स्यन्दन्ते**—वहती हैं, **श्वेतेभ्यः**—श्वेत, **पर्वतेभ्यः**—पर्वतो से, **प्रतीच्यः**—पश्चिम को जानेवाली, **अन्याः**—दूसरी, **याम् याम्**—जिस-जिस (भिन्न-भिन्न), **च**—और, **दिशम् अनु**—दिशा की ओर (वहती हैं)। **एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि**—हे गार्गि इस ब्रह्म के नियन्त्रण मे, **ददतः**—दान करने-वाले (दाताओ) की, **मनुष्या**—मनुष (लोक), **प्रशसन्ति**—प्रशसा करते है, **यजमानम्**—यजमान को (की), **देवा**—देवगण, **दर्वीम्**—करछी (द्वारा परोसे अन्न के दाता) को, **पितरः**—पितृगण, वडी पीढी के लोग, **अन्वायत्ताः**—अनुगत है, सम्बन्ध रखते है (आशा करते हैं) ॥९॥

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मण ॥१०॥

य. वै—जो ही, **एतद् अक्षरम्**—इस अविनाशी ब्रह्म को, **गार्गि**—हे गार्गि!, **अविदित्वा**—न जानकर, **अस्मिन् लोके**—इस लोक मे (इस जीवन मे), **जुहोति**—हवन (दान-आदान) करता है, **यजते**—यज्ञ (देव-पूजा आदि)

कृपा का, दया का पात्र है; हे गार्गी ! जो इस 'अक्षर' को जानकर इस लोक से प्रयाण करता है, वह 'ब्राह्मण' है—ब्रह्म का वेत्ता है ॥१०॥

हे गार्गी ! यह 'अक्षर' स्वयं अदृष्ट होने पर भी द्रष्टा है, स्वयं अश्रुत होने पर भी श्रोता है, स्वयं अमत होने पर भी मन्ता है, स्वयं अविज्ञात होने पर भी विज्ञाता है; इससे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं, इससे भिन्न अन्य कोई श्रोता नहीं, इससे भिन्न अन्य कोई मन्ता नहीं, इससे भिन्न अन्य कोई विज्ञाता नहीं। हे गार्गी ! इसी 'अक्षर' में यह आकाश ओत-प्रोत है ॥११॥

करता है; तप. तप्यते—तप तपता है, बहूनि—बहुत से, वर्ष-सहस्राणि—हजारो वर्षो तक, अन्तवद्—अन्तवाला (विनाशी, या स्वल्प फलवाला), सीमित; एव—ही, अस्य—इस (होता व यजकर्त्ता) का, तद्—वह (यज्ञ-हवन), भवति—होता है, य. वै एतद् अक्षरम् गार्गि ! अविदित्वा—हे गार्गि जो इस अविनाशी ब्रह्म को न जानकर (साक्षात् कर), अस्मात् लोकात्—इस लोक (जन्म) से, प्रैति—प्रयाण करता (मरता) है, स—वह, कृपण —दीनातिदीन, दयनीय है, अथ—और, य.—जो, एतद् अक्षरम्—इस अविनाशी ब्रह्म को, गार्गि—हे गार्गि, विदित्वा—जानकर, अस्मात् लोकात् प्रैति—इस लोक से प्रयाण करता (शरीर छोडता) है, स.—वह ही, ब्राह्मणः—ब्रह्मवेत्ता (मनुष्यो मे श्रेष्ठ) है ॥१०॥

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्ट्रश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥११॥

तद् वै—वह ही, एतद्—यह; अक्षरम्—अविनाशी (ब्रह्म); गार्गि—हे गार्गि !, अदृष्टम्—न देखा हुआ (चक्षु का जो विषय नहीं), द्रष्टृ—(सब कुछ) देखनेवाला, अश्रुतम्—न सुना हुआ (कान से अगोचर), श्रोतृ—सुननेवाला, अमतम्—मनन-चिन्तन न किया जा सकनेवाला, मन्तृ—मनन-करनेवाला, अविज्ञातम्—न जाना हुआ (बुद्धि से परे), विज्ञातृ—सब का ज्ञाता, न अन्यद् अत अस्ति—नहीं इसके अतिरिक्त अन्य कोई है, द्रष्टृ—द्रष्टा, न अन्यत् अत अस्ति श्रोतृ—इसके अतिरिक्त अन्य कोई श्रोता नहीं है, न अन्यद् अत. अस्ति मन्तृ—न इसके सिवाय दूसरा कोई मन्ता (मनन करनेवाला) है, न अन्यद् अत. अस्ति विज्ञातृ—न कोई इसके अतिरिक्त विज्ञाता है, अस्मिन् नु खलु—इस ही में तो, अक्षरे—अविनाशी ब्रह्म मे, गार्गि—हे गार्गि !,

तब गार्गी कहने लगी—हे पूजनीय ब्राह्मणो ! यही बहुत समझो जो इस ब्रह्म-वेत्ता को नमस्कार करके छूट जाओ। तुम में से कोई इस ब्रह्म-वेत्ता को कभी न जीत सकेगा। इतना कहकर वाचक्नवी गार्गी चुप होकर बैठ गई ॥१२॥

तृतीय अध्याय—(नौवां ब्राह्मण)

(जनक की सभा मे याज्ञवल्क्य तथा विदग्ध का विवाद)

गार्गी के बैठ जाने पर और कोई ब्राह्मण तो नही खड़ा हुआ, परन्तु विदग्ध शाकल्य से न रहा गया। उसका नाम ही 'विदग्ध' था, 'विदग्ध', अर्थात् जलने-भुनने वाला। वह याज्ञवल्क्य से जला-भुना बैठा था। वह उठ खड़ा हुआ, और पूछने लगा, हे याज्ञवल्क्य ! 'देव'

आकाशः—आकाश, **ओतः च प्रोतः च**—(व्याप्य-व्यापक सवन्ध से) अनुगत है; **इति**—यह (वताया) ॥११॥

> सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यद-
> स्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं
> कश्चिद्ब्रह्मोद्य जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम ॥१२॥

सा ह उवाच—उस गार्गी ने (सन्तुष्ट होकर) कहा, **ब्राह्मणा. भगवन्तः**—हे आदरणीय ब्राह्मणो !, **तद् एव**—उसको ही, **बहु**—बहुत अधिक, **मन्येध्वम्**—मानो, समझो, **यत्**—जो, कि, **एतस्माद्**—इस (याज्ञवल्क्य) से, **नमस्कारेण**—नमस्कार द्वारा (प्रणत होकर), **मुच्येध्वम्**—छुटकारा पा जाओ, **न वै**—नही ही, **जातु**—कदापि, **युष्माकम्**—तुम मे से, **इमम्**—इस, **कश्चित्**—कोई भी, **ब्रह्मोद्यम्**—ब्रह्म-वक्ता को, **जेता**—जीत सकेगा, **इति**—यह (कहा); **ततः ह**—और उसके वाद, **वाचक्नवी**—वचक्नु की पुत्री गार्गी, **उपरराम**—शान्त (चुप) होकर वैठ गई ॥१२॥

> अथ हैन विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव
> निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता
> त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय-
> स्त्रिँशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्यो-
> मिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच
> कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञ-
> वल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्यो-
> मिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥१॥

कितने हैं ? याज्ञवल्क्य ने वैश्वदेव-निविदा पढकर सुना दी। उसमें लिखा हुआ था—'त्रयश्च, त्री च शता, त्रयः च त्री च सहस्रेति'—अर्थात् ३+३००+३००३=३३०६। विदग्ध ने कहा, हां, ठीक है। विदग्ध ने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! 'देव' कितने हैं ? अब की बार याज्ञवल्क्य ने कहा, ३३ ! विदग्ध ने कहा, हां ठीक है। विदग्ध ने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! 'देव' कितने हैं ? अब याज्ञवल्क्य ने कहा, ६ ! विदग्ध ने कहा, हां, ठीक है। विदग्ध ने फिर प्रश्न दोहराया, 'देव' कितने हैं ? अब याज्ञवल्क्य ने कहा, ३ ! विदग्ध ने कहा, हां, ठीक है। विदग्ध ने फिर पूछा, 'देव' कितने हैं, याज्ञवल्क्य ने अब कहा, २ ! विदग्ध ने फिर पूछा, 'देव' कितने हैं, याज्ञवल्क्य ने अब कहा, 'अध्यर्द्ध', अर्थात् १½ ! विदग्ध ने कहा, हां, ठीक है। विदग्ध ने फिर पूछा, 'देव' कितने हैं, याज्ञवल्क्य ने कहा, १—अर्थात् एक ! विदग्ध ने कहा, हां, ठीक है। अब विदग्ध ने फिर पूछा, ३३०६ 'देव' जो तुमने कहे थे, वे कौन-से हैं ॥१॥

अथ ह—इसके बाद, एनम्—इस (याज्ञवल्क्य) को (से), **विदग्धः**—(जला-भुना, जलन से भरा) विदग्ध नामी, **शाकल्यः**—शकल का पुत्र, **पप्रच्छ**—पूछने लगा, **कति**—कितने (संख्या मे), **देवाः**—देवता हैं, **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य, **इति**—यह (पूछा), **स ह**—उस (याज्ञवल्क्य) ने, **एतया**—इस, **एव**—ही, **निविदा**—मन्त्र से, **प्रतिपेदे**—प्रतिपादन किया, उत्तर दिया, **यावन्तः**—जितने (देवता), **वैश्वदेवस्य**—विश्वदेव सम्बन्धी, **निविदि**—मन्त्र मे, **उच्यन्ते**—उच्चारण किये जाते हैं, निर्दिष्ट हैं, **त्रयः च**—तीन, **त्री च**—और तीन, **शता**—सौ, सैंकडे, (**त्रयश्च त्री च शता**—तीन सौ तीन), **त्रयः च त्री च सहस्रा**—तीन हजार तीन (कुल मिलाकर ३+३००+३००३=३३०६), **इति**—यह (देव-संख्या है), **ओम् इति**—ठीक है, ऐसे, **ह उवाच**—कहा (फिर पूछा), **कति एव देवाः याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य कितने देवता हैं, **इति**—यह (फिर बताओ), **त्रयस्त्रिंशत् इति**—तैंतीस देवता हैं यह (उत्तर दिया), **ओम्**—स्वीकार है, ठीक है, **इति ह उवाच**—ऐसा कहकर फिर पूछा, **कति एव देवाः याज्ञवल्क्य इति**—हे याज्ञवल्क्य कितने देवता हैं, **षड् इति**—देवता छ हैं (यह उत्तर दिया), **ओम् इति**—ठीक है, **ह उवाच**—और कहा, **कति एव देवाः याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य कितने देवता हैं, **त्रयः इति**—देवता तीन हैं, **ओम् इति**—ठीक है; **ह उवाच**—कहा, **कति एव देवाः याज्ञवल्क्य**

याज्ञवल्क्य ने कहा, इतनी बड़ी संख्या तो देवों की महिमा बढ़ाने के लिये कही जाती है, वास्तव मे 'देव' तो ३३ ही है। विदग्ध ने पूछा, वे ३३ कौन-से है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य—ये ३१ हुए, इन्द्र और प्रजापति—ये दो ! इस प्रकार ३३ 'देव' है ॥२॥

'वसु' कौन-से है ? 'अग्नि और पृथिवी'-'वायु और अन्तरिक्ष'-'आदित्य और द्यौः'-'चन्द्रमा और नक्षत्र'—ये ८ 'वसु' है, इन्ही पर सारी सृष्टि टिकी हुई है, यही जीव-मात्र को बसाए हुए है, इसलिये 'वसु' कहलाते है ॥३॥

—हे याज्ञवल्क्य देवता कितने है ?, **द्वौ इति**—दो है **अध्यर्धः**—ढेढ देवता है; ...**एकः**—एक देवता है, ...**कतमे**—कौनसे, **ते**—वे देवता, **त्रयः...सहस्रा**—३००६ सख्यावाले, **इति**—यह पूछा ॥१॥

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिँ्शत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिँ्शदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिँ्शदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिँ्शाविति ॥२॥

स ह उवाच—उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा, **महिमानः**—महिमा (गिनती बढानेवाले), **एव**—ही, **एषाम्**—इन देवताओ के, **एते**—ये (३००६ देव), **त्रयस्त्रिशत् तु एव**—तेतीस ही तो, **देवाः**—देवता है, **इति**—यह (बताया), **कतमे**—कौन-से, **ते**—वे, **त्रयस्त्रिशत्**—तेतीस (देवता) है, **इति**—यह (पूछा), **अष्टौ**—आठ, **वसवः**—वसु, **एकादश**—ग्यारह, **रुद्रा**.—रुद्र, **द्वादश**—बारह, **आदित्या**.—सूर्य, **ते**—वे (मिलकर), **एकत्रिशत्**—इकत्तीस हैं; **इन्द्रः च एव**—और इन्द्र, **प्रजापतिः च**—और प्रजापति, **त्रयस्त्रिशौ**—तैंतीस सख्या को पूरा करनेवाले है, **इति**—यह (उत्तर दिया) ॥२॥

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीद सर्वँ् हितमिति तस्माद्वसव इति ॥३॥

कतमे—कौन से, **वसवः**—वसु देवता है, **अग्नि. च**—अग्नि, **पृथिवी च**—और पृथिवी, **वायुः च**—वायु, **अन्तरिक्षम् च**—अन्तरिक्ष, **आदित्यः च**—आदित्य (सूर्य), **द्यौः च**—और द्यु-लोक, **चन्द्रमाः च**—और चन्द्रमा, **नक्षत्राणि च**—और नक्षत्र, **एते**—ये (आठो), **वसवः**—वसु (कहलाते है), **एतेषु**—इनमे, **हि**—क्योकि, **इदम् सर्वम्**—यह सव, **हितम्**—रक्खा हुआ, वसा हुआ है, **इति**—ऐसे, **तस्माद्**—उस (वसाने के) कारण से, **वसव. इति**—ये वसु कहलाते है ॥३॥

'रुद्र' कौन से हैं ? पुरुष में जो १० प्राण और ग्यारहवां आत्मा है, यही ११ रुद्र हैं । प्राण-अपान-उदान-व्यान-समान-नाग-कूर्म-देवदत्त-कृकट-धनंजय—ये दस प्राण माने जाते हैं, आत्मा ग्यारहवां है । अथवा इन्द्रियों को भी प्राण कहते हैं । ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां और मन मिलकर ११ रुद्र बनते हैं । जब ये शरीर से निकलती हैं, तब सम्बन्धियों को रुला देती हैं, इसलिये इन्हें 'रुद्र' कहा जाता है ॥४॥

'आदित्य' कौन-से हैं ? संवत्सर के १२ मास ही १२ आदित्य हैं । ये मास—महीने—सब-कुछ समेटते हुए, 'आदान' करते हुए चले जा रहे हैं, इसलिये १२ महीनों को १२ आदित्य कहा जाता है ॥५॥

'इन्द्र' कौन-सा है ? 'स्तनयित्नु', अर्थात् मेघ ही 'इन्द्र' है । परन्तु 'स्तनयित्नु' कौन-सा है ? 'अशनि', अर्थात् 'विद्युत्' ही स्तन-

---

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥४॥

कतमे रुद्राः इति—रुद्र कौन से हैं, दश—दस, इमे—ये, प्राणाः—इन्द्रिया या दस प्रकार के प्राण, आत्मा—जीवात्मा, एकादशः—ग्यारहवा; ते—वे, यदा—जब, अस्माद्—इस, शरीरात्—शरीर से, मर्त्यात्—मरण शील, विनाशी, उत्क्रामन्ति—बाहर निकलते हैं, अथ—तो, रोदयन्ति—रुलाते हैं, तद् यद्—तो जो, रोदयन्ति—(ये) रुलाते हैं, तस्माद्—अतएव, रुद्राः—रुद्र (कहलाते) हैं, इति—ऐसे ॥४॥

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदँ सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदँ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥५॥

कतमे—कौन से, आदित्याः इति—आदित्य (कहलाते) हैं, द्वादश—बारह, वै—ही, मासाः—महीने, संवत्सरस्य—वर्ष के हैं, एते—ये (मास) ही, आदित्या—आदित्य हैं एते हि—क्योंकि ये, इदम् सर्वम्—इस सब (विश्व) को, आददाना—साथ लेते हुए, यन्ति—चलते हैं, आगे बढ रहे हैं, ते—वे, यद्—जो, इदम् सर्वम्—इस सब को, आददानाः—साथ लेते हुए, यन्ति—चलते हैं, तस्मात्—इस कारण से, आदित्याः इति—आदित्य (कहलाते) हैं ॥५॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥६॥

यित्नु है। बिजली से मेघ वृष्टि करता है, उससे अन्नादि उत्पन्न होकर ऐश्वर्य की वृद्धि होती है—यही 'इन्द्र' का रूप है। 'प्रजापति' कौन-सा है ? 'यज्ञ' ही प्रजापति है। 'यज्ञ' कौन-सा है ? 'पशु' ही यज्ञ है। जीवित-जगत् में पशु के जीवन से यज्ञ प्रारंभ है, जो संपूर्ण प्राणि-जगत् में चल रहा है। पशु से लेकर मनुष्य तक सब जगह यज्ञ-ही-यज्ञ चल रहा है। सम्पूर्ण जीवन यज्ञ-मय है। यही यज्ञ-मय जीवन प्रजापति का रूप है ॥६॥

विदग्ध ने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! तुमने जो कहा था, 'देव' ६ हैं, उसका क्या अभिप्राय था ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'अग्नि और पृथिवी'-'वायु और अन्तरिक्ष'-'आदित्य और द्यौः'—ये छः हैं, इन छः में ही सारा विश्व समा जाता है ॥७॥

विदग्ध ने फिर पूछा, अच्छा, ३ 'देव' कौन-से हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा, यही 'पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः'—ये ही तीन लोक हैं। इन तीनों लोकों में 'अग्नि-वायु-आदित्य' ये देव समा जाते हैं। विदग्ध ने फिर पूछा, अच्छा, २ 'देव' कौन-से हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'अन्न'

कतमः इन्द्रः—इन्द्र कौन-सा है, **कतमः प्रजापतिः**—प्रजापति कौन है, **इति**—यह (बताओ), **स्तनयित्नुः**—गरजनेवाला, **एव**—ही, **इन्द्रः**—इन्द्र है, **यज्ञः**—यज्ञ (का नाम), **प्रजापतिः इति**—प्रजापति है, **कतमः स्तनयित्नुः**—गरजनेवाला कौन है, **अशनिः**—बिजली, **इति**—ऐसे (जानो), **कतमः यज्ञः**—यज्ञ कौन सा है, **पशवः इति**—पशु 'यज्ञ' कहलाते हैं ॥६॥

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं
चादित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीदꣳ सर्वꣳ षडिति ॥७॥

कतमे—कौन से, **षड्**—छ (देवता हैं), **इति**—यह (बताइये), **अग्निः च**—अग्नि, **पृथिवी च**—और पृथिवी, **वायुः च**—वायु, **अन्तरिक्षम् च**—अन्तरिक्ष, **आदित्यः च**—सूर्य, **द्यौः च**—और द्यु-लोक, **एते**—ये, **षड्**—छ देवता है, **एते हि**—क्योंकि ये ही, **इदम् सर्वम्**—यह सब (विश्व), **षड् इति**—छै (के अन्तर्गत) है ॥७॥

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति ॥८॥

कतमे—कौन से, **ते**—वे (तुम्हारे बताये), **त्रयः**—तीन, **देवाः**—देवता है, **इति**—यह (पूछा), **इमे एव त्रयः लोकाः**—ये ही तीन लोक (तीनो

और 'प्राण' ही दो देव हैं। 'अन्न' प्रकृति (Matter) का प्रतिनिधि है, 'प्राण' जीवन (Life) का प्रतिनिधि है—इन दोनों के मेल से ही सब सृष्टि चली है। विदग्ध ने फिर पूछा, 'अध्यर्द्ध' कौन-सा है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, यह जो चलता है, अर्थात् 'प्राण'। ब्रह्मांड का 'वायु' और पिंड का 'प्राण' ही 'अध्यर्द्ध' अर्थात् डेढ़ देव है ॥८॥

विदग्ध ने कहा, यह प्राण तो एक है, इसे 'अध्यर्द्ध'—डेढ—कैसे कहते हो? याज्ञवल्क्य ने कहा, इसे 'अध्यर्द्ध', अर्थात् डेढ़ तो मोटे अर्थों में कहते हैं। 'अध्यर्द्ध' का वास्तविक अभिप्राय है, जिसमें सब अधि-ऋद्धि अर्थात् सब वृद्धि को प्राप्त हों, समृद्ध हों, बढ़ें, फूलें-फलें। 'प्राण' में ही सब ऋद्ध, वृद्ध, समृद्ध होता है, फूलता-फलता है, इसलिये 'प्राण' ही 'अध्यर्द्ध' है। फिर विदग्ध ने कहा, 'कतम एको देवः'—तुम ने जो कहा था, 'देव' एक है, वह कौन-सा है? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'प्राण' (Life) ही तो एक 'देव' है, उसीको 'ब्रह्म' कहते हैं, उसीको ब्रह्मवेत्ता 'त्यत्' कहते हैं, 'त्यत्' अर्थात् 'वह'—'वह' कहकर ही उसका बोध होता है ॥९॥

देवता हैं); **एषु**—इनमें, **हि**—क्योंकि; **इमे**—ये, **सर्वे**—सारे, **देवाः**—देवता (वास करते हैं), **इति**—यह (उत्तर दिया); **कतमौ**—कौन से, **तौ**—वे (पूर्व-निर्दिष्ट), **द्वौ देवौ**—दो देवता हैं, **इति**—यह (पूछा), **अन्नम् च एव**—अन्न ही, **प्राणः च**—और प्राण, **इति**—यह (जानो), **कतमः**—कौन-सा; **अध्यर्धः**—डेढ देवता है, **इति**—यह पूछा, **यः अयम् पवते**—जो यह निरन्तर वह रहा है (प्राण शरीर में, वायु जगत् में), **इति**—यह (बताया) ॥८॥

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदँ सर्वमध्यार्ध्नो-त्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥९॥

तद्—तो, **आहुः**—कहते हैं (प्रश्न करते हैं) कि, **यद् अयम्**—जो यह (वायु या प्राण), **एकः इव एव**—एकाकी के समान ही, **पवते**—वह रहा है, **अथ**—तो, **कथम्**—क्यों, कैसे, **अध्यर्धः**—डेढ़ है, **इति**—यह (प्रश्न है), **यद्**—क्योंकि, **अस्मिन्**—इस (प्राण या वायु) में, **इदम् सर्वम्**—यह सब (विश्व), **अधि+आर्ध्नोत्**—अधिक ऋद्धि (ऐश्वर्य, वृद्धि) को प्राप्त कर रहा है, **तेन**—उस कारण से, **अध्यर्धः**—(यह) अध्यर्ध (कहलाता) है, **इति**—यह (समाधान किया), **कतमः एकः देवः इति**—कौन-सा एक देवता है, **प्राणः इति**—वह प्राण (सब का जीवनदाता, शरीर में आत्मा, विश्व में ब्रह्म) है,

देवों के सम्बन्ध में प्रश्न कर चुकने के बाद विदग्ध ने दूसरा विषय छेड़ा । उसने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु असल ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियों का परम-धाम है । जो 'मन' को ज्योति बनाकर, 'अग्नि' के सहारे, मानो 'पृथिवी मे आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है । याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू सब प्राणियों का परम-धाम कह रहा है उसे मै जानता हूं, परन्तु वह तो 'शारीर-पुरुष' है, विश्व के विशाल-शरीर वाला 'पुरुष' है, 'ब्रह्म' तो इससे बहुत अधिक है, सिर्फ़ इस विश्व में ही वह समाप्त नही हो जाता ! इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मै उत्तर देता जाऊंगा । शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका कौन 'देव' है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'अमृत' है, वह अमृत रूप भगवान् ही सब देवों का देव है । यह विश्व तो मरण-धर्मा है, वह मरण-धर्मा न होकर अमर है, अमृत है ॥१०॥

सः—वह (प्राण) ही, **ब्रह्म**—ब्रह्म है, **त्यद्**—(उसको) त्यद् (वह, परोक्ष), **इति**—इस नाम से, **आचक्षते**—कहते (निर्देश करते) है ॥९॥

पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणँ स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषँ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायँ शारीरः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच ॥१०॥

पृथिवी एव—पृथिवी ही, **यस्य**—जिसका, **आयतनम्**—आश्रय, आधार है, **अग्निः**—अग्नि, **लोकः**—दर्शयिता, दर्शन-साधन है, **मन**—मन, **ज्योतिः**—प्रकाश है, **यः वै**—जो ही, **तम्**—उस, **पुरुषम्**—पुरी (शरीर या जगत्) के अधिष्ठाता को, **विद्यात्**—जान ले, जानता है, **सर्वस्य**—सब, **आत्मनः**—आत्मा (शरीर, जीव) के, **परायणम्**—परम-आधार (धाम), **सः वै**—वह ही, **वेदिता**—(ब्रह्म का) जाननेवाला, ज्ञानी, **स्यात्**—हो सकता है, **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य ! (क्या तुम उसको जानते हो, जो ज्ञानी होकर गौओ को हाक रहे हो), **वेद**—जानता हू, **वै तम् पुरुषम् सर्वस्य आत्मनः परायणम्**—उस सब आत्मा (आयतन) के परम-धाम उस पुरुष को, **यम्**—जिसको, जिसके विपय मे, **आत्थ**—तू कह (चर्चा कर) रहा है, **यः एव अयम्**—

विदग्ध ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु अस्ल में ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियों का परम-धाम है, जो 'मन' को ज्योति बनाकर, 'हृदय' के सहारे, मानो 'कामना' में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू सब प्राणियों का परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो 'काममय-पुरुष' है, विशाल-विश्व को उत्पन्न करने की कामना वाला 'पुरुष' है, 'ब्रह्म' इससे बहुत अधिक है, सिर्फ़ कामना करने वाले के रूप में ही वह समाप्त नहीं हो जाता। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका कौन 'देव' है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'स्त्री' है, जब वह विराट्-पुरुष कामना का रूप धारण करता है, तब स्त्री-रूपा प्रकृति ही उसकी देवता बनती है ॥११॥

जो ही यह, शारीर:—शरीर (पिण्ड या ब्रह्माण्ड) का स्वामी, पुरुषः—पुरुष, स:—वह, एष:—यह है (जिसे तू कह रहा है), वद—आगे कह (प्रश्न पूछ), एव—ही, शाकल्य !—हे शाकल्य !, तस्य—उस (शारीर-आत्मा) का, का—कौन, देवता—देवता है ?, इति—यह शाकल्य ने पूछा, अमृतम्—अमृत (अमरत्व उसका देवता है), इति ह उवाच—यह (याज्ञवल्क्य ने) कहा (उत्तर दिया) ॥१०॥

काम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य। वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायण यमात्थ य एवायं काममय: पुरुष: स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ॥११॥

काम:—काम (कामना), एव—ही, यस्य आयतनम्—जिसका आश्रय (सहारा) है, हृदयम्—हृदय, लोक:—लोक है, मनोज्योति: एव अयम्—अर्थ पूर्ववत्, काममय—काममय (कामना से युक्त), पुरुष:—पुरुष, तस्य—उस (काममय) पुरुष का, स्त्रिय:—स्त्रियां, इति ह उवाच—यह उत्तर दिया ॥११॥

विदग्ध ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु अस्ल में ब्रह्म-वेता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियों का परम-धाम है, जो 'मन' को ज्योति बनाकर, 'चक्षु' के सहारे, मानो 'रूप' में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू सब प्राणियों का परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो 'आदित्य-पुरुष' है, ब्रह्मांड के आदित्य को अधिष्ठान बना कर पिंड के चक्षु तथा पदार्थ के रूप को उत्पन्न करने वाला है, 'ब्रह्म' इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका कौन 'देव' है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'सत्य' है, आदित्य पदार्थों के सत्य रूप का प्रकाश करता है, परन्तु 'सत्य-स्वरूप' भगवान् आदित्य का भी परम-देव है ॥१२॥

विदग्ध ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु अस्ल में ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियों का परम-धाम है, जो 'मन' को ज्योति बनाकर, 'श्रोत्र' के सहारे, मानो 'आकाश' में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू प्राणियों का परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो ध्वनि रूप

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्या-त्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य। वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच ॥१२॥

रूपाणि एव—रूप (नेत्र के विषय) ही, यस्य आयतनम्—जिसका आश्रय है; चक्षुः—नेत्र, लोकः—दर्शन (ज्ञान) साधन है, मनोज्योतिः य एव—अर्थ पूर्ववत्, असौ—यह, आदित्ये—सूर्य मे, तस्य—उस (आदित्य पुरुष) का, .. सत्यम्—सत्य (सत्ता) ॥१२॥

आकाश एव यस्यायतनꣳ श्रोत्रं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्या-त्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य। वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच ॥१३॥

में गूंजने वाला 'श्रौत्र-पुरुष' है, वह तो उस विराट्-पुरुष के विशाल-रूप की ध्वनि-रूप मे एक झलक है, 'ब्रह्म' इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नही, तो उसका 'देव' कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'दिशा' है, दिशा-रूप भगवान् श्रोत्र, आकाश और शब्द—इन सब को अपने भीतर समाये हुए है ॥१३॥

विदग्ध ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु अस्ल मे ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियो का परम-धाम है, जो 'मन' को ज्योति बनाकर, 'हृदय' के सहारे, मानो संसार के 'तम' में—'अन्धकार' में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है—यह उजाला भी उसका है, यह अंधेरा भी उसका है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू सब प्राणियों का परम-धाम कह रहा है उसे मै जानता हूं, परन्तु वह तो 'छायामय-पुरुष' है, यह अन्धकार मानो उस विराट्-पुरुष की छाया है, 'ब्रह्म' इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मै उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका 'देव' कौन है। याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'मृत्यु' है, भगवान् का 'मृत्यु-रूप' ही संसार में अन्धकार या अज्ञान के रूप में दिखाई देता है ॥१४॥

आकाशः एव—आकाश ही, यस्य आयतनम—जिसका सहारा (आधार) है, श्रोत्रम्—कान, लोकः—दर्शन-साधन (ज्ञान-इन्द्रिय) है, . श्रौत्रः—श्रोत्र (कान) सम्बन्धी, प्रातिश्रुत्कः—प्रतिध्वनि (गूज) मे रहनेवाला, दिशः—दिशाए (अवकाश) ॥१३॥

तम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मन. परायणं स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य। वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मन. परायणं यमात्थ य एवायं छायामय. पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच ॥१४॥

तम. एव—अन्धकार (तमोगुण) ही, यस्य आयतनम्—जिसका आधार

विदग्ध ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु अस्ल मे ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियों का परम-धाम है, जो 'मन' को ज्योति बनाकर, 'चक्षु' के सहारे, मानो हमारे-तुम्हारे इस पिंड-रूपी रूप में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू सब प्राणियों का परम-धाम कह रहा है उसे मैं जानता हूं, परन्तु वह तो 'आदर्श-पुरुष' है, दर्पण में दीखने वाला पुरुष है, वह हमारा-तुम्हारा देह है, 'ब्रह्म' इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नहीं, तो उसका 'देव' कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'असु' है प्राण है, प्राण के सहारे ही यह देह टिका हुआ है, और वह तो सब प्राणों का प्राण है ॥१५॥

विदग्ध ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु अस्ल में ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियों का परम-धाम है, जो 'मन' को ज्योति बनाकर, 'हृदय' के सहारे, मानो संसार के 'जलों' में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है, इतनी विशाल जल-राशि मानो उसका शरीर

है, हृदयम्—हृदय, लोकः—दर्शन-साधन है, छायामयः—छायावाला, छायारूप, मृत्युः—मौत, मरण विनाश ॥१४॥

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं त पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच ॥१५॥

रूपाणि .एव अयम्—अर्थ पूर्ववत्, आदर्शे—दर्पण मे, पुरुषः—(प्रतिबिम्ब रूप मे) पुरुष है, असुः—प्राण, ॥१५॥

आप एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुष विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायण यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच ॥१६॥

है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू सब प्राणियो का परम-धाम कह रहा है उसे मै जानता हूं, परन्तु वह तो 'जल-पुरुष' है, जल मानो उस विराट्-पुरुष के देह है, 'ब्रह्म' तो इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मैं उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नही, तो उसका 'देव' कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'वरुण' है—वरुण-रूपी भगवान् जल-रूपी देवों का देव है ।।१६।।

विदग्ध ने फिर कहा, हे याज्ञवल्क्य ! तुम अपने को ब्रह्म-वेत्ता कहते हो, परन्तु अस्ल में ब्रह्म-वेत्ता तो वह है जो उस 'पुरुष' को जानता है जो सब प्राणियों का परम-धाम है, जो 'मन' को ज्योति बना कर, 'हृदय' के सहारे, मानो 'सन्तान' में आकर साक्षात् ठिकाना किये बैठा है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जिस 'पुरुष' को तू सब प्राणियों का परम-धाम कह रहा है उसे मै जानता हूं, परन्तु वह तो 'पुत्रमय-पुरुष' है, विराट्-पुरुष का मानो सृष्टयुत्पत्ति करने वाला रूप है, 'ब्रह्म' तो इससे बहुत अधिक है। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा, हे शाकल्य ! तू प्रश्न किये जा, मै उत्तर देता जाऊंगा। शाकल्य ने पूछा, अगर वह 'पुरुष' स्वयं 'ब्रह्म-देव' नही, तो उसका 'देव' कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देव 'प्रजापति' है, भगवान् का 'प्रजापति'-रूप ही सृष्टयुत्पत्ति करता हुआ भिन्न-भिन्न प्राणियो-में सृष्टि की रचना कर रहा है ।।१७।।

(इसी प्रकार का वर्णन बृहदा० २-१ मे भी पाया जाता है

आप.—जल, एव—ही, यस्य आयतनम्—जिसका आश्रय है, अप्सु—जलो मे, पुरुषः—(प्रतिविम्वमय) पुरुष है, वरुणः—वरुण देव ।।१६।।

रेत एव यस्यायतनं हृदय लोको मनोज्योतिर्यो वै त पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य। वेद वा अहं त पुरुषं सर्वस्यात्मन परायण यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुष. स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच ।।१७।।

रेतः—वीर्य पुत्रमय—पुत्रो से सम्पन्न, पुत्र रूप मे विद्यमान . प्रजापतिः—प्रजापति (जगदुत्पादक) ।।१७।।

जिसमे अजातशत्रु तथा दृप्त बालाकि की प्रश्नोत्तरी है। दृप्त बालाकि और विदग्ध शाकल्य एक ही स्वभाव के है। एक 'दृप्त' अर्थात् घमडी है तो दूसरा 'विदग्ध' अर्थात् जला-भुना है ।)

इतना कह चुकने के बाद याज्ञवल्क्य ने विदग्ध को एक चुटकी ली, और कहा, हे शाकल्य ! इन ब्राह्मणों ने तुम्हे सुलगा-सुलगा कर क्षीण होता हुआ, बुझता हुआ अंगारा बना दिया है, अब बस, निरा बुझा हुआ कोयला बनने वाले हो ॥१८॥

इस ललकार से शाकल्य का बुझता हुआ तेज फिर चमक उठा और उसने तीसरा विषय छेड़ा। उसने कहना शुरू किया, हे याज्ञ-वल्क्य ! तुम समझ रहे हो कि तुम ने कुरु और पांचाल के ब्राह्मणों को हरा दिया। 'ब्रह्म' को तो तुम क्या जानोगे, क्या तुम्हे 'दिशाओं' का भी ज्ञान है ? कौन-कौन-सी दिशाएं है, कौन-कौन उनके 'देवता' है, कहां उनकी 'प्रतिष्ठा' है ? अगर तुम्हें प्रतिष्ठा-सहित देवो और दिशाओं का ज्ञान है—॥१९॥

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वाँ स्विदिमे
ब्राह्मणा अंगारावक्षयणमक्रता३ इति ॥१८॥

शाकल्य इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः—याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे शाकल्य !, **त्वां स्विद्**—तुझको, **इमे**—इन, **ब्राह्मणाः**—(उपस्थित प्रतिस्पर्धी) ब्राह्मणो ने, **अंगारावक्षयणम्**—प्रदीप्त अगारे का क्षीण होना (बुझ जाना), **अक्रत**—कर दिया, (**अंगारावक्षयणम् अक्रत**—अगारो को राख बना दिया, तुझे हत-प्रभ कर दिया), **इति**—यह (कहा कि तू अब पराजित हो गया) ॥१८॥

**याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां
ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद सदेवाः
सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठा. ॥१९॥**

याज्ञवल्क्य इति ह उवाच शाकल्यः—शाकल्य ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य !, **यद् इदम्**—जो यह (इस प्रकार), **कुरु-पञ्चालानाम्**—कुरु और पचाल देश के, **ब्राह्मणान्**—ब्राह्मणो को, **अति+अवादीः**—तिरस्कृत किया है, **किम्**—क्या (ऐसा तूने), **ब्रह्म**—ब्रह्म को, **विद्वान्**—जानते हुए (किया है ?), **इति**—यह (कहा), **दिशः**—दिशाओ को, **वेद**—मैं जानता हू, **सदेवाः**—(उनके) देवताओ के सहित, **सप्रतिष्ठाः**—प्रतिष्ठा के सहित, **इति**—(यह शाकल्य

तो यह बताओ कि पूर्व दिशा में तुम्हारा कौन देवता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'आदित्य'। अच्छा, आदित्य किस में प्रतिष्ठित है ? चक्षु में ! चक्षु किस में प्रतिष्ठित है ? रूप में, क्योकि आंख से ही रूप देखा जाता है। रूप किस में प्रतिष्ठित है ? हृदय में, क्योंकि हृदय से ही रूप का ज्ञान होता है इसलिये हृदय से ही रूप की प्रतिष्ठा है। हृदय न हो तो रूप का होना-न-होना एक-सा है; रूप न हो तो चक्षु का होना-न-होना एक-सा है; चक्षु न हो तो आदित्य का होना-न-होना एक-सा है--इसलिये इनमें से हर एक की दूसरे पर प्रतिष्ठा है, और सब की अन्तिम प्रतिष्ठा 'हृदय' में है। शाकल्य ने कहा, ठीक है ॥२०॥

ने कहा), यत्--जो, यदि, दिश.--दिशाओं को, वेत्थ--तू जानता है, सदेवाः --उनके देवो सहित, सप्रतिष्ठाः--उनकी प्रतिष्ठा सहित (तो बता) ॥१९॥

किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रति-ष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२०॥

किं-देवत.--किस देवता को माननेवाला, अस्याम्--इस, प्राच्याम्--पूर्व, दिशि--दिशा मे, असि--तू है (पूर्व दिशा का देवता कौन है ?) इति--यह, आदित्यदेवतः--(मैं इसका) आदित्य देवता मानने वाला हूँ, इति--यह (उत्तर दिया), सः आदित्यः--वह आदित्य (सूर्य), कस्मिन्--किसमे (पर), प्रतिष्ठित. इति--स्थितिवाला है, चक्षुषि इति--नेत्र मे प्रतिष्ठित है, कस्मिन् नु--किस मे तो, चक्षुः प्रतिष्ठितम् इति--नेत्र स्थित है, रूपेषु इति--रूप मे स्थित है, चक्षुषा हि--नेत्र द्वारा ही, रूपाणि--रूपो को, पश्यति--देखता है, कस्मिन् नु रूपाणि प्रतिष्ठितानि इति--रूप किसमें स्थित हैं ?, हृदये--हृदय मे (स्थित हैं), इति ह उवाच--यह कहा, हृदयेन हि--हृदय से ही, रूपाणि--रूपो को, जानाति--प्राणी जानता है, हृदये हि एव--हृदय में ही, रूपाणि--रूप, प्रतिष्ठितानि--स्थित, स्थिर (अचल), भवन्ति--होते है, इति--यह (व्याख्या की); एवम् एव--इस प्रकार ही, एतद्--यह (तेरा निरूपण) है, याज्ञवल्क्य--हे याज्ञवल्क्य ! ॥२०॥

अच्छा, यह बताओ कि दक्षिण दिशा में तुम्हारा कौन देवता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'यम'—मृत्यु ! यम किस में प्रतिष्ठित है ? यज्ञ से, क्योंकि मृत्यु पर विजय पाने के लिये ही तो यज्ञ किये जाते हैं। यज्ञ किस में प्रतिष्ठित है ? दक्षिणा में, दक्षिणा के बिना यज्ञ बेकार है। दक्षिणा किस में प्रतिष्ठित है ? श्रद्धा में, श्रद्धा हो तभी तो दक्षिणा दी जाती है, श्रद्धा में ही दक्षिणा की प्रतिष्ठा है, शोभा है। श्रद्धा किस में प्रतिष्ठित है ? हृदय में, हृदय में ही श्रद्धा का वास होता है, हृदय में ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है, हृदय में ही उसका स्थान है—यम, यज्ञ, दक्षिणा, श्रद्धा इन सब की अन्तिम प्रतिष्ठा 'हृदय' में है। शाकल्य ने कहा, ठीक है ॥२१॥

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायाँ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२१॥

किं-देवत.—किस देवता को जानने-माननेवाला, **अस्याम् दक्षिणायाम् दिशि**—इस दक्षिण दिशा मे, **असि इति**—तू है, **यम-देवतः इति**—(मैं) यम देवता को मानने वाला हू (मानता हू), **सः यमः कस्मिन् प्रतिष्ठित. इति**—वह यम (देवता) किसमें स्थितिवाला है, **यज्ञे इति**—यज्ञ में स्थित है, **कस्मिन् नु यज्ञः प्रतिष्ठित.**—यज्ञ की स्थिति किस पर है, **दक्षिणायाम् इति**—(ब्राह्मण को दी) दान-दक्षिणा मे यज्ञ की स्थिति है, **कस्मिन् नु दक्षिणा प्रतिष्ठिता इति**—दक्षिणा किस पर स्थित है, **श्रद्धायाम् इति**—श्रद्धा पर दक्षिणा स्थित है, **यदा हि एव**—क्योंकि जब ही, **श्रद्धत्ते**—श्रद्धा (विश्वास-आदर) करता है, **अथ**—तो, **दक्षिणाम्**—दक्षिणा को, **ददाति**—देता है, **श्रद्धायाम् हि एव दक्षिणा प्रतिष्ठिता इति**—अत श्रद्धा पर ही दक्षिणा आश्रित है, **कस्मिन् नु श्रद्धा प्रतिष्ठिता इति**—श्रद्धा का आश्रय किस पर है ?, **हृदये इति ह उवाच**—हृदय मे श्रद्धा का आश्रय है, यह कहा, **हृदयेन हि श्रद्धाम् जानाति**—हृदय द्वारा ही श्रद्धा को जानता (समझता) है, **हृदये हि एव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवति इति**—हृदय मे ही श्रद्धा स्थित होती (रहती) है, **एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसे ही है (तेरा कथन सत्य है) ॥२१॥

अच्छा, यह बताओ कि पश्चिम दिशा में तुम्हारा कौन देवता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'वरुण'--मेघ ! वरुण किस में प्रतिष्ठित है ? जल में, मेघ ही से तो जल बरसते हैं । जल किस में प्रतिष्ठित है ? रज-वीर्य में, जल द्वारा ही तो शरीर मे रज-वीर्य की उत्पत्ति होती है । रज-वीर्य किस मे प्रतिष्ठित है ? हृदय में, तभी प्रतिरूप सन्तान के लिये कहते हैं मानो हृदय से निकला है, मानो माता-पिता के हृदय से ही बना है, इसलिये हृदय मे ही रज-वीर्य की प्रतिष्ठा है--मेघ, जल, रेतस् सब की अन्तिम प्रतिष्ठा 'हृदय' में है। शाकल्य ने कहा, ठीक है ॥२२॥

अच्छा, यह बताओ कि उत्तर दिशा में तुम्हारा कौन देवता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'सोम'--ब्रह्मचारी ! 'सोम' किस में प्रतिष्ठित

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेत. प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२२॥

किंदेवत·—किस देवता को जाननेवाला, अस्याम्—इस, प्रतीच्याम् दिशि—पश्चिम दिशा मे, असि—तू है, वरुण-देवत. इति—वरुण देवता को जाननेवाला हू (पश्चिम दिशा का देवता वरुण है), सः वरुण.—वह वरुण (देवता), कस्मिन् प्रतिष्ठत. इति—किस पर आश्रित है, कहा रहता है, अप्सु इति—जलो में (प्रतिष्ठित है), कस्मिन् नु आप. प्रतिष्ठिताः इति—किस मे जलो की स्थिति है, रेतसि इति—वीर्य मे (स्थित) है, कस्मिन् नु रेतः प्रतिष्ठितम् इति—वीर्य किसमे प्रतिष्ठित है; हृदये इति—हृदय मे (स्थितिवाला) है, तस्माद् अपि—उस कारण से ही, प्रतिरूपम्—(आकृति-रूप-गुण मे) अनुरूप, जातम्—उत्पन्न पुत्र को, आहुः—कहते हैं कि, हृदयाद् इव—मानो हृदय से, सृप्त—निकला है, हृदयाद् इव—मानो हृदय से, निर्मित.—बना है, इति—यह (लोग कहते हैं), हृदये हि एव—हृदय मे ही, रेत.—वीर्य, प्रतिष्ठितम् भवति इति—स्थितिवाला होता है, एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य यह इस प्रकार ही है ॥२२॥

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोम कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहु सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु

है ? दीक्षा में, दीक्षा लेकर ही तो ब्रह्मचारी बनता है । दीक्षा किस में प्रतिष्ठित है ? सत्य मे, सत्य ही की तो ब्रह्मचारी को दीक्षा दी जाती है, दीक्षा ग्रहण कर चुकने पर, दीक्षित हो जाने पर, आचार्य का अन्तिम उपदेश भी यही होता है—'सत्यं वद'—इसलिये सत्य मे ही दीक्षा प्रतिष्ठित है । सत्य किस में प्रतिष्ठित है ? हृदय मे, सच्ची बात हृदय में झट पहचानी जाती है । सोम अर्थात् ब्रह्मचारी, दीक्षा, सत्य इन सब की अन्तिम प्रतिष्ठा 'हृदय' में है । शाकल्य ने कहा, ठीक है ॥२३॥

(पूर्व दिशा के 'आदित्य' के मुकाबिले मे पश्चिम दिशा मे 'मेघ' का होना स्वाभाविक है, इसी प्रकार दक्षिण दिशा के 'यम' के मुकाबिले मे उत्तर दिशा मे 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत' का घोष करने वाले 'ब्रह्मचारी' का होना भी स्वाभाविक क्रम है ।)

सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्य प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२३॥

किंदेवतः—किस देवता को माननेवाला, **अस्याम् उदीच्याम् दिशि**—इस उत्तर दिशा मे, **असि**—तू है, **इति**—यह (पूछा), **सोमदेवतः इति**—उत्तर दिशा का देवता 'सोम' है, ऐसा मैं मानता हू, **सः सोमः कस्मिन् प्रतिष्ठितः इति**—वह सोम किसमे प्रतिष्ठित है ?, **दीक्षायाम् इति**—दीक्षा (उत्तम कर्म करने का अधिकार या पात्रता—योग्यता) मे, **कस्मिन् नु दीक्षा प्रतिष्ठिता इति**—किसमे दीक्षा आश्रित है, **सत्ये इति**—सत्य (सत्य-व्यवहार, कार्य से न डिगना—अविचलता) मे (दीक्षा प्रतिष्ठित है), **तस्माद् अपि**—अतएव, **दीक्षितम्**—दीक्षा लिए हुए (ब्रह्मचारी) को, **आहुः**—(आचार्य) कहते (उपदेश करते) है कि, **सत्यम् वद**—सत्य भाषण कर, **इति**—ऐसे, **सत्ये हि एव दीक्षा प्रतिष्ठिता इति**—क्योकि सत्य पर ही दीक्षा का आश्रय है, **कस्मिन् नु सत्यम् प्रतिष्ठितम् इति**—यह बताओ कि सत्य किसमें प्रतिष्ठित है ?, **हृदये**—हृदय मे, **इति ह उवाच**—ऐसे कहा (उत्तर दिया), **हृदयेन हि सत्यम् जानाति**—क्योकि हृदय से ही सत्य (सचाई) को जानता है अत, **हृदये हि सत्यम् प्रतिष्ठितम् भवति**—हृदय पर ही सत्य प्रतिष्ठित होता है, **इति**—ऐसे, **एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य यह इस प्रकार ही है (तुम ठीक कहते हो) ॥२३॥

अच्छा, यह बताओ कि ध्रुव दिशा में तुम्हारा कौन देवता है ? ध्रुव वह दिशा है जो 'ध्रुव' है, अविचल है; जो न पूर्व में आती है, न पश्चिम में, न उत्तर में आती है, न दक्षिण में। याज्ञवल्क्य ने कहा, उसका देवता 'अग्नि' है। अग्नि ही पृथिवी पर 'आग', अन्तरिक्ष में 'विजली', द्यु में 'सूर्य' के रूप में चमक रहा है—इन सब में ध्रुव तथा अविचल सत्ता 'अग्नि' ही है। तो फिर अग्नि किस में प्रतिष्ठित है ? वाणी में, ब्रह्मांड में प्रकाश देने वाली अग्नि ही पिंड में जब ज्ञान का प्रकाश देने लगती है, तो वह वाणी का रूप धारण कर लेती है। वाणी किस में प्रतिष्ठित है ? हृदय में, हृदय का स्रोत भर जाने पर ही तो वाणी का प्रवाह फूट पड़ता है—(Out of the abundance of the heart the mouth speaketh—बायबल)। शाकल्य ने यह सुनकर कहा, याज्ञवल्क्य ! हर बात में लौट-फेर कर तुम 'हृदय' में आ पहुंचते हो, यह बतलाओ कि हृदय किस में प्रतिष्ठित है ? ॥२४॥

यह सुन कर याज्ञवल्क्य ने झिड़क कर कहा, हे अहल्लिक ! हे निशाचर ! तू यह समझता प्रतीत होता है कि हृदय शरीर में प्रति-

---

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्निः
कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति
हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ॥२४॥

किंदेवत—किस देवता को जानने-मानने वाला, अस्याम्—इस, ध्रुवायाम्—ध्रुव (स्थिर, अपरिवर्तनशील), दिशि—दिशा मे, असि—तू है, अग्निदेवतः इति—इसको अग्नि-देवता वाला मैं जानता हूं, सः अग्निः कस्मिन् प्रतिष्ठितः इति—वह अग्नि किस पर आश्रित है, वाचि इति—वाणी में, कस्मिन् नु वाक् प्रतिष्ठिता इति—वाणी किसमे स्थित है, हृदये इति—हृदय में, कस्मिन् नु हृदयम् प्रतिष्ठितम् इति—हृदय का आश्रय कौन है ? ॥२४॥

अहल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै
यद्ध्येतदन्यत्रास्मत्स्याच्छ्वानो वैनदद्युर्वयांसि वैनद्विमथ्नीरन्निति ॥२५॥

अहल्लिक !—अरे हतप्रभ मूर्ख !, इति—ऐसे (सबोधन कर), ह उवाच याज्ञवल्क्यः—याज्ञवल्क्य ने कहा, यत्र—जहां, एतद्—इस (हृदय) को, अन्यत्र—दूसरी जगह (अन्य स्थान मे), अस्मद्—हम (आत्मा से युक्त शरीर) से, मन्यासै—तू मान रहा है, यद् हि—अगर, एतद्—यह (हृदय), अन्यत्र

ष्ठित न होकर, शरीर में न रह कर, कहीं और रहता है ! अगर हृदय शरीर को छोड़ किसी और जगह रहता, तो क्या यह शरीर जीवित रह सकता ? इसे कुत्ते फाड़ खाते, पक्षी इसके चीथड़े उड़ा डालते ॥२५॥

यह सुन कर शाकल्य ने कहा, अगर यह बात है, तो यह बता कि तेरा शरीर और तेरा हृदय किस मे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'प्राण' मे। प्राण किस में प्रतिष्ठित है ? 'अपान' में ! अपान किस मे प्रतिष्ठित है ? 'व्यान' मे ! व्यान किस में प्रतिष्ठित है ? 'उदान' में ! उदान किस मे प्रतिष्ठित है ? 'समान' में ! हे विदग्ध ! तू इस प्रकार कहां तक पूछता जायगा, 'आत्मा' का इससे अधिक वर्णन नही हो सकता। इससे अधिक वर्णन करना हो तब तो उसका 'नेति'-'नेति' मे ही वर्णन हो सकता है, यही कहा जा सकता है कि वह 'यह नहीं है'-'यह नही है'। आत्मा 'अग्राह्य' है, वह पकड़ मे नहीं

अस्मत्—हम (शरीर) से अन्यत्र, **स्यात्**—होवे (होता तो), **श्वानः वा**—या तो कुत्ते, **एनद्**—इस (हृदय) को, **अद्युः**—खा जाते, **वयांसि वा**—या पक्षी, **एनद्**—इसको, **विमथ्नीरन्**—टुकडे-टुकडे कर देते, मथ डालते, **इति**—यह (कहा) ॥२५॥

> कस्मिन्नु त्व चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राण. प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्नवपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसगो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति। एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः स यस्तान् पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषद पुरुष पृच्छामि त चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति । त ँ ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्धा विपपातापि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः ॥२६॥

कस्मिन्—किसमे, **नु**—तो, **त्वम् च**—तू (आत्मा से अतिरिक्त-शरीर), **आत्मा च**—और आत्मा, **प्रतिष्ठितौ**—स्थित, **स्थः**—हो, **इति**—यह (पूछा), **प्राणे इति**—प्राण मे, **कस्मिन् नु प्राण. प्रतिष्ठित इति**—प्राण का आश्रय क्या है, **अपाने इति**—अपान पर (आश्रित है), **कस्मिन् नु अपान. प्रतिष्ठितः इति**—अपान किस पर प्रतिष्ठित है, **व्याने इति**—व्यान पर, **कस्मिन् नु व्यान॰**

आता; वह 'अशीर्य' है, उसका क्षय नहीं होता; वह असंग है, वह किसी से लिप्त नहीं होता; वह बंधन-रहित है, व्यथा-रहित है, नाश-रहित है।

याज्ञवल्क्य ने फिर विदग्ध को सम्बोधन करके कहा, ऐ विदग्ध ! मेरी-तेरी ज्ञान-चर्चा आठ देवताओं के विषय में हुई, आठ पुरुषों के विषयों में भी हुई। तू 'शारीर-पुरुष'-'काममय-पुरुष'-'आदित्य-पुरुष'-'श्रौत्र-पुरुष'-'छायामय-पुरुष'-'आदर्श-पुरुष' - 'जल-पुरुष' और 'पुत्रमय-पुरुष' को ही 'ब्रह्म' समझे बैठा था। मैंने तुझे समझाया कि ये तो 'ब्रह्म' के एक-एक अंग हैं, उसके विशाल रूपों में से एक-एक रूप की झलक है। अब तक तू मुझ से प्रश्न कर रहा था, अब मैं तुझ से प्रश्न करता हूं। विराट्-पुरुष के इन भिन्न-भिन्न रूपों का निरोध करके, इन सब रूपो से ऊपर पहुंचा हुआ जो उसका शुद्ध रूप है, जिसे 'औपनिषद-पुरुष' कहते हैं, जिसे उपनिषद् से ही जाना जाता है, अन्य प्रकार नहीं, उसका तो ज़रा वर्णन कर, और याद रख, अगर तू उसका वर्णन न कर सका, तो तेरा सिर धड़ से अलग जा गिरेगा, तू लज्जा

प्रतिष्ठित. इति—व्यान (प्राण-भेद) किस पर स्थित है, उदाने इति—उदान (प्राण-भेद) पर; कस्मिन् नु उदान. प्रतिष्ठितः इति—उदान किस पर आधारित है, समाने इति—समान पर (शरीर पच-प्राण पर आश्रित है) यह समझ ले, स· एष —वह यह (आत्मा तो), न इति—यह भी (आत्मा) नहीं, न इति —(आत्मा) यह भी नहीं (इस रूप में बताया जा सकता है क्योंकि), आत्मा—आत्मा (जिसका तू आधार जानना चाहता है), अगृह्यः—ग्रहण नहीं किया जा सकता (इन्द्रियों की पकड़ से बाहर है); अशीर्यः—वह अक्षर है, न हि शीर्यते—वह छिन्न-भिन्न नहीं होता, असंग —सग (साथी) से रहित, निर्लेप है, न हि—नहीं; सज्यते—(किसी से) लिप्त होता है (केवली) है, असितः—बन्धन से रहित है, न—नहीं, व्यथते—दुःखी होता है (दुःखातीत है), न रिष्यति—नहीं नाश को प्राप्त होता है (अविनाशी है); (फिर याज्ञवल्क्य ने पूछा) एतानि —ये, अष्टौ—आठ, आयतनानि—आयतन (आधारभूत आश्रय) हैं, अष्टौ लोका.—आठ लोक हैं, अष्टौ देवाः—आठ देव हैं, अष्टौ पुरुषाः—आठ (शारीर आदि) पुरुष (आत्म-भेद) हैं, य·—जो; तान्—उन, पुरुषान्—पुरुषों को, निरुह्य—उनसे निकल कर, उन्हें छोड कर, प्रत्युह्य—उन्हें सामने से परे हटाकर, अत्यक्रामत्—लांघ जाता है, इनसे ऊपर उठ जाता है; तम्—उस,

के मारे बचा न रहेगा। विदग्ध शाकल्य कुछ उत्तर न दे सका और इस पराजय का उस अभिमानी को इतना धक्का लगा कि उसका वहीं सिर फट गया, उसका प्राणांत हो गया, उसकी हड्डियां भी इतनी ढीली पड़ गई मानो उन्हें चोर न-जाने क्या-कुछ समझ कर चुरा ले भागे हों--उससे खड़ा न रहा गया, और वह वहीं ढेर हो गया ॥२६॥

विदग्ध से निपट कर अब याज्ञवल्क्य ब्राह्मणो की तरफ मुंह करके बोले, हे पूजनीय ब्राह्मणो ! अब आप में से जिस की इच्छा हो मुझ से ब्रह्म-विषयक प्रश्न करो, आप चाहो तो आप सब मिल कर मुझ से प्रश्न करो। और, अगर आप में से कोई चाहे कि मैं उससे प्रश्न करूं, या अगर आप चाहो कि मैं आप सब से प्रश्न करूं, तो मैं प्रश्न करने के लिये उद्यत हूं। उन ब्राह्मणो में से किसी को प्रश्न करने का साहस नहीं हुआ ॥२७॥

त्वा—तुझ से, **औपनिषदम्**—उपनिपद् (गुह्य-ज्ञान) से जानने योग्य, उपनिषदो मे वर्णित, **पुरुषम्**—पुरुष (आत्मा या परमात्मा) को, **पृच्छामि**—पूछता हू (कि वह कौन-सा कैसा है), **तम्**—उसको, **चेत्**—अगर, **मे**—मुझे, **न**—नही, **विवक्ष्यसि**—व्याख्या कर वतलायगा (तो), **मूर्धा**—मस्तक, सिर, **ते**—तेरा, **विपतिष्यति**—(लज्जा से) गिर जायगा, **इति**—यह (कहा व पूछा), **तम्**—उस (पुरुष) को, **न**—नही, **मेने**—मनन कर मका, जानता था (अत न वता सका), **शाकल्यः**—विदग्ध शाकल्य, **तस्य ह**—और उसका, **मूर्धा**—सिर, **विपपात**—(आत्मग्लानि से) गिर गया, **अपि ह**—तथा च, **अस्य**—इस (विदग्ध) की, **परिमोषिण.**—चोर, **अस्थीनि**—हड्डियो को, **अपजह्रुः**—अपहरण कर ले गये, उठा भागे, **अन्यत्**—कुछ अन्य-सा, **मन्यमाना.**—समझते हुए ॥२६॥

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो व कामयते स मा
पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि
सर्वान्वा व. पृच्छामीति। ते ह ब्राह्मणा न दधृषु. ॥२७॥

अथ ह उवाच—फिर (याजवल्क्य ने) कहा, **ब्राह्मणा. भगवन्तः**—आदरणीय ब्राह्मणो!, **य**—जो कोई, **व**—तुम (आप) मे से, **कामयते**—चाहता हो, **स.**—वह, **मा**—मुझसे, **पृच्छतु**—पूछे, **सर्वे वा**—या सारे (सव मिल कर), **मा**—मुझसे, **पृच्छत**—प्रश्न करे, **य.**—जो कोई, **व.**—आपमे से, **कामयते**—चाहता हो, **तम् वः** (वः तम्)—आप मे से उमसे, **पृच्छामि**

अब याज्ञवल्क्य ने ही कहना शुरु किया—वनस्पतियों में जैसे 'वृक्ष' है, ठीक इसी तरह प्राणियों में 'पुरुष' है। जैसे वृक्ष के 'पत्ते' है वैसे पुरुष के 'लोम' है; जैसे वृक्ष की बाहरी 'वक्कल' है वैसे पुरुष की 'त्वचा' है; जैसे वृक्ष की वक्कल को काटने से 'गोंद' झरता है वैसे पुरुष की त्वचा के आहत होने से 'रुधिर' बहता है; जैसे वृक्ष के वक्कल के नीचे नर्म 'तहें' है वैसे पुरुष की त्वचा के नीचे 'मांस' है; जैसे वृक्ष में 'रेशे' है वैसे पुरुष में 'नस-नाड़ी' है; जैसे वृक्ष में 'लकड़ियां' है वैसे पुरुष में 'हड्डियां' है; जैसे वृक्ष के अन्दर 'गूदा' है वैसे पुरुष में 'मज्जा' है।

परन्तु हे ब्राह्मणो ! यह बतलाओ कि जब वृक्ष को काट गिराते है तब वह तो अपने 'मूल' से—अपनी जड़ से—फिर उठ खड़ा होता है परन्तु जब पुरुष को मृत्यु काट गिराती है तब वह किस 'मूल' से फिर उठ खड़ा होता है ? अगर कहो कि 'वीर्य' से पुरुष मर कर उठ खड़ा होता है, तो यह बात ठीक नहीं, क्योंकि 'वीर्य' तो जीवित

—मैं प्रश्न करू, सर्वान् वा—या सब ही, वः—आप से, पृच्छामि—प्रश्न करता हू, इति—ऐसे कहा, ते ह ब्राह्मणा—उन ब्राह्मणो ने, न—नहीं, दधृषुः—साहस किया, न सह सके ॥२७॥

तान् हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ। यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा। तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः। त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः। तस्मात्तदातृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाऽऽहतात्। मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम्। अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता। यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः। मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति। रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते। धानारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य संभव। यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्। मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति। जात एव न जायते को न्वेवं जनयेत्पुनः। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति ॥२८॥

तान् ह—और उनको (से), एतैः—इन, श्लोकैः—पद्यो से, पप्रच्छ—पूछा, यथा—जैसे, वृक्षः—वृक्ष, वनस्पतिः—वन का स्वामी, सब से बड़ा, तथा एव—वैसे ही, पुरुषः—देहयुक्त आत्मा, अमृषा—सत्य है, या इसमें झूठ (सन्देह) नहीं; तस्य—उस (देही) के, लोमानि—रोए, पर्णानि—पत्ते

पुरुष में ही होता है। अगर पुरुष के मर जाने पर भी उसका वीर्य बना रहता, तो वह मरने पर भी वृक्ष की तरह बीज से फिर उग खड़ा होता, परन्तु पुरुष के तो मर जाने पर उसका बीज भी साथ ही नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त, अगर वृक्ष के मूल को नष्ट कर दिया जाय, तो वह फिर उत्पन्न नहीं हो सकता, फिर यह बत-लाओ कि मृत्यु जब पुरुष को समूल नष्ट कर देती है, तो यह किस मूल से फिर उठ खड़ा होता है, दुबारा जन्म ले लेता है ? याज्ञवल्क्य के इस प्रश्न को सुनकर चारों तरफ स्तब्धता छा गई, किसी से कोई उत्तर न बन पड़ा। यह देख याज्ञवल्क्य ने स्वयं ही उत्तर दिया, हे ब्राह्मणो ! वह 'आत्मा' 'जात' ही है, सदा बना हुआ है, वह कभी

(के समान) है, **त्वग्**—त्वचा, **अस्य**—इस (देही पुरुष) की, **उत्पाटिका बहिः**—(वृक्ष की) बाहर की अलग हो जानेवाली छाल (वक्कल) है, **त्वचः**—त्वचा से, **एव**—ही, **अस्य**—इस पुरुष की, **रुधिरम्**—खून, **प्रस्यन्दि**—बहने वाला, वहता है, **त्वच.**—छाल से, **उत्पटः**—उखडी हुई, **तस्माद्**—उससे **तद्**—वह (रुधिर), **आतृण्णात्**—कटे हुए, **प्रैति**—निकलता है, **रसः**—रस (पानी), **वृक्षात्**—वृक्ष से, **इव**—समान, तरह, **आहतात्**—चोट खाए हुए, काटे हुए, **मांसानि**—मास, **अस्य**—इस (देही) के, **शकराणि**—वृक्ष की छाल के नीचे का नर्म भाग (है), **किनाटम्**—वृक्ष की नसे (रेशे), **स्नाव**—नाडी-सस्थान, **तत्**—वह, **स्थिरम्**—स्थिर है, **अस्थीनि**—हड्डिया, **अन्तरतः**—(वृक्ष के) अन्दर की, **दारूणि**—कठोर लकडी है, **मज्जा**—गूदा, **मज्जा+उपमा**—(मनुष्य की) मज्जा के समान, **कृता**—(वर्णित) की गई है, **यद्**—जो, **वृक्ष.**—वृक्ष, **वृक्ण.**—काटा हुआ, **रोहति**—फिर जम आता है, **मूलात्**—जड से, **नवतरः**—अधिक नया, नये सिरे से, **मर्त्य.**—मरण-धर्मा (देही), **स्वित्**—तो, **मृत्युना**—मृत्यु (काल) से, **वृक्ण**—काटा हुआ, मारा हुआ, **कस्मात्**—किस, **मूलात्**—जड से, **प्ररोहति**—फिर उग आता है (फिर जन्म लेता है), **रेतस.**—वीर्य से (उत्पन्न होता है), **इति**—ऐसे, **मा**—मत, **वोचत**—कहो, **जीवतः**—जीवित पुरुष के ही, **तद्**—वह (वीर्य), **प्रजायते**—उत्पन्न होता है (मृत का नही), **धानारुहः**—बीज से उत्पन्न होनेवाले, **इव**—समान, **वृक्ष**—वृक्ष, **अञ्जसा**—जल्दी ही, **प्रेत्य**—मर कर, **संभव**—उत्पत्ति सभव है, **यत्**—जो, **समूलम्**—जडसहित, **आवृहेयु**—उखाड देवे, **वृक्षम्**—वृक्ष को, **न**—नही, **पुनः**—फिर, **आ भवेत्**—(हरा-भरा) हो सकता है, **मर्त्यं प्ररोहति**—अर्थ पूर्ववत्, **जातः एव**—(सर्वदा) उत्पन्न ही है (वह कभी मरता ही नहीं),

उत्पन्न ही नहीं होता, फिर उसके दुबारा उत्पन्न होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। वह 'आत्मा' विज्ञानमय है, आनन्दमय है, ब्रह्म है—वही धन आदि का दान देने वाले 'कर्मकांडी' तथा स्थिर-चित्त, ब्रह्म-ज्ञान में रत 'ज्ञानकांडी' का परम-धाम है ॥२८॥

चतुर्थ अध्याय—(पहला ब्राह्मण)

(जनक को याज्ञवल्क्य का विश्व के आधारभूत-तत्त्वों का उपदेश, १ से ४ ब्राह्मण)

एक समय की बात है कि विदेह-राज जनक बैठे हुए थे, इतने में महर्षि याज्ञवल्क्य वहां आ निकले। जनक महाराज ने पूछा, हे याज्ञवल्क्य! कैसे पधारे? क्या पशु चाहियें, या 'अण्वन्तो' (अणु-पदार्थों का भी अन्त) अर्थात् सूक्ष्म-तत्त्वों का विवेचन कीजियेगा? याज्ञवल्क्य ने कहा, हे सम्राट् दोनों ही बात होगी ॥१॥

न जायते—कभी उत्पन्न नहीं होता है (अजन्मा है), क. नु—कौन तो, एनम्—इसको, जनयेत्—उत्पन्न कर सकता है, पुन:—फिर, विज्ञानम्—ज्ञानस्वरूप चेतन (चित्), आनन्दम्—सर्वदा आनन्दमय, ब्रह्म—सब से बड़ा, रातिः—धन-दान, दातु.—दाता का, परायणम्—परम-धाम, आश्रय, तिष्ठमानस्य—स्थिर रहनेवाले, शान्त चित्तवाले, तद्विदः—उसके ज्ञाता (ब्रह्मज्ञ, आत्मज्ञ) का भी (परम-आश्रय), इति—यह (कहा-उपदेश दिया) ॥२८॥

ॐ जनको ह वैदेह आसांचक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज।
तं॑ होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छ-
न्नण्वन्तानिति। उभयमेव सम्राडिति होवाच ॥१॥

ओम्—सर्वरक्षक, एकमात्र ध्येय, आदि गुरु ब्रह्म का ध्यान कर, जनकः ह वैदेहः—कभी विदेह-नरेश जनक, आसांचक्रे—बैठे हुए थे, अथ ह—और तब, याज्ञवल्क्यः—याज्ञवल्क्य, आवव्राज—घूमते-फिरते आ गये, तम् ह उवाच—उसको (जनक ने) कहा, याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य!, किमर्थम्—किस लिए, क्यों, अचारी.—आगमन किया है, पशून्—गौ आदि पशुओं (धन) को, इच्छन्—चाहते हुए, (या) अण्वन्तान् (अणु+अन्तान्)—परम सूक्ष्म तत्त्वों के अन्त (रहस्य) को (जानने की इच्छा से), इति—यह (कहा), उभयम् एव—दोनों को ही, सम्राट्—हे महाराज!, इति ह उवाच—यह कहकर (याज्ञवल्क्य ने) कहा ॥१॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, राजन्! पहले यह सुनाइये कि अब तक आप के गुरुओं ने आप को क्या सिखाया है? राजा ने कहा, जित्वा शैलिनि ने तो मुझे यह उपदेश दिया है कि 'वाणी ही ब्रह्म' है! याज्ञवल्क्य ने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरु से शिक्षा पाया हुआ उपदेश दे, वैसे ही शैलिनि ने आपको वाणी को ब्रह्म होने का उपदेश दिया है। ठीक भी है, जो बोल नहीं सकता उसका संसार में क्या बन सकता है? परन्तु क्या 'वाक्-ब्रह्म' के 'आयतन', तथा 'प्रतिष्ठा' के विषय में उसने आपको कुछ बतलाया? राजा ने कहा, इनके विषय में तो कुछ नहीं बतलाया! याज्ञवल्क्य ने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्म का ही उपदेश दिया, ब्रह्म के चतुर्थांश का ही वर्णन किया। इस वर्णन के अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना' का वर्णन तो रह ही गया! राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य! फिर आप ही सर्वांश ब्रह्म का उपदेश दीजिये। याज्ञवल्क्य ने कहा, पिंड में 'वाणी' मानो ब्रह्म का 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है; ब्रह्मांड में 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाश में मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है,

---

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य। वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत। का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य, वागेव सम्राडिति होवाच। वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते। हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥२॥

यत्—जो, ते—तुझे, कश्चिद्—किसी ने, अब्रवीत्—कहा, बताया, तद्—उसको, शृणवाम—हम सुनें, इति—यह (कहा), अब्रवीत्—कहा

उसमें फैल रहा है, उसमें ठिकाना किये बैठा है। पिंड की 'वाणी' में भी वही सिमिटा बैठा है, ब्रह्मांड के 'आकाश' में भी वही फैला बैठा है। वह ब्रह्म 'प्रज्ञा'-रूप है---इसी रूप मे उसकी उपासना करनी चाहिए। 'प्रज्ञा'-रूप ब्रह्म जो 'आकाश' की तरह सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'वाणी' में आकर बैठा हुआ है? राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य! 'प्रज्ञता' से आपका क्या अभिप्राय है? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'प्रज्ञता'---प्रकर्ष ज्ञान---वाणी से ही तो प्रकट होती है, इसलिये वाणी ही प्रज्ञता है। हे सम्राट्! वाणी से ही बन्धु पहिचाना जाता है, वाणी से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, भोजन-दान, जल-

---

(बताया) था, **जित्वा**—जित्वा (नामी) ने, **शैलिनिः**—शिलिन के पुत्र, **वाग् वै**—वाणी ही, **ब्रह्म**—ब्रह्म (सब से बढकर, श्रेष्ठ) है, **इति**—यह, **यथा**—जैसे, **मातृमान्**—प्रशस्त (शिक्षित) माता वाला, **पितृमान्**—प्रशस्त पिता वाला, **आचार्यवान्**—योग्य आचार्य वाला, **ब्रूयात्**—उपदेश करे, **तथा**—वैसे, **तद्**—वह (बात), **शैलिनिः अब्रवीत्**—शैलिनि ने बताई थी, **वाग् वै ब्रह्म इति**—कि वाणी ही ब्रह्म है, **अवदतः**—न बोल सकनेवाले का, गूगे का; **हि**—क्योकि, **किम्**—क्या (प्रयोजन), **स्यात् इति**—सिद्ध हो सकता है, **अब्रवीत् तु**—क्या (उसने) बताया था, **ते**—तुझे; **तस्य**—उस (वाग्-ब्रह्म) का, **आयतनम्**—शरीर, विस्तार, **प्रतिष्ठाम्**—और आश्रय (आधार), **न मे अब्रवीद् इति**—हे मुने! मुझे उसने नही बताया, **एकपाद् वै एतद्**—यह (निर्दिष्ट ब्रह्म) तो एकपाद् (चौथाई—एक अंश) ही है, **सम्राड् इति**—हे महाराज!, **स. वै न. ब्रूहि याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य वह तू हमे कह (बता—जो पूर्ण ब्रह्म है), **वाग् एव आयतनम्**—(जिसका) वाणी ही शरीर (विस्तार) है, **आकाशः प्रतिष्ठा**—आकाश (जिसका) स्थिति-स्थान है, **प्रज्ञा इति**—प्रकृष्ट ज्ञान, रहस्य-ज्ञान, सर्वज्ञता, इस रूप मे, **एनत्**—इस (ब्रह्म) की, **उपासीत**—उपासना करे, **का**—क्या, कौन, **प्रज्ञता**—सर्वज्ञता है, **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य!, **वाग् एव**—वाणी ही (प्रज्ञता—सर्वबोधक) है, **सम्राड्**—हे महाराज, **इति ह उवाच**—और यह भी कहा, **वाचा**—वाणी से, **वै**—ही तो, **सम्राड्**—हे महाराज!, **बन्धुः**—बन्धु (भाई-बन्द), **प्रज्ञायते**—जाना जाता है, **ऋग्वेदः व्याख्यानानि**—अर्थ पूर्ववत्, **इष्टम्**—प्रिय, किया यज्ञ, **हुतम्**—हवन, **आशितम्**—खिलाया भोजन, **पायितम्**—पिलाया जल (इष्टापूर्त), **अयम् च लोकः**—यह (पृथिवी) लोक या यह विद्यमान जन्म, **परः च लोकः**—

दान, इह-लोक, पर-लोक सब भूत जाने जाते हैं। हे सम्राट् ! वाणी ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्य को जानता हुआ वाणी द्वारा 'प्रज्ञा-ब्रह्म' की उपासना करता है उसका साथ वाणी नहीं छोड़ती, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं, वह स्वयं देव होकर देवों में जा विराजता है। यह सुनकर विदेहराज जनक ने कहा, मैं आपके इस उपदेश के लिये एक सहस्र गायें और हाथी के समान बैल भेंट करता हूं। याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, मेरे पिता का यह आदेश है कि जब तक शिष्य को पूरा उपदेश न दे लेना तब तक उससे कोई भेंट न लेना ॥२॥

याज्ञवल्क्य ने फिर कहा, राजन् ! किसी अन्य गुरु ने आपको कुछ सिखाया हो, तो वह कहिये। राजा ने कहा, उदङ्क शौल्बायन ने

दूसरा (आदित्य) लोक या पर-जन्म, **सर्वाणि च भूतानि**—और सारे भूत (जड-भूत और चर-प्राणी), **वाचा एव**—वाणी ही से, **सम्राट्**—हे महाराज !, **प्रज्ञायन्ते**—जाने जाते हैं, **वाग् वै**—(प्रज्ञा रूप) वाणी ही, **सम्राड्**—हे महा-राज, **परमम्**—परम, **ब्रह्म**—ब्रह्म (सब से बढ कर) है, **न**—नही, **एनम्**—इस (उपासक) को, **वाग्**—वाणी (प्रज्ञता), **जहाति**—छोडती है, **सर्वाणि**—सारे, **एनम्**—इस (उपासक) को, **भूतानि**—प्राणी व पच-भूत, **अभिक्षरन्ति**—सब ओर से सीचते—पालन करते हैं, **देवः**—देव (विद्वान्, दिव्यगुणयुक्त), **भूत्वा**—होकर, **देवान्**—देवो को, **अपि+एति**—प्राप्त होता है (उनमे मिल जाता है), **यः**—जो, **एवम्**—इस प्रकार, **विद्वान्**—(वाक्प्रज्ञता) को जानने-वाला, **एतद्**—इस (ब्रह्म) की, **उपास्ते**—उपासना करता है, **हस्ति-ऋषभम्**—हस्ति-तुल्य बैल (विजार) वाले, **सहस्रम्**—हजार गौवे, **ददामि**—देता (भेट करता) हू, **इति ह उवाच जनकः वैदेहः**—यह विदेहराज जनक ने कहा, **स ह उवाच याज्ञवल्क्य**.—(इस पर) उस याज्ञवल्क्य ने कहा कि, **पिता**—पिता, **मे**—मेरे, **अमन्यत**—मानते थे (कहा करते थे) कि, **न**—नही, **अननुशिष्य** (न+अनुशिष्य)—अनुशासन (पूरा उपदेश) न करके, **हरेत**—(धन-दक्षिणा) लेवे (पूरा उपदेश देकर ही भेट लेनी चाहिये), **इति**—यह (मानते थे) ॥२॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः शौल्बायनः प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स

मुझे यह उपदेश दिया है कि 'प्राण ही ब्रह्म' है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरु से शिक्षा पाया हुआ उपदेश दे, वैसे ही शौल्वायन ने आपको प्राण के ब्रह्म होने का उपदेश दिया है। ठीक भी है, जो प्राण—सांस—नहीं लेता उसका संसार में क्या बन सकता है? परन्तु क्या 'प्राण-ब्रह्म' के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा' के विषय में उसने आपको कुछ बतलाया? राजा ने कहा, इनके विषय में तो कुछ नहीं बतलाया। याज्ञवल्क्य ने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्म का ही उपदेश दिया, ब्रह्म के चतुर्थांश का ही वर्णन किया। इस वर्णन के अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना' का वर्णन तो रह ही गया। राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य! फिर आप ही सर्वांश ब्रह्म का उपदेश दीजिये। याज्ञवल्क्य ने कहा, पिंड में 'प्राण' मानो ब्रह्म का 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है, ब्रह्मांड में 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाश में मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, उसमें फैल रहा है, उसमें ठिकाना किये बैठा है। पिंड के 'प्राण' में भी वही

वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रिय-मित्येनदुपासीत का प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट् कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशंकं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट् कामाय प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वा-ण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वाने-तदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥३॥

यद् एव—जो ही, ते—तुझे, कश्चिद् अब्रवीत्—किसी ने उपदेश दिया है, तत् शृणवाम इति—उसको हम भी सुनें, अब्रवीत्—उपदेश किया था, मे—मुझे, उदङ्कः—उदङ्क (नामी), शौल्बायनः—शुल्ब के पुत्र, प्राणः वै ब्रह्म इति—प्राण (जीवन-श्वास-प्रश्वास) ही ब्रह्म (बड़ा, सर्वश्रेष्ठ) है; यथा तथा—अर्थ पूर्ववत्, तत्—वह (उपदेश), शौल्वायनः अब्रवीत्—शौल्वायन ने कहा था (कि), प्राण वै ब्रह्म इति—प्राण ही ब्रह्म है, अप्राणतः—सांस न लेते हुए, जीवन से शून्य का, हि याज्ञवल्क्य—अर्थ पूर्ववत्, प्राणः एव आयतनम्—प्राण (जीवन) ही जिसका शरीर (क्षेत्र) है, आकाशः प्रतिष्ठा—

सिमिटा बैठा है, ब्रह्मांड के 'आकाश' मे भी वही फैला बैठा है। वह ब्रह्म 'प्रिय'-रूप है--इसी रूप मे उसकी उपासना करनी चाहिये। 'प्रिय'-रूप ब्रह्म जो 'आकाश' की तरह सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'प्राण' में आकर बैठा हुआ है। राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! 'प्रियता' से

याज्ञवल्क्य जनक को ब्रह्म का उपदेश दे रहे है

आकाश जिसकी प्रतिष्ठा (स्थिति-स्थान) है, **प्रियम् इति**—यह प्रिय (अभीष्ट, प्रेय) है इस रूप मे, **एनत् उपासीत**—इस ब्रह्म की उपासना करे, **का**—कौन-सी, किस स्वरूप की, **प्रियता**—प्रिय रूप है (प्रियता किसे कहते हैं), **याज्ञ-वल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य, **प्राण एव**—प्राण ही (परम प्रिय) है, **सम्राड्**—

आपका क्या अभिप्राय है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, प्रियता प्राण से ही तो प्रकट होती है—तभी तो कहते हैं 'प्राण-प्रिय'—इसलिये प्राण ही प्रियता है। प्राण के प्रेम के कारण ही याज्ञिक तो जो व्यक्ति यज्ञ के योग्य नहीं उसे भी यज्ञ करा देते हैं, जो दान लेने योग्य नहीं उससे भी दान ले लेते हैं। प्राण के प्रेम के कारण ही जहां भी जाते हैं वहीं यह भय भी बना ही रहता है कि कहीं कोई मार न डाले। हे सम्राट् ! प्राण ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्य को जानता हुआ प्राण द्वारा 'प्रिय-ब्रह्म' की उपासना करता है उसका साथ प्राण नहीं छोड़ता, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं, वह स्वयं देव होकर देवों में जा विराजता है। यह सुनकर विदेह-राज जनक ने कहा, मैं आपके इस उपदेश के लिये एक सहस्र गायें और हाथी के समान बैल भेंट करता हूं। याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, मेरे पिता का यह आदेश है कि जबतक शिष्य को पूरा उपदेश न दे लेना तबतक उससे कोई भेंट न लेना ॥३॥

याज्ञवल्क्य ने फिर कहा, राजन् ! किसी अन्य गुरु ने आप को कुछ सिखाया हो, तो वह कहिये। राजा ने कहा, वर्कु वार्ष्ण ने मुझे यह

हे महाराज, इति ह उवाच—यह (याज्ञवल्क्य ने) कहा, **प्राणस्य वै सम्राट्**—हे महाराज ! प्राण की ही; **कामाय**—कामना के लिए, स्वार्थ के लिए, **अयाज्यम्**—यज्ञ के अनधिकारी को (का), **याजयति**—यज्ञ करवाता है, **अप्रतिगृह्यस्य**—जिनका दान नही लेना चाहिये उसका भी, **प्रतिगृह्णाति**—दान स्वीकार करता है, **अपि**—चाहे, भी, **तत्र**—वहा, उसमें, **वध+आशंकम्**—वध (मृत्यु) की आशंका (सम्भावना), **भवति**—होती है (तो भी), **याम् दिशम्**—जिस किसी दिशा की ओर; **एति**—जाता है (उस ओर), **प्राणस्य एव सम्राट् कामाय**—हे सम्राट् ! प्राण की कामना (हित) के लिए ही (जाता है), **प्राणो वै समाट् परमम् ब्रह्म**—हे सम्राट् ! प्राण ही परम ब्रह्म (सर्वश्रेष्ठ) है, **न एनम् प्राणः जहाति**—नही इस (उपासक) को प्राण कभी छोडता है, **सर्वाणि. हरेत इति**—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे वर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मे-त्यपश्यतो हि किँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवी-दित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवायत-

उपदेश दिया है कि 'चक्षु ही ब्रह्म है'। याज्ञवल्क्य ने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरु से शिक्षा पाया हुआ उपदेश दे वैसे ही वार्ष्ण ने आप को चक्षु के ब्रह्म होने का उपदेश दिया है। ठीक भी है, जो देख नही सकता उसका संसार में क्या बन सकता है ? परन्तु क्या 'चक्षु-ब्रह्म' के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा' के विषय में उसने आप को कुछ बतलाया। राजा ने कहा, इनके विषय में तो कुछ नही बतलाया। याज्ञवल्क्य ने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्म का ही उपदेश दिया, ब्रह्म के चतुर्थांश का ही वर्णन किया। इस वर्णन के अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना' का वर्णन तो रह ही गया। राजा ने कहा, याज्ञवल्क्य ! फिर आप ही ब्रह्म के सर्वांश का उपदेश दीजिये। याज्ञवल्क्य ने कहा, पिंड में 'चक्षु' मानो ब्रह्म का 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है; ब्रह्मांड में 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाश में मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, उसमें फैल रहा है, वहां ठिकाना किये बैठा है। पिंड की 'चक्षु' मे भी वही सिमिटा बैठा है, ब्रह्मांड के 'आकाश' में भी वही फैला बैठा है। वह ब्रह्म 'सत्य'-रूप है---इसी रूप मे उसकी उपासना करनी चाहिये। 'सत्य'-रूप ब्रह्म जो 'आकाश' की तरह सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'चक्षु' में आकर बैठा हुआ है। राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! 'सत्यता' से आप का क्या अभिप्राय है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, सत्यता चक्षु से ही प्रकट होती है। जब देखने वाले से पूछा जाता है, क्या तूने देखा, और वह

नमाकाश. प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति होवाच चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्य भवति चक्षुर्वै सम्राट् परम ब्रह्म नैन चक्षुर्जहाति सर्वाण्येन भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एव विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्र ददामीति होवाच जनको वैदेह स होवाच याज्ञवल्क्य. पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥४॥

यद् मे---अर्थ पूर्ववत्, बर्कु.---वर्कु (नामी), वार्ष्ण---वृष्ण के पुत्र, चक्षु वै ब्रह्म इति---नेत्र ही ब्रह्म (सर्वश्रेष्ठ) है, यथा तद्---पूर्ववत्, वार्ष्ण.---वार्ष्ण ने, अब्रवीत्---कहा (उपदेश दिया कि), चक्षु वै ब्रह्म इति---नेत्र ही

कहता है, हां, मैंने देखा, तब आंख से ही देख रहा होता है, और जो आंख से देखता है, वही सत्य होता है। हे सम्राट् ! चक्षु ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्य को जानता हुआ चक्षु द्वारा 'सत्य-रूप' की उपासना करता है उसका साथ चक्षु नहीं छोड़ते, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं, वह स्वयं देव होकर देवों में जा विराजता है। यह सुनकर विदेह-राज जनक ने कहा, मैं आप के इस उपदेश के लिये एक सहस्र गायें और हाथी के समान बैल भेंट करता हूं। याज्ञ-वल्क्य ने कहा, नहीं, मेरे पिता का यह उपदेश है कि जब तक शिष्य को पूरा उपदेश न दे लेना तब तक उससे कोई भेंट न लेना ॥४॥

याज्ञवल्क्य ने फिर कहा, राजन् ! किसी अन्य गुरु ने आपको कुछ सिखाया हो, तो वह कहिये। राजा ने कहा, गर्दभीविपीत भार-द्वाज ने मुझे यह उपदेश दिया है कि 'श्रोत्र ही ब्रह्म' है। याज्ञवल्क्य ने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरु से शिक्षा पाया हुआ

ब्रह्म है, **अपश्यतः**—न देखनेवाले का, **हि याज्ञवल्क्य**—अर्थ पूर्ववत्, **चक्षुः एव आयतनम्**—जिसका नेत्र ही शरीर है, **आकाश. प्रतिष्ठा**—आकाश जिसका आधार है (जो निराकार आकाश मे व्याप्त है), **सत्यम् इति**—'सत्य' (यथा-र्थता-सर्वथा रहनेवाला) इस रूप मे, **एतद्**—इस (ब्रह्म) की, **उपासीत**—उपासना करे, **का**—क्या, कौन-सा, **सत्यता**—सत्य-रूप है; **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य !, **चक्षुः एव सम्राड्**—नेत्र ही तो (सत्यता) है हे सम्राट् !, **इति ह उवाच**—यह भी कहा कि, **चक्षुषा वै**—नेत्र से ही, **सम्राट्**—हे महाराज !, **पश्यन्तम्**—देखनेवाले को, **आहु.**—कहते हैं (पूछते हैं), **अद्राक्षी. इति**—क्या तूने स्वय देखा है (जाना है), **स.**—वह (देखनेवाला), **आह**—(जब) कहता है, **अद्राक्षम् इति**—मैंने (स्वय) देखा है, **तत्**—वह (बात), **सत्यम् भवति**—सच (यथार्थ) होती (समझी जाती) है, **चक्षुः वै सम्राट् परमम् ब्रह्म**—हे महाराज (सत्य निर्देशक) नेत्र ही परम ब्रह्म है, **न एनम् चक्षु. जहाति**—नहीं इस (उपासक) को नेत्र (सत्य-ज्ञान) छोडता है, **सर्वाणि हरेत इति**—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाज. श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद् भार-द्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यशृण्वतो हि किँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्या-यतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि

उपदेश दे वैसे ही भारद्वाज ने आप को श्रोत्र के ब्रह्म होने का उपदेश दिया है। ठीक भी है, जो सुन नही सकता उसका ससार में क्या बन सकता है, परन्तु क्या 'श्रोत्र-ब्रह्म' के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा' के विषय में उसने आप को कुछ बतलाया? राजा ने कहा, इनके विषय में तो कुछ नहीं बतलाया। याज्ञवल्क्य ने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्म का ही उपदेश दिया, ब्रह्म के चतुर्थांश का ही वर्णन किया। इस वर्णन के अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना' का वर्णन तो रह ही गया। राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य! फिर आप ही ब्रह्म के सर्वांश का उपदेश दीजिये। याज्ञवल्क्य ने कहा, पिड में 'श्रोत्र' मानो ब्रह्म का 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है; ब्रह्मांड मे 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाश मे मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, फैल रहा है, वहां ठिकाना किये बैठा है। पिड के 'श्रोत्र' में भी वही सिमिटा बैठा है, ब्रह्मांड के 'आकाश' में भी वही फैला बैठा है। वह ब्रह्म 'अनन्त'-रूप है—इसी रूप में उसकी उपासना करनी चाहिये 'अनन्त'-रूप ब्रह्म, जो 'आकाश' मे सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'श्रोत्र' मे आकर बैठा हुआ है। राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य! 'अनन्तता' से आप का क्या अभिप्राय है? याज्ञवल्क्य ने कहा, अनन्तता दिशाओ से प्रकट होती है। तभी तो जिस-किसी दिशा की तरफ हम चल देते है उसका अन्त ही नहीं आने में आता, दिशाएं अनन्त है। हे सम्राट्! ब्रह्मांड में जिसे दिशा कहते है पिड में उसी को श्रोत्र कहते है, इसलिये हे सम्राट्!

याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्त इत्येनदुपासीत काऽनन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि या का च दिश गच्छति नैवास्या अन्त गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट् श्रोत्रं श्रोत्र वै सम्राट् परम ब्रह्म नैनं श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्य. पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥५॥

यद् मे—अर्थ पूर्ववत्, गर्दभीविपीत—गधी के दूध पर पले, भारद्वाज.—भरद्वाज-गोत्री ने, श्रोत्रम वै ब्रह्म इति—कर्णेन्द्रिय ही ब्रह्म है, यथा

श्रोत्र ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्य को जानता हुआ श्रोत्र अथवा दिशाओं द्वारा 'अनन्त-ब्रह्म' की उपासना करता है उसका साथ श्रोत्र नहीं छोड़ते, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं, वह स्वयं देव होकर देवों में जा विराजता है। यह सुनकर विदेह-राज जनक ने कहा, मैं आप के इस उपदेश के लिये एक सहस्र गायें और हाथी के समान बैल भेंट करता हूं। याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, मेरे पिता का यह आदेश है कि जब तक शिष्य को पूरा उपदेश न दे लेना उससे कोई भेंट न लेना ॥५॥

याज्ञवल्क्य ने फिर कहा, राजन्! किसी अन्य गुरु ने आप को कुछ सिखाया हो, तो वह कहिये। राजा ने कहा, सत्यकाम जाबाल ने मुझे यह उपदेश दिया है कि 'मन ही ब्रह्म है'! याज्ञवल्क्य ने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरु से शिक्षा पाया हुआ उपदेश दे वैसे ही जाबाल ने आप को मन के ब्रह्म होने का उपदेश

तद्—पूर्ववत्, भारद्वाजः अब्रवीत्—भारद्वाज ने कहा (बताया) था कि, श्रोत्रम् वै ब्रह्म इति—श्रोत्र ही ब्रह्म (बढकर) है, अशृण्वतः—न सुन सकनेवाले (बहरे) का (बिना सुने), हि याज्ञवल्क्य—अर्थ पूर्ववत्, श्रोत्रम् एव आयतनम्—कान जिसका शरीर है, आकाशः प्रतिष्ठा—आकाश प्रतिष्ठा है, अनन्तः इति—निरन्त, अन्तशून्य रूप मे, एतत् उपासीत—इस ब्रह्म की उपासना करे, का अनन्तता—अनन्तता क्या है, याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य!, दिशः एव—दिशाए ही (अनन्त) हैं, सम्राड्—हे महाराज!, इति ह उवाच—और कहा, तस्माद् वै—अतएव, सम्राट्—हे महाराज, अपि—चाहे, याम् काम् च—जिस किसी भी, दिशम्—दिशा को, गच्छति (मनुष्य) जाता है, न एव —नहीं ही, अस्या.—इस (दिशा) के, अन्तम् गच्छति—अन्त को पाता है, अनन्ता. हि दिश.—दिशाए अनन्त हैं, दिश. वै सम्राट् श्रोत्रम्—हे राजन् दिशाए ही श्रोत्र हैं, श्रोत्रम् वै सम्राट् परमम् ब्रह्म—हे राजन् श्रोत्र ही परम ब्रह्म है, न एनम् श्रोत्रम् जहाति—नहीं इस (उपासक) को श्रोत्र छोडता है (उसकी सदा श्रवण-शक्ति बनी रहती है), सर्वाणि हरेत इति—अर्थ पूर्ववत् ॥५॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन

दिया है। ठीक भी है, जिस का मन काम नहीं करता उसका संसार में क्या बन सकता है ? परन्तु क्या 'मन-ब्रह्म' के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा' के विषय में उसने आप को कुछ बतलाया ? राजा ने कहा, इनके विषय में तो कुछ नही बतलाया। याज्ञवल्क्य ने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्म का ही उपदेश दिया, ब्रह्म के चतुर्थांश का ही वर्णन किया। इस वर्णन के अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना' का वर्णन तो रह ही गया। राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! फिर आप ही ब्रह्म के सर्वांश का उपदेश दीजिये। याज्ञवल्क्य ने कहा, पिंड में 'मन' मानो ब्रह्म का 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है; ब्रह्मांड में 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाश में मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, वहां ठिकाना किये बैठा है। पिंड के 'मन' में भी वही सिमिटा बैठा है, ब्रह्मांड के 'आकाश' में भी वही फैला बैठा है। वह ब्रह्म 'आनन्द'-रूप है--इसी रूप में उसकी उपासना करनी चाहिये। 'आनन्द'-रूप ब्रह्म जो 'आकाश' में सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'मन' में आकर बैठा हुआ है। राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य ! 'आनन्दता' से आप का क्या अभिप्राय है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, आनन्दता मन से ही प्रकट

एवायतनमाकाश. प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत का आनन्दता याज्ञवल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूप. पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्राट् परम ब्रह्म नैन मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एव विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभँ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥६॥

यद् मे—अर्थ पूर्ववत्, सत्यकाम—सत्यकाम ने, जाबालः—जबाला के पुत्र, मन·—मन, वै—ही, ब्रह्म इति—ब्रह्म है, यथा तत्—पूर्ववत्, जाबाल. अब्रवीत्—जाबाल ने कहा (बताया) था कि, मन. वै ब्रह्म इति—मन ही ब्रह्म है, अमनसः—मन (मनन-चिन्तन) से शून्य (पुरुष) का, हि याज्ञवाल्क्य !—अर्थ पूर्ववत्, मन. एव आयतनम्—मन जिसका शरीर है, आकाश प्रतिष्ठा—आकाश आश्रय (रहने का स्थान) है, आनन्द इति—'आनन्दमय' इस रूप मे, एनत् उपासीत—इस (ब्रह्म) की उपासना करे, का आनन्दता याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य 'आनन्दता' का क्या स्वरूप है, मन. एव सम्राट्—

होती है। हे सम्राट् ! मन ही से स्त्री-पुरुष का आकर्षण होता है, उससे अपने अनुकूल पुत्र होता है, यही आनन्द है। हे सम्राट् ! मन ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्य को जानता हुआ मन द्वारा 'आनन्द-ब्रह्म' की उपासना करता है उसका साथ मन नहीं छोड़ता, सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं, वह स्वयं देव होकर देवों में जा विराजता है। यह सुनकर विदेह-राज जनक ने कहा, मैं आप के इस उपदेश के लिये एक सहस्र गायें और हाथी के समान बैल भेंट करता हूं। याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, मेरे पिता का यह आदेश है कि जब तक शिष्य को पूरा उपदेश न दे लेना तब तक उससे कोई भेंट न लेना ॥६॥

याज्ञवल्क्य ने फिर कहा, किसी अन्य गुरु ने आप को कुछ सिखाया हो, तो वह कहिये। राजा ने कहा, विदग्ध शाकल्य ने मुझे

मन ही है राजन् !, इति ह उवाच—और यह कहा कि, मनसा वै—मन द्वारा ही, सम्राट्—हे राजन् !, स्त्रियम्—स्त्री (पत्नी) को, अभिहार्यते—अपनी ओर आकृष्ट करता (कामना-प्रार्थना करता) है, तस्याम्—उसमे, प्रतिरूपः—अपने स्वरूप का, अपने-जैसा, पुत्रः जायते—पुत्र उत्पन्न होता है, सः आनन्दः—वह ही तो आनन्द (आनन्दप्रद) होता है, मनः वै सम्राट् परमम् ब्रह्म—हे राजन् मन ही परम ब्रह्म है, न एनम्—नही इस (उपासक) को, मनः जहाति—मन छोडता है (उसकी मनन-शक्ति बनी रहती है), सर्वाणि हरेत इति—अर्थ पूर्ववत् ॥६॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठा न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानामायतनँ हृदयं वै सम्राट सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनँ हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभँ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥७॥

यह उपदेश दिया है कि 'हृदय ही ब्रह्म है'! याज्ञवल्क्य ने कहा, जैसे कोई अच्छे माता-पिता और गुरु से शिक्षा पाया हुआ उपदेश दे वैसे ही शाकल्य ने आप को हृदय के ब्रह्म होने का उपदेश दिया है। ठीक भी है, जो हृदय-शून्य हो उसका संसार में क्या बन सकता है? परन्तु क्या 'हृदय-ब्रह्म' के 'आयतन' तथा 'प्रतिष्ठा' के विषय में उसने आप को कुछ बतलाया? राजा ने कहा, इनके विषय में तो कुछ नही बतलाया। याज्ञवल्क्य ने कहा, तब तो उसने एक-पाद ब्रह्म का ही उपदेश दिया, ब्रह्म के चतुर्थाश का ही वर्णन किया। इस वर्णन के अतिरिक्त उसके 'आयतन', उसकी 'प्रतिष्ठा' और उसकी 'उपासना' का वर्णन तो रह ही गया। राजा ने कहा, फिर आप ही ब्रह्म के सर्वाश का उपदेश दीजिये। याज्ञवल्क्य ने कहा, पिड में 'हृदय' मानो ब्रह्म का 'आयतन' है, उसका शरीर है, उसका ठिकाना है, ब्रह्मांड में 'आकाश' मानो उसकी 'प्रतिष्ठा' है, इस विशाल आकाश में मानो वह प्रतिष्ठित हो रहा है, फैल रहा है, वहां ठिकाना किये बैठा है। पिड के 'हृदय' में भी वही सिमिटा बैठा है, ब्रह्मांड के 'आकाश' में भी वही फैला बैठा है। वह ब्रह्म 'स्थिति'-रूप है—इसी रूप में उसकी उपासना करनी चाहिये। 'स्थिति'-रूप ब्रह्म जो 'आकाश' में सर्वत्र प्रतिष्ठित है, 'हृदय' में आकर बैठा हुआ है। राजा ने कहा, हे याज्ञवल्क्य! 'स्थितता' से आप का क्या अभिप्राय है? याज्ञवल्क्य ने कहा, स्थितता हृदय से ही प्रकट होती है। हे सम्राट्! हृदय ही सब प्राणियो का आश्रय-स्थान है, हृदय में ही सब प्राणी प्रतिष्ठित होते है, आश्रय पाते है, इसलिये हे सम्राट्! हृदय ही परम-ब्रह्म है। जो इस रहस्य को

यद् मे—अर्थ पूर्ववत्, **विदग्धः शाकल्य**—विदग्धनामी शाकल्य ने, **हृदयम् वै ब्रह्म इति**—हृदय ही ब्रह्म है, **यथा तद्**—अर्थ पूर्ववत्, **शाकल्य अब्रवीत्**—शाकल्य ने कहा था कि, **हृदयम् ब्रह्म इति**—हृदय ब्रह्म है, **अहृदयस्य**—हृदय से शून्य (मनुष्य) का, **हि याज्ञवल्क्य**—अर्थ पूर्ववत्, **हृदयम् एव आयतनम्**—हृदय जिसका शरीर है, **आकाश प्रतिष्ठा**—आकाश जिसकी प्रतिष्ठा (स्थिति-स्थान) है, **स्थिति इति**—'स्थिति' (स्थिरता) इस रूप मे, **एनत् उपासीत**—इस ब्रह्म की उपासना करे, **का स्थितता याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य स्थितता (स्थिरता) क्या है, **हृदयम् एव सम्राट्**—हे राजन् हृदय

जानता हुआ हृदय द्वारा 'स्थित-ब्रह्म' की उपासना करता है उसका साथ हृदय नहीं छोड़ता, सब प्राणी उसकी रक्षा करते है, वह स्वयं देव होकर देवो में जा विराजता है। यह सुन कर विदेह-राज जनक ने कहा, मै आप के इस उपदेश के लिये एक सहस्र गायें और हाथी के समान बैल भेंट करता हूं। याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, मेरे पिता का यह आदेश है कि जब तक शिष्य को पूरा उपदेश न दे लेना तब तक उससे कोई भेंट न लेना ॥७॥

(इस उपदेश मे पिंड के 'वाणी-ब्रह्म', 'प्राण-ब्रह्म', 'चक्षु-ब्रह्म', 'श्रोत्र-ब्रह्म', 'मन-ब्रह्म', 'हृदय-ब्रह्म' से चलकर ब्रह्मांड के 'प्रज्ञा-ब्रह्म', 'प्रिय-ब्रह्म', 'सत्य-ब्रह्म', 'अनन्त-ब्रह्म', 'आनन्द-ब्रह्म', 'स्थित-ब्रह्म' तक पहुचने का वर्णन किया गया है। ससार मे प्रज्ञता, प्रियता, सत्यता, अनन्तता, आनन्दता, स्थितता ही ब्रह्म के आकाश की तरह सर्व-व्यापी रूप है, उन्हे पकडने की डोरिया है वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन तथा हृदय। वाणी अपनी छोटी-सी प्रज्ञा के सहारे अनन्त प्रज्ञा को ढूढ लेती है, प्राण अपनी छोटी-सी प्रियता के सहारे उस प्रेममय को पा लेता है, चक्षु छोटे-से सत्य का दर्शन करता-करता उस महान् सत्य तक पहुच जाता है, श्रोत्र छोटी-छोटी ध्वनि को सुनकर ही ब्रह्म के अनन्त नाद को सुन लेता है, मन ससार के विषयो मे थोडा-सा भी आनन्द लेकर आनन्द के उस असीम भंडार को स्मरण कर लेता है, हृदय चचलता को छोडकर एक क्षण के लिये भी जब स्थिर होता है तो वह स्थिरता महान्-स्थिर ब्रह्म की ही एक झलक होती है। संसार मे जहा भी प्रज्ञा है

ही स्थितता है, **इति ह उवाच**—और यह भी बताया कि, **हृदयम वै**—हृदय ही, **सम्राट्**—हे राजन्!, **सर्वेषाम्**—सारे, **भूतानाम्**—चर-अचर भूतो का; **आयतनम्**—शरीर (क्षेत्र) है, **हृदयम् वै सम्राट् सर्वेषाम् भूतानाम् प्रतिष्ठा**—हे राजन्! हृदय ही सब भूतो का आश्रय-स्थान है, **हृदये हि एव**—हृदय मे ही, **सम्राट्**—हे राजन्, **सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति**—सब भूत स्थिति पाते है, **हृदयम् वै सम्राट् परमम् ब्रह्म**—हे राजन् हृदय ही परम ब्रह्म है, **न एनम् हृदयम् जहाति**—नही इसको हृदय कभी छोडता है, **सर्वाणि हरेत इति**—अर्थ पूर्ववत् ॥७॥

उसी का रूप है, जहा भी अनन्तता है उसी का रूप है, जहा भी आनन्द है उसी का रूप है, जहा भी स्थिति है उसी का रूप है। ब्रह्म के इन रूपो को पकडने के लिये ही वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, हृदय उसी के दिये हुए सूक्ष्म साधन है।)

चतुर्थ अध्याय--(दूसरा ब्राह्मण)

(जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति का वर्णन)

विदेह-राज जनक यह सब उपदेश सुनकर सिंहासन से उतर आये, और बोले, हे याज्ञवल्क्य ! मै आप को नमस्कार करता हूं, आप मुझे शिष्य समझकर शिक्षा दीजिये। याज्ञवल्क्य ने कहा, हे सम्राट् ! जैसे कोई यात्री लम्बा रास्ता तय करने के लिये रथ या नाव का सहारा लेता है, वैसे जीवन-यात्रा को तय करने के लिये आपने उपनिषदों के ज्ञान का सहारा लिया है। आपको लोग पूजा की दृष्टि से देखते है, आपके पास धन है, आपने वेद पढ़े है, उप-

---

ॐ जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्माऽस्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद्भगवन्वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति ॥१॥

ओम्—ईश्वर का नाम-स्मरण कर, **जनकः ह वैदेह**—(तब) विदेह-राज जनक ने, **कूर्चात्**—राज-सिंहासन से (उतर कर), **उप+अवसर्पन्**—अधिक पास मे सरकते हुए, **उवाच**—कहा, **नम. ते अस्तु याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य तुझे नमस्कार हो, **अनु मा शाधि (मा अनुशाधि) इति**—मुझको अनुशासन (अधिक शिक्षा) कीजिये, **स. ह उवाच**—उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा, **यथा वै**—जैसे, **सम्राट्**—हे महाराज !, **महान्तम्**—वडे, लम्बे, **अध्वानम्**—मार्ग (की यात्रा) को, **एष्यन्**—जानेवाला, **रथम् वा**—या तो (स्थल मे) रथ को, **नावम् वा**—या (जल मे) नाव को, **समाददीत**—ले लेता है (प्रयोग मे लाता है), **एवम् एव**—इस प्रकार ही, **एताभिः**—इन, **उपनिषद्भि**—ब्रह्मबोधक शास्त्रो से या रहस्य-बोधक चर्चाओ से, **समाहित+आत्मा**—एकाग्र अन्त करणवाला, शान्त-चित्त, **असि**—तू है, **एवम्**—तथा, **वृन्दारकः**—जन-

निषद् का ज्ञान आप को सुनाया जा चुका है। कहिये, आप जानते हैं, यहां से छूट कर आप कहां जायेंगे ? राजा ने कहा, भगवन् ! मैं नहीं जानता, मैं कहां जाऊंगा। याज्ञवल्क्य ने कहा, मैं आप को बतलाऊंगा, आप कहां जाओगे। राजा ने कहा, भगवन् ! कहिये ॥१॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'आत्म-तत्त्व' अपने को दायें और बायें नेत्रों द्वारा प्रकट करता है। कौन यह पुरुष है, जो शरीर के भीतर बैठा हुआ मानो दायी आंख के झरोखे से बाहर झांक रहा है ? इसका गुप्त-नाम 'इन्ध' है, क्योंकि यह दीप्तिमान् है, प्रकाशमान है। 'इन्ध' को ही 'इन्द्र' कहा जाता है। उस झांकने वाले का प्रत्यक्ष-नाम 'इन्ध' है, परोक्ष नाम 'इन्द्र' है—देव-गण परोक्ष नाम से ही पुकारा जाना पसन्द करते हैं, प्रत्यक्ष-नामों से पुकारे जाने को बुरा मनाते हैं ॥२॥

पूज्य, आढ्य—धन-धान्य से सम्पन्न, सन्—होते हुए, अधीतवेदः—वेदाध्ययन-कर्ता, वेद का ज्ञाता, उक्त+उपनिषत्क—उपनिषद् का व्याख्याता या जिसे उपनिषदों का उपदेश मिल चुका है, इतः—इस जगत् (या जन्म) से, विमुच्यमान—मुक्त हुआ, क्व—कहां, गमिष्यसि—जायगा, इति—यह (प्रश्न किया), न अहम्—नहीं मैं, तद्—उस (स्थान) को, भगवन्—हे माननीय, वेद—जानता हूं, यत्र—जहां, जिस (स्थान) में, गमिष्यामि—जाऊंगा, इति—यह (कहा), अथ वै—तो अब, ते—तुझे, अहम्—मैं, तद्—उस (स्थान) को, वक्ष्यामि—कहूंगा, बताऊंगा, यत्र गमिष्यसि इति—जहां तू जायगा, ब्रवीतु—बताइये, भगवान्—आदरणीय आप, इति—ऐसे (प्रार्थना) की ॥१॥

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्धꣳ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥२॥

इन्धः—इन्ध (दीप्तिमान्, प्रकाशक), ह वै—निश्चय से, नाम—नाम-वाला, एषः—यह है, यः अयम्—जो यह, दक्षिणे—दाहिनी, अक्षन्—आंख में, पुरुषः—पुरुष (प्रतिबिम्ब दिखाई देता है), तम् वै एतम्—उस ही इसको, इन्धम् सन्तम्—इन्ध (प्रकाशक) होते हुए को, इन्द्र इति—'इन्द्र' इस नाम से, आचक्षते—कहते—पुकारते हैं, परोक्षेण—परोक्ष (अस्पष्ट) नाम से, एव—ही, परोक्ष-प्रिया—परोक्ष नाम पसन्द करनेवाले या परोक्ष (आत्म-अनात्म विषयक चर्चा) पसन्द करनेवाले, इव हि—मानो, देवाः—देव-गण (विद्वान्) होते हैं, प्रत्यक्ष-द्विषः—प्रत्यक्ष (स्पष्ट नाम) या प्रत्यक्ष (सांसारिक-चर्चा) से द्वेष करनेवाले (पसन्द न करनेवाले) होते हैं ॥२॥

'आत्म-तत्त्व' बायी आंख के झरोखे से भी बाहर झांक रहा है। बायीं आंख में से पुरुष-जैसी झांकने वाली यह मानो इन्द्र की स्त्री है। इसका प्रत्यक्ष-नाम 'विराट्' है, परोक्ष-नाम 'इन्द्राणी' है—शरीर में स्त्री का स्थान बायां भाग ही तो है! शरीर की 'जाग्रद्-अवस्था' मे 'आत्म-तत्त्व' मानो 'इन्ध' और 'विराट्', 'इन्द्र' और 'इन्द्राणी' या 'पुरुष' और 'स्त्री' के रूप में मानों आंखों में आ बैठता है, बाहर झांकता-सा है, और इसी मे आत्म-तत्त्व के प्रत्यक्ष दर्शन हो जाते हैं। 'इन्ध' और 'विराट्' दोनों का अर्थ 'दीप्ति' है, 'प्रकाश' है—'प्रकाश' अर्थात् 'ज्ञान' (Consciousness) ही 'आत्म-तत्त्व' का प्रत्यक्ष रूप है। इन स्त्री-पुरुषो का, इन्द्र-इन्द्राणी का, आत्मा की पुरुष-शक्ति तथा स्त्री-शक्ति का 'संस्ताव' (Rendevous), अर्थात् मिलने की जगह है हृदय का अन्तराकाश—जहां आकर आत्म-तत्त्व की बिखरी बहिर्मुख वृत्तियां एक हो जाती है, मानो यह भटके हुए प्रेमियो का मिलन-स्थान हो। शरीर की 'स्वप्न-अवस्था' में 'आत्म-तत्त्व' हृदय के भीतर के आकाश में आ विराजता है, मानो सब काम समेट कर कोई अपने विश्राम के स्थान पर जा पहुंचे। शरीर की जाग्रद्-अवस्था में तो यह खाता-पीता था, परन्तु शरीर की स्वप्नावस्था मे हृदय का लोहित-पिंड ही इसका भोजन रह जाता है—शरीर में हृदय द्वारा रुधिर का संचालन ही इसे जीवित रखता है। शरीर की जाग्रद्-अवस्था मे तो इन्द्र और इन्द्राणी आंखो के मार्ग से संसार की सैर

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषास्य पत्नी विराट् तयोरेष संस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरण यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः सचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मन ॥३॥

अथ—और, एतद्—यह, वामे—बाईं, अक्षणि—आख मे, पुरुषरूपम्—पुरुष (के समान प्रतिबिम्ब) का रूप है, एषा—यह, अस्य—इस (दाहिनी आखवाले पुरुष) की, पत्नी—पत्नी है, विराट्—विराट् (विशेषतया चमक एव दीप्ति वाली) नामवाली, तयो.—उन दोनो का, एष—यह, सस्तावः

करते फिरते थे, अब शरीर के सो जाने पर ये हृदयाकाश के संसार की सैर करते हैं। हृदय के भीतर जो नाड़ियों का जाल बिछा है उसमें ही ढके हुए, मानो ये उसमें कैद रहते हैं। हृदय से ऊपर को जो नाड़ी (Aorta) निकलती है, केवल उस छोटे-से मार्ग में ये दोनों घूमा करते हैं। केश के अगर सहस्र भाग कर दिये जांय, तो उन जैसी बारीक 'हिता' नाम की नाड़ियां हृदय में फैली हुई हैं, उनमें से स्रवण कर रहे रस के साथ 'आत्म-तत्त्व' स्वप्नावस्था में आस्रवण करता है, सैर करता है। उस अवस्था में इसे 'हिता'-नामक नाड़ियों से शुद्ध आहार मिलता है, इसलिये जाग्रद्-अवस्था की अपेक्षा स्वप्न-अवस्था का आहार अधिक शुद्ध है (कठ ६-१६, प्रश्न ३-६, ७, छान्दोग्य ८-६, बृहदा० २-१-१९, ४-३-२०, ४-४-२) ॥३॥

शरीर की जब 'जाग्रद्-अवस्था' होती है, तब आत्म-तत्त्व का 'जाग्रत-स्थान' होता है, और वह स्थान है 'आंख'; शरीर की जब

—मिलन-स्थान है, **यः एषः**—जो यह, **अन्तः हृदये**—हृदय के अन्दर, **आकाशः**—आकाश है, **अथ**—और, **एनयोः**—इन दोनो का, **एतद् अन्नम्**—यह अन्न है, **य. एषः**—जो यह, **अन्तर्हृदये**—हृदय मे, **लोहितपिण्डः**—लाल-सा पिण्ड (अवयव, मास-खण्ड) है, **अथ**—और, **एनयोः**—इन दोनो का, **एतत्**—यह, **आवरणम्**—ओढना (चादर) है, **यद् एतद् अन्तः हृदये**—जो यह हृदय के अन्दर, **जालकम् इव**—जाले-जैसा है, **अथ**—और, **एनयोः**—इन दोनो की, **एषा**—यह, **सृति**—मार्ग, **सचरणी**—चलने-फिरने की, **या एषा**—जो यह, **ऊर्ध्वा**—ऊपरली, **नाडी**—नाडी, **उच्चरति**—निकलती है, ऊपर (मस्तिष्क) को जाती है, **यथा**—जैसे, **केशः**—बाल, **सहस्रधा**—हज़ार प्रकार (बार), **भिन्न.**—काटा जाय, **एवम्**—इस प्रकार (अति सूक्ष्म), **हिताः नाम**—'हिता' नाम वाली, **नाड्य**—नाडिया (नसे), **अन्तः हृदये**—हृदय मे, **प्रतिष्ठिताः भवन्ति**—विद्यमान होती हैं, **एताभिः**—इन (हिता नाडियो) से, **एतद्**—यह, **आस्रवत्**—(चूती) बूद, **आस्रवति**—चूती है, **तस्माद्**—उस (आस्रवत्) से, **प्रविविक्त+आहारतरः**—प्रविविक्त (अत्यल्प, सूक्ष्म) भोजनवाला, **इव**—समान, **एव**—ही, **भवति**—होता है, **अस्मात्**—इस, **शारीरात्**—(जाग्रद्-अवस्था मे) शरीर-सचारी (भोग-भोक्ता), **आत्मनः**—जीवात्मा से ॥३॥

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक् प्रत्यञ्च. प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वा· प्राणा

'स्वप्नावस्था' होती है, तब आत्म-तत्त्व का 'स्वप्न-स्थान' होता है, और वह स्थान है 'हृदय'; शरीर की जब 'सुषुप्तावस्था' होती है, तब आत्म-तत्त्व का 'सुषुप्ति-स्थान' होता है, और वह स्थान है 'प्राण'। आत्म-तत्त्व जागता-सोता नहीं, शरीर जागता-सोता है, शरीर की इन अवस्थाओं के अनुसार आत्म-तत्त्व अपनी सत्ता के प्रकाश के 'स्थान' बदलता रहता है। शरीर की 'सुषुप्तावस्था' में 'आत्म-तत्त्व' प्राणो में चला जाता है। जिस तरह जाग्रद्-अवस्था में आत्म-तत्त्व का रूप 'आंखें' है, स्वप्नावस्था में इसका रूप 'हृदय' है, वैसे सुषुप्तावस्था में आत्म-तत्त्व का रूप 'प्राण' है। उसकी पूर्व दिशा में, दक्षिण दिशा में, पश्चिम दिशा में, उत्तर दिशा में, ऊपर-नीचे, सब दिशाओं में, उसका रूप प्राणमय हो जाता है।

'आत्म-तत्त्व' के इन तीन रूपो के अतिरिक्त उसका एक चौथा रूप रह जाता है, यह उसका तुरीय-रूप है, अनिर्वचनीय रूप है, इसे 'नेति'-'नेति' कहा जाता है, वह ऐसा रूप है जिसतक कोई नही पहुंच पाता। वह 'अग्राह्य' रूप है, पकड़ मे नहीं आता; 'अशीर्य' रूप है,

---

अवाची दिगवाञ्च. प्राणाः सर्वा दिशः सर्वे प्राणा· स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः। स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद्याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि ।।४।।

तस्य—उस (आत्मा) के, **प्राची दिग्**—पूर्व दिशा, **प्राञ्च. प्राणाः**—पूर्व दिशावर्ती प्राण है, **दक्षिणा दिग्**—दक्षिण दिशा, **दक्षिणे प्राणा.**—दक्षिण के प्राण है, **प्रतीची दिग्**—पश्चिम दिशा, **प्रत्यञ्च**—पश्चिम दिशा मे होनेवाले, **प्राणाः**—प्राण हैं, **उदीची दिग्**—उत्तर दिशा, **उदञ्च· प्राणा.**—उत्तर-दिशा-वर्ती प्राण है, **ऊर्ध्वा दिग्**—ऊपर की दिशा, **ऊर्ध्वाः प्राणा.**—ऊर्ध्व प्राण है, **अवाची दिग्**—नीचे की दिशा, **अवाञ्च. प्राणाः**—नीचे के प्राण है, **सर्वाः दिश. सर्वे प्राणा.**—सारी दिशाए सारे प्राण है, **स. एष.**—वह यह (आत्मा स्वय तो), **न इति**—यह (आत्मा) नही, **न इति**—यह भी (आत्मा) नही है (अनिर्वचनीय है क्योकि), **आत्मा**—आत्मा, **अगृह्य.**—(इन्द्रियो से) ग्रहण नही किया जा सकता, **न गृह्यते**—नही गहण (ज्ञान-विषय) किया जाता, **अशीर्य**—वह छिन्न-भिन्न नही होता, अक्षर है, **न हि**—नही, **शीर्यते**—क्षीण होता है, **असङ्ग.**—

उसका क्षय नहीं होता; वह 'असंग' है, किसी से लिप्त नहीं होता; वह बन्धन-रहित है, व्यथा-रहित है, नाश-रहित है। फिर याज्ञवल्क्य ने कहा, हे राजन्! तुमने उपनिषदों का ज्ञान प्राप्त करके 'आत्म-तत्त्व' को पहचान लिया इसलिये यहां से छूटकर तुम इसी 'अग्राह्य', 'अशीर्य', 'असग', 'असित' रूप में पहुंच जाओगे— तुम 'अभय' प्राप्त करोगे, 'अभय-रूप' हो जाओगे! विदेह-राज जनक यह सुनकर बोले, हे याज्ञवल्क्य! आपने जिस अभय-पद पर मुझे पहुंचाया है आपको भी वह पद प्राप्त हो, मेरा आपको नमस्कार हो, मेरा विदेह-राज्य और मैं स्वयं, हम सब अपने को आपके चरणो में अर्पित करते हैं ॥४॥

(माण्डूक्योपनिषद्, छान्दोग्य ८-१२, बृहदा० २-१, ४-३ और इस स्थल को एक-साथ पढने से भाव और अधिक स्पष्ट हो जाता है।)

चतुर्थ अध्याय (तीसरा ब्राह्मण)

(याज्ञवल्क्य द्वारा जनक को आत्मा का उपदेश)

याज्ञवल्क्य विदेह-राज जनक के यहाँ पहुंचे। इस बार वे अपने मन में यह ठानकर गये कि कुछ नहीं बोलेंगे, सिर्फ सुनेंगे। जनक ने

सग (लेप) से रहित है, निर्लेप है; **न हि सज्यते**—क्योंकि वह किसी मे आसक्त नही होता, **असित**—बन्धनरहित है; **न व्यथते**—कभी दुःखी नही होता, **न रिष्यति**—किसी को दुःखी नही करता, या नष्ट नही होता (अविनाशी) है, **अभयम्**—भय से रहित (आनन्दमय अवस्था को), **जनक**—हे राजा जनक, **प्राप्तः असि**—तू प्राप्त हो गया है, **इति ह उवाच याज्ञवल्क्य.**—यह याज्ञवल्क्य ने कहा, **स. ह उवाच जनकः वैदेह.**—तब विदेह-नरेश जनक ने कहा (कि), **अभयम्**—निर्भयता (आनन्दमयता), **त्वा**—तुझ को भी, **गच्छतात्**—प्राप्त हो, **याज्ञवल्क्य**—हे याज्ञवल्क्य!, **य.**—जो आप, **न.**—हमे, **भगवन्**—हे माननीय, **अभयम्**—भयशून्य (आनन्दमय) अवस्था का, **वेदयसे**—ज्ञान कराते हो, प्राप्त कराते हो, **नम ते अस्तु**—आपको नमस्कार है, **इमे**—ये, **विदेहा.**—विदेह देश, **अयम् अहम्**—यह मैं, **अस्मि**—(आपकी सेवा मे) उपस्थित हूं ॥४॥

जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्य इत्यथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तं हास्मै ददौ तं ह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥१॥

इस बात को ताड़ लिया, और निश्चय कर लिया कि वे भी उन्हे बुलवाकर ही छोड़ेंगे। एक बार की बात है कि किसी अग्निहोत्र में विदेह-राज जनक और महर्षि याज्ञवल्क्य दोनो उपस्थित थे। उस समय जनक से प्रसन्न होकर याज्ञवल्क्य ने उन्हे वर मांगने को कहा था, और राजा ने 'काम-प्रश्न' वर मांगा था, अर्थात् जब मैं चाहूं आपसे प्रश्न कर सकूं। याज्ञवल्क्य ने यह वर दे दिया था। इसी वर की याद दिलाकर सम्राट् ने प्रश्न कर दिया, और याज्ञवल्क्य को उत्तर देना पड़ा ॥१॥

राजा ने पूछा, हे याज्ञवल्क्य! पुरुष को ज्योति—प्रकाश—कहा से प्राप्त होती है? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'आदित्य' से! जाग्रद्-अवस्था में आदित्य की ज्योति से ही यह बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है, काम करने के बाद घर को लौट आता है। राजा ने कहा, आपने ठीक कहा ॥२॥

जनकम् ह वैदेहम्—एक वार विदेह-राज जनक के पास, **याज्ञवल्क्य**—याज्ञवल्क्य, **जगाम**—गया, पहुचा, **सः**—उस (याज्ञवल्क्य) ने, **मेने**—निश्चय किया (कि), **न वदिष्ये इति**—नही मैं बोलूगा (उपदेश करूगा), **अथ ह**—और, **यत्**—जव, **जनक. ह वैदेह**—विदेह-राज जनक, **याज्ञवल्क्य च**—और याज्ञवल्क्य, **अग्निहोत्रे**—अग्निहोत्र के समय मे या अग्नि-होत्र के विपय (सवध) मे, **सम्+ऊदाते**—सवाद कर रहे थे (तव), **तस्मै ह**—उस (जनक) को, **याज्ञवल्क्य.**—(सतुप्ट) याज्ञवल्क्य ने, **वरम्**—वर, **ददौ**—दिया था, **स ह**—उस (जनक) ने, **काम-प्रश्नम्**—इच्छानुसार प्रश्न (करने) का वर, **वव्रे**—वरण किया (मागा) था, **तम् ह**—उस (वर), को, **अस्मै**—इस (जनक) को, **ददौ**—दे दिया, **तम् ह**—उस (याज्ञवल्क्य) को, **सम्राड् एव**—महाराज जनक ने ही, **पूर्वम्**—पहिले, **पप्रच्छ**—पूछा ॥१॥

याज्ञवल्क्य किंज्योतिरयं पुरुष इति। आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचा-दित्येनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२॥

याज्ञवल्क्य!—हे याज्ञवल्क्य!, **किंज्योति**—किस ज्योति (प्रकाश) के आश्रित, **अयम्**—यह, **पुरुष**—देही आत्मा है, **इति**—यह (वताइये), **आदित्य-ज्योतिः**—आदित्य के प्रकाश (के सहारे) वाला (यह आत्मा है), **सम्राड्**—हे महाराज!, **इति ह उवाच**—यह कहा (वताया), **आदित्येन**—सूर्य-रूप, **एव**—ही, **अयम्**—यह आत्मा, **ज्योतिषा**—प्रकाश द्वारा, **आस्ते**—

राजा ने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य! जब आदित्य अस्त हो जाता है, तब पुरुष को ज्योति--प्रकाश--कहां से प्राप्त होती है? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'चन्द्रमा' से! सूर्य न होने पर चन्द्र की ज्योति से ही यह बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है, काम करने के बाद घर को लौट आता है। राजा ने कहा, आपने ठीक कहा ॥३॥

राजा ने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य! जब आदित्य अस्त हो जाता है, चन्द्र अस्त हो जाता है, तब पुरुष को ज्योति--प्रकाश--कहां से प्राप्त होती है? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'अग्नि' से! उस समय अग्नि की ज्योति से ही यह बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है, काम करने के बाद घर को लौट आता है। राजा ने कहा, आपने ठीक कहा ॥४॥

बैठता है, पल्ययते (परि+अयते)—इधर-उधर चलता-फिरता है, कर्म कुरुते—कार्य करता है, विपल्येति (वि+परि+एति)—फिर (अपने आसन पर) लौट आता है, इति—यह (कहा), एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य यह इस प्रकार ही है, तुम्हारा कथन ठीक है ॥२॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति
चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषास्ते
पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥३॥

अस्तमिते आदित्ये—सूर्य के छिप जाने पर, याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य, किंज्योति—किस प्रकाश के सहारे वाला, एव—ही, अयम् पुरुषः इति—यह देही आत्मा होता है?, चन्द्रमा. एव अस्य—चन्द्रमा ही इस (देही) का, ज्योतिः—प्रकाशक, भवति इति—होता है, चन्द्रमसा एव अयम् ज्योतिषा—चन्द्रमा के प्रकाश से ही यह (देही), आस्ते—बैठता है, पल्ययते—इधर-उधर घूमता है, कर्म कुरुते—काम करता है, विपल्येति—पुन घर लौट आता है, इति—यह, एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य यह ऐसे ही है ॥३॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं
पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषास्ते
पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥४॥

अस्तमिते आदित्ये—सूर्य के छिप जाने पर, याज्ञवल्क्य—हे याज्ञवल्क्य!, चन्द्रमसि अस्तमिते—चन्द्रमा के भी छिप जाने पर, किंज्योति. एव अयम् पुरुष इति—यह देही आत्मा किस ज्योति का सहारा लेता है?, अग्निः एव अस्य

राजा ने फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य और चन्द्र के अस्त होने पर, अग्नि के शान्त होने पर, पुरुष को ज्योति---प्रकाश---कहां से प्राप्त होती है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'वाणी' से ! रात के प्रगाढ अन्धकार में वाणी की ही ज्योति से यह बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है, काम करने के बाद घर को लौट आता है। जब अन्धेरे में अपना हाथ भी नहीं दीखता तब उसी का सहारा लेना पड़ता है जहां से वाणी का उच्चारण होता है। राजा ने कहा, आपने ठीक कहा ॥५॥

राजा ने फिर पूछा, 'आदित्य' और 'चन्द्र' के अस्त होने पर, 'अग्नि' और 'वाणी' के शान्त हो जाने पर, जब जाग्रद्-अवस्था नही

ज्योतिः भवति इति—तब अग्नि इसको ज्योति (प्रकाश) देता है, **अग्निना एव**—अग्नि रूप ही, **अयम्** **याज्ञवल्क्य**—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योति-
रेवाय पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषास्ते
पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न
विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥५॥

अस्तमिते आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमसि अस्तमिते—हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य के और चन्द्रमा के छिप जाने पर, **शान्ते अग्नौ**—अग्नि के भी शान्त हो जाने (बुझ जाने) पर, **किंज्योतिः एव अयम् पुरुषः इति**—इस देही आत्मा के लिए कौन-सा प्रकाश होता है ?, **वाग् एव**–वाणी ही, **अस्य ज्योतिः भवति इति**—इसका प्रकाश होता है, **वाचा एव**—वाणी से ही, **अयम्** **इति**—अर्थ पूर्ववत्, **तस्माद् वै**—उस वाणी के प्रकाश के होने से ही, **सम्राड्**—हे महाराज !, **अपि यत्र**—जहा कही, **स्व**—अपना, **पाणिः**—हाथ, **न**—नही, **विनिर्ज्ञायते**—पहचान मे आता है, दिखाई देता है, **अथ**—और, **यत्र**—जिस स्थान पर, **वाग्**—वाणी, **उच्चरति**—उच्चारण होती है, **उप एव तत्र न्येति (तत्र एव उप नि+एति)**—वहा ही समीप मे जा पहुचता है, **इति**—यह (कहा), **एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य !**—हे याज्ञवल्क्य यह ऐसे ही है ॥५॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ
शान्ताया वाचि किंज्योतिरेवाय पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्या-
त्मनैवाय ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति ॥६॥

अस्तमिते अग्नौ—अर्थ पूर्ववत्, **शान्तायाम् वाचि**—वाणी के भी शान्त (बन्द) हो जाने पर (निपट अन्धकार मे), **किंज्योति. एव अयम् पुरुष इति**

रहती, तब पुरुष को ज्योति--प्रकाश--कहां से प्राप्त होती है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, 'आत्मा' से ! स्वप्नावस्था में आत्मा की ही ज्योति से यह बैठता है, चलता-फिरता है, काम करने के बाद घर को लौट आता है ।।६।।

राजा ने फिर पूछा, वह 'आत्मा' कौन-सा है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, आत्मा का स्वरूप 'विज्ञानमय' है; जाग्रद्-अवस्था में वह 'बहिर्ज्योति' होता है, उसके बाद 'अन्तर्ज्योति' हो जाता है; स्वप्नावस्था में उसमें उसकी ज्योति 'हृदय' में, और सषुप्तावस्था में 'प्राणो' में प्रकाशित होती है । वह स्वयं सब अवस्थाओ में एक-समान है, और 'जाग्रद्' तथा 'सुषुप्त'--इन दोनो लोकों में आता-जाता रहता है, जाग्रद्-लोक में आकर मानो चेष्टा करने लगता है, सुषुप्त-लोक में जाकर मानो ध्यानावस्थित हो जाता है । जाग्रत् तथा सुषुप्त--इन दोनों के बीच के 'स्वप्न-लोक' में जाकर वह इस दुनिया को, जो मृत्यु के ही नाना-रूप है, लांघ जाता है ।।७।।

—इस देही आत्मा के लिए कौन-सा प्रकाश होता है ?, आत्मा एव अस्य—इस पुरुष का अपना आत्मा ही, ज्योतिः भवति इति—प्रकाश देनेवाला होता है, आत्मना एव—निज आत्मा से ही, अयम् इति—अर्थ पूर्ववत् ।।६।।

> कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः
> स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव
> स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ।।७।।

कतमः—कौन-सा, आत्मा—आत्मा, इति—यह (जनक ने पूछा), यः अयम्—जो यह, विज्ञानमयः—ज्ञानस्वरूप, ज्ञाता, चित्-स्वरूप है, प्राणेषु—प्राण (इन्द्रियो मे), हृदि—हृदय मे, अन्तर्ज्योतिः—अन्तरतम को प्रकाशित करनेवाला, पुरुषः—देह मे वर्तमान (देह का अधिष्ठाता) आत्मा है, सः—वह (जीव), समानः—(दोनों लोको–अवस्थाओं मे) एक ही, सन्—होता हुआ भी, उभौ—दोनो, लोकौ—लोको को (मे), अनुसचरति—विचरण करता है, साक्षी रहता है, ध्यायति इव—मानो ध्यानमग्न रहता है, लेलायति इव—मानो चेष्टाए (जगद्-व्यवहार) करता है, सः हि—वह (आत्मा) ही; स्वप्न—स्वप्न-अवस्था को प्राप्त, भूत्वा—होकर, इमम्—इस, लोकम्—लोक, अवस्या (जाग्रद्-अवस्था) को, अतिक्रामति—लाघ जाता है, पार हो जाता

जैसे पुरुष जन्म लेने के बाद, शरीर से क्या जुड़ता है, मानो पाप से जुड़ जाता है, मरने के बाद शरीर को क्या छोड़ता है, मानो पाप के घर को छोड़ देता है, इसी प्रकार आत्मा जाग्रत्-लोक को क्या छोड़ता है, मानो पाप-लोक को छोड़ता है, और स्वप्न तथा सुषुप्त-लोक को क्या जाता है, मानो पाप को छोड़ कर आगे चल देता है ॥८॥

इस पुरुष के—आत्मा के—दो ही स्थान हैं; यह स्थान, जिसे 'जाग्रत्-स्थान' कहते हैं, और वह स्थान, परलोक-स्थान, जिसे 'सुषुप्त-स्थान' कहते हैं । इन दोनो स्थानों की सन्धि में एक तीसरा स्थान है, 'स्वप्न-स्थान' है । इस सन्धि-स्थान में बैठकर आत्मा दोनो स्थानों को देखता है—'जाग्रत्-स्थान' को भी, 'सुषुप्त-स्थान' को भी । जिस क्रम से आत्मा 'सुषुप्त-स्थान' में गया होता है, उसी क्रम से 'पाप' को वा 'आनन्द' को देखता है । अगर 'जाग्रत्-स्थान' से 'सुषुप्त-स्थान'

है, **मृत्योः**—मृत्यु के, **रूपाणि**—रूपो को, (**मृत्योः रूपाणि**—मरणशील विनाशी अवस्था को) ॥७॥

स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमान. पाप्मभिः
सँसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥८॥

सः वै अयम् पुरुषः—वह ही यह पुरुष (जीव-आत्मा), **जायमानः**—उत्पन्न होता हुआ, **शरीरम्**—देह को, **अभिसंपद्यमानः**—प्राप्त होता हुआ, **पाप्मभिः**—पापो (पाप-फल भोगो) से, बुराइयो से, **संसृज्यते**—युक्त (आसक्त, लिप्त) हो जाता है, **सः**—वह ही, **उत्क्रामन्**—(शरीर से) निकलता हुआ, **म्रियमाणः**—मरता हुआ, मरकर, **पाप्मनः**—पापो (पाप-भोगो) को, **विजहाति**—छोड जाता है ॥८॥

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयँ स्वप्नस्थान तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थान च । अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दाँश्च पश्यति स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वय विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुष स्वयंज्योतिर्भवति ॥९॥

तस्य वै एतस्य पुरुषस्य—उस इस जीव-आत्मा के, **द्वे**—दो, **एव**—ही, **स्थाने**—रहने के स्थान, **भवत**—होते हे, **इदम् च**—(एक तो) यह जन्म

को गया है तो 'पाप' देखता हुआ गया है; अगर 'सुषुप्त-स्थान' से 'जाग्रत्-स्थान' को आया है, तो 'आनन्द' को देखता हुआ आया है। जब 'जाग्रत्' से 'स्वप्न'-लोक को जाता है, तो इस दुनिया की, जिसमें सब-कुछ है, मात्राओ को--उसके सूक्ष्म-अंशों को--अपने साथ लेकर जाता है। फिर 'स्वप्न-लोक' में इन्हीं मात्राओ से दुनिया को बनाता है, बिगाड़ता है, उस समय इसके पास बाहर की ज्योति नहीं होती, अपने ही प्रकाश से, अपनी ही ज्योति से सपने की दुनिया देखता है। इस अवस्था में पुरुष को 'स्वयं-ज्योति' कहा जाता है। उस समय इसकी अपनी ही दुनिया होती है, बनाता है, बिगाड़ता है, और अपने ही प्रकाश से उसे देखता है ॥९॥

(जाग्रद्-अवस्था), **परलोक-स्थानम् च**--(दूसरा) परलोक (उत्तम-अवस्था, सुषुप्ति-समाधि अवस्था) स्थान, **सन्ध्यम्**—सन्धि-स्थल मे होनेवाला, योजक, **तृतीयम्**—तीसरा, **स्वप्न-स्थानम्**—सुपनेवाली अवस्था है, **तस्मिन्**—उस, **सन्ध्ये**—योजक, **स्थाने**—स्थान (अवस्था-लोक) मे, **तिष्ठन्**—ठहरा हुआ, रहता हुआ, **एते उभे स्थाने**—इन दोनो स्थानो (अवस्थाओ) को, **पश्यति**—देखता है, **इदम् च**—इस (जाग्रत्स्थान) को, **परलोकस्थानम् च**—और परलोक (सुषुप्त-अवस्था) को, **अथ**—और, **यथा+आक्रमः**—जैसे कर्म रूपी सीढी वाला, **अयम्**—यह जीव, **परलोक-स्थाने**—परजन्म या सुषुप्त-अवस्था मे, **भवति**—होता है, **तम्**—उस, **आक्रमम्**—कर्मरूप सहारे को, **आक्रम्य**—पार कर, लाघ कर (उनके सहारे से), **उभयान्**—दोनो ही, **पाप्मनः**—पापो (पाप-फलभोगो) को, **आनन्दान् च**—और आनन्द-सुखो को, **पश्यति**—देखता (अनुभव करता-भोगता) है, **स**—वह, **यत्र**—जहा, जब, **प्रस्वपिति**—सोता (स्वप्न-अवस्था मे होता) है, **अस्य**—इस, **लोकस्य**—लोक की, **सर्वावतः** (सर्व+अवत.)—सर्व-रक्षक (पालक), सर्व सामग्री से सम्पन्न, **मात्राम्**—अश को, **अप+आदाय**—अलग लेकर, **स्वयम्**—अपने आप, **विहत्य**—नष्ट कर, **स्वयम्**—अपने आप, **निर्माय**—निर्माण कर, **स्वेन**—अपनी, **भासा**—चमक-प्रकाश से, **स्वेन**—अपनी, **ज्योतिषा**—ज्योति से (के साथ), **प्रस्वपिति**—सो जाता है, **अत्र**—यहा, इस लोक या स्वप्न-अवस्था मे, **अयम्**—यह (जीव), **स्वय-ज्योतिः**—अपनी ही ज्योति (प्रकाश) पर निर्भर, **भवति**—होता है ॥९॥

'स्वप्नावस्था' मे रथ नहीं होते, घोड़े नही होते, सड़कें नही होतीं, वह अपने-आप रथ-घोड़े-मार्ग---सभी कुछ रच लेता है। वहां आनन्द नहीं, मोद नहीं, प्रमोद नहीं; वह आनन्द, मोद, प्रमोद की सृष्टि रच लेता है। वहां तालाब नहीं, झीलें नही, नदियां नही; वह तालाब, झील, नदी बना डालता है। आत्मा तभी तो 'कर्ता' कहा जाता है---वही रचना करनेवाला है ॥१०॥

किसी ने इसी आशय को श्लोक-बद्ध किया है---जिस समय आत्मा 'स्वप्न-स्थान' में चला जाता है, तब क्या होता है ? उस समय आत्मा शरीर के जाग्रत्-स्थान को छोड़कर, अपनी ज्योति को समेट-कर, स्वप्न-स्थान मे जा बैठता है; उस समय वह स्वयं 'अप्रसुप्त' ही रहता

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते न तत्रानन्दा मुद. प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्ती. सृजते स हि कर्ता ॥१०॥

न---नही, **तत्र**---उस (स्वप्नावस्था) मे, **रथाः**---रथ, **न रथयोगाः**---न रथ मे जुडनेवाले घोडे, **न पन्थानः**---न मार्ग, **भवन्ति**---होते हैं, **अथ**---तो भी, **रथान्**---रथो को, **रथयोगान्**---रथ के घोडो को, **पथ.**---सडको को, **सृजते**---बना लेता है, **न**---नही, **तत्र**---वहा, **आनन्दा**---आनन्द होते है, **मुदः**---खुशिया, **प्रमुदः**---अत्यधिक मौजे, **भवन्ति**---होती है, **अथ**---पर तो भी, **आनन्दान् मुद. प्रमुदः**---सुखो को, खुशियो को, मौजो को, **सृजते**---कल्पित कर (रच) लेता है, **न तत्र**---नही वहा, **वेशान्ताः**---तालाब, **पुष्क-रिण्यः**---झीले, **स्रवन्त्यः**---नदिया, **भवन्ति**---होती है, **अथ**---किन्तु (वह), **वेशान्तान्**---तालावो को, **पुष्करिण्यः**---झीलो को, **स्रवन्ती**---नदियो को, **सृजते**---रच डालता है, **सः हि**---वह (जीव) ही, **कर्त्ता**---(उस समय) रचयिता (होता है) ॥१०॥

तदेते श्लोका भवन्ति। स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्याऽसुप्त. सुप्तानभिचाक-शीति। शुक्रमादाय पुनरेति स्थानँ हिरण्मय पुरुष एकहँस. ॥११॥

तत्---तो (इस विपय मे), **एते**---ये, **श्लोकाः**---(प्रसिद्ध) श्लोक, **भवन्ति**---हैं, **स्वप्नेन**---स्वप्न अवस्था से, **शारीरम्**---शरीर से सम्बद्ध को, **अभिप्रहत्य**---नष्ट कर, छोड कर, **असुप्त**---स्वय न सोता हुआ, **सुप्तान्**---सोये हुए (इन्द्रिय तथा प्राणो) को, **अभिचाकशीति**---देखता है या प्रकाशित करता है, **शुक्रम्**---दीप्ति, कान्ति, प्रकाश या वीर्य, **आदाय**---लेकर, **पुन**---

है, परन्तु बैठा-बैठा सुप्त इन्द्रियों को निहारा करता है। 'स्वप्न-स्थान' से फिर जब 'जाग्रत्-स्थान' को आता है, तब यह हंस की भांति शुभ (शुभ्र) 'हिरण्मय-पुरुष' अपनी ज्योति को बाहर ले आता है जिससे शरीर जाग जाता है ॥११॥

यह 'हिरण्मय-पुरुष' इकले अमर हंस की भांति अपने शरीर-रूपी निचले घोंसले की रक्षा के लिये 'प्राण' को छोड़ जाता है, और स्वयं घोंसले से बाहर 'स्वप्न-लोक' में इच्छा-पूर्वक घूमा करता है ॥१२॥

'स्वप्न-लोक' में यह बहुत ऊंच-नीच में से गुजरता है, नाना-रूपों का निर्माण करता है, कभी स्त्रियों के साथ आमोद-प्रमोद करता है, कभी बन्धु-बांधवों के साथ हंसता-खेलता है, कभी भयानक दृश्य देखता है ॥१३॥

फिर, **एति**—आता है, **स्थानम्**—स्थान (जाग्रत्-स्थिति) को, **हिरण्मयः पुरुषः**—हित और रमणीय ज्योति (स्वरूप वाला) जीवात्मा, **एक-हंसः**—अद्वितीय (विवेकी) आत्मा ॥११॥

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा ।
स ईयतेऽमृतो यत्रकामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥१२॥

प्राणेन—प्राण द्वारा, **रक्षन्**—रक्षा करता हुआ, **अवरम्**—निचले (निम्न स्थिति वाले), **कुलायम्**—घोंसला (शरीर) को, **बहिः**—बाहर; **कुलायात्**—घोंसले (शरीर) से, **अमृतः**—अमर, अविनाशी, **चरित्वा**—चर कर (भोग भोग कर), विचरण कर, **सः**—वह, **ईयते**—पहुंचता है, **अमृतः** अमर; **यत्रकामम्**—यथेच्छ, जहां की इच्छा हो, **हिरण्मयः पुरुषः एकहंसः**—ज्योति स्वरूप हंस के समान विवेकशील जीव आत्मा ॥१२॥

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि ।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥१३॥

स्वप्नान्ते (**स्वप्न + अन्ते**)—स्वप्न-स्थान (अवस्था) में, **उच्च + अवचम्**—उच्च-नीच (स्थिति) को, **ईयमानः**—प्राप्त (धारण) करता हुआ, **रूपाणि**—(नानाविध) रूपों को, **देवः**—दिव्यगुण-युक्त (आत्मा); **कुरुते**—रचता, बनाता है, **बहूनि**—बहुत-से, **उत इव**—तथा च, **स्त्रीभिः सह**—स्त्रियों के साथ; **मोदमानः**—प्रसन्न होता हुआ, **जक्षत्**—खाता हुआ (भोग भोगता हुआ), **उत इव**—तथा च, **अपि**—भी, **भयानि**—भयों को, **पश्यन्**—देखता हुआ ॥१३॥

उसकी क्रीड़ा-स्थली को तो सभी देखते हैं, उसे कोई नहीं देख पाता। कई लोग कहते हैं कि 'स्वप्नावस्था' में आत्मा शरीर को छोड़ कर बाहर विहार कर रहा होता है, इसलिये सोये हुए को एक दम जगाना ठीक नहीं है। एकदम जगाने से वह शरीर के सब अंगों में नहीं आ पाता। जिस अंग में एक दम न लौट सके, उसकी चिकित्सा करनी कठिन होती है, अर्थात् वहां अर्धांग हो जाता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह बात ठीक नहीं है। स्वप्न में आत्मा जो-कुछ देखता है वह जागरित-देश से ही लिया होता है, जाग्रत् में जो देखा-सुना होता है, वही स्वप्न में देखता-सुनता है, शरीर से बाहर कहीं नहीं घूमता-फिरता, जाग्रत् से स्वप्न में सिर्फ़ इतना भेद हो जाता है कि जाग्रत् में वह सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वाणी से ज्योति ग्रहण करता है, स्वप्न में वह 'स्वयं-ज्योति' हो जाता है, अपने भीतर के प्रकाश से ही सब देखता-सुनता है। यह सब उपदेश सुन कर राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से कहा, भगवन्! आप के इस उपदेश के लिये मैं एक

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति। तं नायत बोधयेदित्याहुः दुर्भिषज्यँ हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते। अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति ॥१४॥

आरामम्—निवास-स्थान घर को, चमन को (शरीर-चमन) को, **अस्य**—इस (जीव) के, **पश्यन्ति**—देखते है, **न**—नही, **तम्**—उस (जीव-आत्मा) को, **पश्यति**—देखता है, **कश्चन इति**—कोई भी, **तम्**—उस (सुप्त आत्मा) को, **न**—नही, **आयतम्**—एकदम, जोर से, **बोधयेत्**—जगावे, **इति**—ऐसे, **आहुः**—(लोग) कहते हैं, **दुर्भिषज्यम्**—कष्ट-साध्य चिकित्सा, **ह**—निश्चय ही, **अस्मै**—इस (अग) के लिए, **भवति**—होती है, (**अस्मै ह दुर्भिषज्यम् भवति**—इस अग की चिकित्सा कष्ट-साध्य होती है), **यम्**—जिस (अवयव) को, **एषः**—यह (आत्मा), **न प्रतिपद्यते**—नही पहुच पाता है, **अथ उ खलु**—और यह भी, **आहुः**—कहते हैं, **जागरित-देशः**—'जाग्रद्'-अवस्था, **एव**—ही, **अस्य**—इस (देही पुरुष) की, **एष**—यह (लोक), **इति**—यह (कहते हैं), **यानि हि एव (हि यानि एव)**—क्योकि जिन (वस्तुओ) को, **जाग्रत्**—जागता हुआ, **पश्यति**—देखता (अनुभव करता) है, **तानि**—उनको, **सुप्तः**—सोता हुआ (स्वप्नावस्था मे प्राप्त) भी, **इति**—यह (युक्ति है), **अत्र**—इस (स्वप्ना-

सहस्र गायें भेंट करता हूं। अब इसके आगे आप मुझे 'मोक्ष' का ही उपदेश दें ॥१४॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, हे राजन्! आत्मा 'सम्प्रसाद'---प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता के, अर्थात् 'सुषुप्ति' के स्थान मे रमण कर, भ्रमण कर, पाप-पुण्य को देख कर, जिस मार्ग से गया था, उसी मार्ग से, अपनी 'योनि', अर्थात् अपने कारण---'स्वप्न-स्थान'---के प्रति लौट आता है। 'सुषुप्त-स्थान' मे रहते हुए उसने जो कुछ देखा था, वह वही छूट जाता है, वह इसके साथ नही आता, क्योंकि 'असंगो ह्ययं पुरुषः'---पुरुष अपने स्वाभाविक रूप में तो 'असंग' ही है। राजा ने कहा, याज्ञवल्क्य! यह ठीक है। भगवन्! आपके इस उपदेश के लिये मैं एक सहस्र गायें भेंट करता हूं। अब इसके आगे आप मुझे 'मोक्ष' का ही उपदेश दें ॥१५॥

वस्था) मे, **अयं पुरुषः**—यह देही आत्मा, **स्वयं-ज्योति.**—स्वय दीप्तिमान् (अपनी ही ज्योति पर निर्भर), **भवति**—होता है, **सः अहम्**—वह मैं, **भगवते**—आदरणीय आप को, **सहस्रम्**—हज़ार (गाये), **ददामि**—प्रदान (भेट) करता हू, **अत. ऊर्ध्वम्**—इसके आगे, **विमोक्षाय+एव**—मेरी मुक्ति के लिए ही; **ब्रूहि**—उपदेश करे, **इति**—यह (राजा जनक ने निवेदन किया) ॥१४॥

स वा एष एतस्मिन्सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्य च पाप च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१५॥

सः वै एष.—वह यह जीवात्मा, **एतस्मिन्**—इस, **सम्प्रसादे**—सम्यक् प्रसन्नता देनेवाली, निर्मल (सुषुप्ति अवस्था मे), **रत्वा**—रमण (आनन्द-भोग) कर, **चरित्वा**—इधर-उधर घूमकर, **दृष्ट्वा**—देखकर, **एव**—ही, **पुण्यम् च**—पुण्य (के फल सुख) को, **पापम् च**—और पाप (के भोग दु ख) को, **पुन**—फिर, **प्रतिन्यायम्**—'स्वप्न-स्थान' मे निकलनेवाले मार्ग की ओर, **प्रति योनि**—योनि (अपने पहिले स्थान) की ओर, **आद्रवति**—लौट आता है, **स्वप्नाय एव**—(अर्थात्) स्वप्न-लोक को ही, **स.**—वह (जीवात्मा), **यत्**—जो, **तत्र**—उस (स्वप्न-लोक) मे, **किंचित्**—कुछ भी, **पश्यति**—देखता (अनुभव करता) है, **अनन्वागत.** (न+अनु+आगतः)—असम्बद्ध, निर्लेप, असक्त, **तेन**—उस (दर्शन) से, **भवति**—होता (रहता) है, **असंग. हि अयम**

याज्ञवल्क्य ने कहा, हे राजन् ! 'सुषुप्त-स्थान' से 'स्वप्न-स्थानों' में आने पर, वहां रमण कर, भ्रमण कर, पाप-पुण्य को देख कर, आत्मा जिस मार्ग से गया था, उसी मार्ग से, अपनी 'योनि', अर्थात् अपने कारण---'जाग्रत्-स्थान'---के प्रति लौट आता है। 'स्वप्न-स्थान' में रहते हुए उसने जो-कुछ देखा था, वह वहीं छूट जाता है, वह इसके साथ नही आता, क्योकि 'असंगो ह्ययं पुरुषः'---पुरुष अपने स्वाभाविक रूप में तो 'असंग' ही है । राजा ने कहा, याज्ञवल्क्य ! यह ठीक है। भगवन् ! आप के इस उपदेश के लिये मै एक सहस्र गायें भेट करता हूं। अब इसके आगे आप मुझे 'मोक्ष' का ही उपदेश दें ॥१६॥

याज्ञवल्क्य ने कहा, हे राजन् ! 'स्वप्न-स्थान' से 'जाग्रत्-स्थान' में आने पर, वहां रमण कर, भ्रमण कर, पाप-पुण्य को देखकर, आत्मा जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग से, अपनी 'योनि', अर्थात् अपने कारण---'स्वप्न-स्थान'---के प्रति फिर लौट आता है ॥१७॥

पुरुषः—क्योकि यह देही आत्मा (स्वभाव से) असग (निर्लेप) है, इति—यह (उपदेश दिया), एवम् एव ब्रूहि इति—अर्थ पूर्ववत् ॥१५॥

स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्य च पाप
च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किंचि-
त्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसगो ह्यय पुरुष इत्येवमेवैतद्या-
ज्ञवल्क्य सोऽह भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१६॥

सः वै एषः—वह यह (जीव-आत्मा), एतस्मिन् स्वप्ने—इस स्वप्न (लोक, अवस्था) मे, रत्वा—रमण कर, चरित्वा—घूम-फिर कर, भोगकर, दृष्ट्वा—देखकर (अनुभव कर), एव—ही, पुण्यम् च पापम् च—पुण्य और पाप (के फल-भोग सुख-दुःख) को, पुनः—फिर, प्रतिन्यायम्—जिस मार्ग से निकलकर गया था उसकी ओर, प्रति योनि—अपने मूल स्थान की ओर, आद्रवति—लौट पडता है, बुद्धान्ताय—(अर्थात्) जाग्रत्–लोक को, एव—ही, सः—वह (जीव-आत्मा), यत् तत्र ब्रूहि इति—अर्थ पूर्ववत् ॥१६॥

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्य च
पाप च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव ॥१७॥

सः वै एषः—वह यह (जीव-आत्मा), एतस्मिन् बुद्धान्ते—इस जाग्रत् अवस्था या लोक मे, रत्वा आद्रवति—अर्थ पूर्ववत्, स्वप्नान्ताय एव—(अर्थात्) स्वप्नलोक के लिए ही ॥१७॥

सो, जैसे महा-मत्स्य नदी के पूर्व तथा अपर दोनों किनारों को आता-जाता है, और किनारो से असंग रहता है, इसी प्रकार यह पुरुष जाग्रत् तथा स्वप्न-स्थानों में आया-जाया करता है, और इन अवस्थाओ से स्वयं असंग रहता है ॥१८॥

जैसे श्येन या गरुड़ पक्षी आकाश में उड़-उड़ कर थका हुआ, दोनो पंखों को समेट कर घोसले की तरफ ही दौड़ता है, इसी प्रकार यह पुरुष 'जाग्रत्' तथा 'स्वप्न'-रूपी पंखों को समेट कर 'सुषुप्त-स्थान'-रूपी घोंसले की तरफ़ दौड़ता है, जहां सोकर जाग्रत्-अवस्था की कामनाएं नहीं रहतीं, स्वप्नावस्था के सपने नहीं रहते ॥१९॥

तद्यथा महामत्स्य उभे कूलेऽनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं
पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥१८॥

तद् यथा—तो जैसे, **महामत्स्य**—कोई बडा मच्छ, **उभे**—दोनो, **कूले**—(नदी के) किनारो को, **अनुसंचरति**—अनुसचरण (आना-जाना) करता है, **पूर्वम् च**—पहले (इधर के), **अपरम् च**—दूसरे (पार के), **एवम् एव**—इस प्रकार ही, **अयम् पुरुष**—यह देही जीवात्मा, **एतौ**—इन, **उभौ**—दोनो, **अन्तौ**—लोको को, **अनुसंचरति**—बारी-बारी से आता-जाता रहता है, **स्वप्नान्तम् च**—स्वप्न-लोक को, **बुद्धान्तम् च**—जाग्रद्-लोक को ॥१८॥

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः
संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय
धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति ॥१९॥

तद् यथा—तो जैसे, **अस्मिन् आकाशे**—इस आकाश मे, **श्येनः वा**—बाज पक्षी, **सुपर्णः वा**—या गरुड पक्षी, **विपरिपत्य**—विशेपतया (बार-बार) उडकर, **श्रान्तः**—थका हुआ (थक कर), **संहत्य**—इकट्ठे (समेट) कर, **पक्षौ**—पखो (डैनो) को, **संलयाय**—निवास-स्थान (घोसला) के लिए, **एव**—ही, **ध्रियते**—धारणा (निश्चय) करता है, **एवम् एव**—ऐसे ही, **अयम् पुरुषः**—यह (जाग्रत्-स्वप्न लोको मे बार-बार आने-जानेवाला) जीवात्मा (थक कर), **एतस्मै**—इस (सुषुप्त), **अन्ताय**—लोक (अवस्था) के लिये, **धावति**—दौडता है, सचेष्ट होता है, **यत्र**—जहा (जिस अवस्था मे), **सुप्तः**—(गाढ-निद्रा मे) सोया हुआ, **न**—नही, **कचन**—किसी, **कामम्**—कामना को, **कामयते**—चाहता है, **न कंचन**—(और) न किसी, **स्वप्नम्**—सुपने को, **पश्यति**—देखता है ॥१९॥

अगर बाल के हज़ार टुकड़े किये जांय, तो उन जैसी सूक्ष्म 'हिता'-नामक नाड़ियां हृदय तथा शरीर में फैली हुई हैं। इनमें शुक्ल, कृष्ण, नील, पिंगल, हरित, लोहित वर्ण के रस भरे रहते हैं। (कठ ६-१६, प्रश्न ३-६, ७, छान्दोग्य ८-६, बृहदा० २-१-१९, ४-२-३, ४-४-२ मे किये गये वर्णनो के अनुसार 'हिता' तथा 'पुरीतत' का अर्थ Capillaries हैं ।) **शरीर जब सो जाता है, तब आत्मा इन्ही हिता-नामक नाड़ियों में विचरता है। जागते हुए जिन बातों से डरा था, स्वप्न-स्थान में जाकर उन्हीं बातों से अविद्या के कारण भय मान कर यह समझता है कि मानो कोई मार रहा है, मानो कोई अपने वश में कर रहा है, मानो हाथी पीछा कर रहा है, मानो गढ़े में गिर रहा है। जिस स्थान में जाकर यह अपने को देव या राजा की तरह मानता है, 'अहमेवेदं सर्वोस्मि'—'यह सब-कुछ मै ही हूं'—यह अनुभव करता है, वह आत्मा का 'परम-लोक' है, 'सुषुप्त-स्थान' है ॥२०॥**

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिंगलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदँ सर्वोऽस्मीति मन्यते सोस्य परमो लोकः ॥२०॥

ताः वै—(वह लोक वह ही है जो) वे ही, **अस्य**—इस (हृदय वा शरीर) की, **हिताः नाम**—'हिता' नामवाली, **नाड्यः**—नाडिया (नसें), **यथा केशः**—जैसे वाल, **सहस्रधा**—हजार वार, **भिन्नः**—काटा हुआ हो, **तावता**—उतनी, **अणिम्ना**—सूक्ष्मता से (युक्त), **तिष्ठन्ति**—होती हैं, विद्यमान है, **शुक्लस्य**—सफेद, **नीलस्य**—नीले, **पिंगलस्य**—कुछ हल्के पीले, **हरितस्य**—हरे, **लोहितस्य**—लाल, **पूर्णाः**—(रस से) भरी हुई, **अथ**—और, **यत्र**—जिस (स्वप्न अवस्था) में, **एनम्**—इस (सदेह जीवात्मा) को, **घ्नन्ति इव**—मानो मार रहे है, **जिनन्ति इव**—मानो वश मे (आधीन) कर रहे है, **हस्ती इव**—या मानो हाथी की तरह, **विच्छाययति**—कोई पीछा कर रहा है, **गर्तम् इव**—मानो गढे मे, **पतति**—गिरता है, **यद् एव**—जो ही, **जाग्रद्**—जागता हुआ (जागरित-स्थान मे), **भयम्**—भय, **पश्यति**—देखता है, **तद्**—वह, **अत्र**—इस (स्वप्न-लोक) मे, **अविद्यया**—अविद्या (अज्ञान-भ्रान्ति) से, **मन्यते**—मान रहा होता है (वस्तुत उस समय यह भय उपस्थित नही होता), **अथ**—और, **यत्र**—जिस

यह आत्मा का 'अतिच्छन्द'-रूप है, छन्द अर्थात् इच्छा, कामना; अति अर्थात् परे। इच्छा या कामना को लांघ जाना, उसके परे चले जाना आत्मा के इसी रूप में हो सकता है, यह रूप पाप-रहित रूप है, अभय-रूप है। जैसे अपनी प्रिय स्त्री का आलिंगन करते समय न बाहर की सुध रहती है, न अन्दर की, इसी तरह पुरुष जब प्राज्ञ आत्मा के गले लग जाता है, तब इसे न बाहर की सुध रहती है, न अन्दर की। आत्मा का यह 'आप्तकाम' रूप है, जिसमें सब कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं, यही 'आत्मकाम' रूप है, जिसमे सिर्फ़ आत्मा की ही कामना रह जाती है, यही 'अकाम' रूप है, जिसमें आत्म-प्राप्ति की कामना के पूर्ण हो जाने पर कोई कामना ही बची नही रहती, यह 'अशोक' रूप है, जिस में कोई शोक नहीं रहता ॥२१॥

(सुपुप्ति, समाधि, मोक्ष की) अवस्था मे, **देवः इव**—देवता (विद्या-सम्पन्न विद्वान्) के समान, **राजा इव**—(शक्ति-सम्पन्न) राजा के समान, **अहम्**—मैं (आत्मा), **एव**—ही, **इदम्-सर्वं**—यह सब (का अधिष्ठाता), **अस्मि**—हू, **इति**—इस रूप मे, **मन्यते**—(अपने को) मानता (समझता) है, **सः**—वह, **अस्य**—इस (जीवात्मा) का, **परम**—सर्व-श्रेष्ठ, सर्वोत्तम, **लोक**—लोक (अवस्था-स्थिति) है ॥२०॥

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयँ रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुष. प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामँ रूपँ शोकान्तरम् ॥२१॥

तद् वै—वह ही, **अस्य**—इस (जीवात्मा) का, **अतिच्छन्दा**—कामना से परे, कामना-शून्य, **अपहत-पाप्मा**—पाप (के दु ख-फल) से रहित, **अभयम्**—भय-शून्य, **रूपम्**—वास्तविक रूप है, **तद् यथा**—जो जैसे, **प्रियया**—स्नेह-पात्र, **स्त्रिया**—पत्नी से, **संपरिष्वक्त**—आलिगन मे चिपटा हुआ (मनुष्य), **न**—नही, **बाह्यम्**—बाहर की, **किंचन**—किसी (बात) को, **वेद**—जानता है, **न**—न ही, **आन्तरम्**—अन्दरूनी (वस्तु) को, **एवम् एव**—ऐसे ही, **अयम् पुरुष**—यह जीवात्मा, **प्राज्ञेन**—चिन्मय, ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, **आत्मना**—परमात्मा से, **संपरिष्वक्त**—सर्वात्मना अन्तर्लीन, **न बाह्यम् किंचन वेद न आन्तरम्**—अन्दर-बाहर की (बाह्य जगत् की और अन्दरूनी निज शरीर-सघात की) कुछ भी सुध नही रखता, **तद् वै**—वह ही, **अस्य**—इस (समाहित—मुक्त आत्मा) का, **एतत्**—यह, **आप्तकामम्**—पूर्ण-काम (जिसमें

इस रूप में पहुंच कर, पिता पिता नहीं रहता, माता माता नहीं रहती, दुनिया दुनिया नही रहती, देव देव नहीं रहता, वेद वेद नहीं रहता, चोर चोर नहीं रहता, गर्भघाती गर्भघाती नहीं रहता, जाति-दोष से अपने को दूषित मानने वाला उस दोष से मुक्त हो जाता है, श्रमण श्रमण नहीं रहता, तापस तापस नहीं रहता, इस रूप में पहुंचने पर इसके पीछे पुण्य नहीं आता, पाप नहीं आता, उस समय आत्मा हृदय-समुद्र के सब शोकों को तर कर पार पहुंच चुका होता है ॥२२॥

(इस स्थल पर 'श्रमण'-शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है क्योंकि इस शब्द का प्रचुर प्रयोग बौद्ध-साहित्य मे पाया जाता है ।)

सब चाह पूरी हो गई हैं), **आत्म-कामम्**—जिसमे अपने आत्म-स्वरूप की ही चाहना है, **अकामम्**—(फलत) सब कामनाओ से शून्य, **रूपम्**—(उसका) स्वरूप होता है, **शोक+अन्तरम्**—शोक (दु ख-चिन्ता से) बाह्य—मुक्त ॥२१॥

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कस. श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति ॥२२॥

अत्र—इस (सुषुप्ति, समाधि, मुक्ति) अवस्था मे, **पिता**—पिता (के प्रति), **अपिता**—पितृ-बुद्धि नही रहती, **माता अमाता**—जननी मा मा नही रहती, **लोकाः**—लोक (सामान्य जन), **अलोकाः**—जनता नही रहती, **देवाः अदेवाः**—देवो मे देव-बुद्धि नही रहती, **वेदाः अवेदा.**—वेद (शास्त्र), अवेद हो जाते हैं, **अत्र**—इस (स्थिति) मे, **स्तेनः**—चोर, **अस्तेनः भवति**—चोर नही रहता, **भ्रूणहा**—गर्भघाती, **अभ्रूणहा**—गर्भघाती नही होता, **चाण्डाल. अचाण्डालः**—चाण्डाल अचाण्डाल, **पौल्कमः**—पुल्कस (शूद्र-क्षत्रिया से उत्पन्न) का पुत्र, **अपौल्कस**—अपौल्कम, **श्रमणः**—सन्यासी, **अश्रमणः**—अश्रमण, **तापस**—तपस्वी, **अतापसः**—अतपस्वी (अर्थात् पिता से लेकर तपस्वी तक किसी मे भी तद्-बुद्धि नही रहती, भेद-ज्ञान मिट जाता है, आत्मबुद्धि उत्पन्न हो जाती है), (उस अवस्था) मे **अनन्वागतम्** (न+अनु+आगतम्)—असम्बद्ध, असस्पृष्ट, असपृक्त, अलिप्त, **पुण्येन**—पुण्य (कर्म के सुख-भोग) से, **अनन्वागतम् पापेन**—(और) पाप से भी अलिप्त (हो जाता है), **तीर्णः**—पार पहुचा

सुषुप्त-स्थान में जाकर यह देखता नही, इसका यही अभिप्राय है कि देखता हुआ ही नही देखता, आत्मा तो स्वभाव से ही 'द्रष्टा' है, उसकी दृष्टि का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान में पहुंच कर वह इसलिये नहीं देखता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नही जिसे वह देखे ॥२३॥

सुषुप्त-स्थान में वह सूंघता नहीं, सो सूंघता हुआ ही नहीं सूंघता, आत्मा तो स्वभाव से 'घ्राता' है, उसकी घ्राण-शक्ति का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान में पहुंच कर वह इसलिये नहीं सूंघता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसे वह सूंघे ॥२४॥

(पीछे छोडकर गया), हि—ही, तदा—तव, सर्वान्—सारे, शोकान्—दु ख-चिन्ताओ को, हृदयस्य—हृदय के, भवति—होता है (शोक-सागर से पार उतर जाता है, शोक-मुक्त हो जाता है) ॥२२॥

यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो
विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्त यत्पश्येत् ॥२३॥

यद्—जो, वै—ही, तत्—उसको, न—नही, पश्यति—देखता है, पश्यन् वै—देखता हुआ भी, तत् न पश्यति—उसको नही देखता (इन्द्रिया तो अपना कार्य कर रही होती है, पर आत्मा की उसमे अभिरुचि नही होती अत कहा जाता है कि वह इन्द्रिय-व्यापार नही कर रहा), न—नही, हि—क्योंकि, द्रष्टुः—द्रष्टा (आत्मा) की, दृष्टे.—दर्शन-शक्ति का, विपरिलोपः—पूर्ण अभाव, विद्यते—होता (सभव) है, अविनाशित्वात्—(द्रष्टा के) अनश्वर होने से (दर्शन-शक्ति आदि कभी नष्ट नही हो सकती), न तु—नही तो, तद्—वह, द्वितीयम्—दूसरा, अस्ति—है, तत.—उस (आत्मा) से, अन्यत्—अतिरिक्त, विभक्तम्—पृथक्, यत्—जिसको, पश्येत्—देखे (सुषुप्ति-समाधि-मुक्ति दशा मे आत्म-स्वरूप के अतिरिक्त अन्य का भान नही रहता अत वह 'केवली' होता है, फिर किसको देखे-सुने आदि) ॥२३॥

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो
विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥२४॥

यद् वै—जो तो, तत्—उसको, न—नही, जिघ्रति—सूघता है (वस्तुत), जिघ्रन् वै तत् न जिघ्रति—उसको सूघता हुआ भी नही सूघ रहा होता, न हि—क्योंकि नही, घ्रातु—सूघने वाले (आत्मा) की, घ्राते.—घ्राण-शक्ति

सुषुप्त-स्थान में वह रस नहीं लेता, सो रस लेता हुआ ही रस नहीं लेता, आत्मा तो स्वभाव से 'रसयिता' है, उसकी रसना-शक्ति का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान में पहुंच कर वह इसलिये रस नही लेता क्योकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नही जिसका वह रस ले ॥२५॥

सुषुप्त-स्थान में वह बोलता नहीं, सो बोलता हुआ ही नहीं बोलता, आत्मा तो स्वभाव से 'वक्ता' है, उसकी वाक्-शक्ति का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान में पहुंच कर वह इसलिये नहीं बोलता क्योकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नही जिसके विषय में वह बोले ॥२६॥

सुषुप्त-स्थान में वह सुनता नहीं, सो सुनता हुआ ही नही सुनता, आत्मा तो स्वभाव से 'श्रोता' है, उसकी श्रवण-शक्ति का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान में पहुंच कर

का, **विपरिलोपः**—पूर्ण अभाव, **विद्यते**—सभव है, **अविनाशित्वात्**—(घ्राता के) अविनाशी होने के कारण, **न तु यत्**—अर्थ पूर्ववत्, **जिघ्रेत्**—सूघे ॥२४॥

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते नहि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो
विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्त यद्रसयेत् ॥२५॥

यद् वै—जो तो, **तत् न रसयते**—उसको नही चाखता, **रसयन् वै**—चाखता हुआ ही, **तत् न रसयते**—उसको (वास्तव मे) नही चाख रहा होता, **न हि रसयितु**—क्योकि रस (स्वाद) लेनेवाले आत्मा की, **रसयतेः**—रसना-शक्ति का, **विपरिलोपः विद्यते**—पूर्णतया अभाव सभव है, **अविनाशित्वात् यत्**—अर्थ पूर्ववत्, **रसयेत्**—चाखे ॥२५॥

यद्वै तन्न वदति वदन्वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो
विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्त यद्वदेत् ॥२६॥

यद् वै—जो तो, **तत् न वदति**—उसको (से) नही बोलता है, **वदन् वै तत् न वदति**—बोलता हुआ ही वस्तुत उससे नही बोलता है, **न हि वक्तु**—क्योकि नही वक्ता (आत्मा) की, **वक्तेः**—वाक्-शक्ति का, **विपरिलोप यद्**—अर्थ पूर्ववत्, **वदेत्**—बोले, बात करे ॥२६॥

यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो
विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात् ॥२७॥

यद् वै—जो तो, **तत् न शृणोति**—उसको नही सुनता है (वस्तुत),

वह इसलिये नहीं सुनता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसे वह सुने ॥२७॥

सुषुप्त-स्थान में वह मनन नहीं करता, सो मनन करता हुआ ही मनन नहीं करता, आत्मा तो स्वभाव से 'मन्ता' है, उसकी मनन-शक्ति का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान में पहुंचकर वह इसलिये मनन नहीं करता क्योकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसका वह मनन करे ॥२८॥

सुषुप्त-स्थान में वह स्पर्श नहीं करता, सो स्पर्श करता हुआ ही स्पर्श नहीं करता, आत्मा तो स्वभाव से 'स्प्रष्टा' है, उसकी स्पर्श-शक्ति का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान मे पहुंच कर वह इसलिये स्पर्श नहीं करता क्योकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नहीं जिसे वह स्पर्श करे ॥२९॥

सुषुप्त-स्थान में उसे कोई ज्ञान नहीं होता, सो ज्ञान होते हुए

शृण्वन् वै तत् न शृणोति—सुन तो रहा होता है पर उसको नही सुनता, न हि श्रोतु.—क्योकि नही श्रोता (आत्मा) की, श्रुते.—श्रवण-शक्ति का, विपरिलोपः यत्—अर्थ पूर्ववत्, शृणुयात्—श्रवण करे ॥२७॥

यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो
विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥२८॥

यद् वै—जो तो, तत् न मनुते—उसका मनन–चिन्तन नही करता है, मन्वानः वै—(वास्तव में) मनन-चिन्तन करता हुआ भी, तत् न मनुते—उसका मनन-चिन्तन नही करता, न हि मन्तुः—क्योकि नही मन्ता (मनन-चिन्तन करनेवाले आत्मा) की; मतेः—मनन-शक्ति का, विपरिलोपः यत्—अर्थ पूर्ववत्, मन्वीत—मनन करे ॥२८॥

यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन्वै तन्न स्पृशति नहि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो
विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत् ॥२९॥

यद् वै—जो तो, तत् न स्पृशति—उसको नही छूता है, स्पृशन् वै—छूता हुआ ही, तत् न स्पृशति—उसको नही छूता, न हि स्प्रष्टुः—क्योकि नही स्प्रष्टा (स्पर्श करनेवाले आत्मा) की, स्पृष्टे—स्पर्श-शक्ति (इन्द्रिय) का, विपरिलोप. यत्—अर्थ पूर्ववत्, स्पृशेत्—छूवे ॥२९॥

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न
हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न
तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥३०॥

ही ज्ञान नहीं होता, आत्मा तो स्वभाव से 'विज्ञाता' है, उसके ज्ञान का लोप थोड़े ही हो सकता है, आत्मा तो अविनाशी है। उस स्थान में पहुंच कर उसे इसलिये ज्ञान नहीं होता क्योंकि उसके अतिरिक्त वहां दूसरा-कुछ होता ही नही जिसे वह जाने ॥३०॥

यदि उससे अतिरिक्त वहां दूसरी कोई वस्तु हो, या दूसरी वस्तु के होने की जरा-सी गुंजाइश भी हो, तभी तो कोई किसी को देखे, कोई किसी को सूंघे, कोई किसी को चखे, कोई किसी से बात करे, कोई किसी को सुने, कोई किसी को सोचे, कोई किसी को छुये, कोई किसी को जाने-पहचाने ॥३१॥ (जैसे 'स्वय-ज्योति', सूर्य विपयो के होने पर उन्हे प्रकाशित करता है, विषय न हो, तो स्वय प्रकाशमान रहता है, वैसे 'स्वय-ज्योति' आत्मा जाग्रत् तथा स्वप्न मे इन्द्रियो के विषयो को प्रकाशित करता है, सुपुप्ति मे 'स्वय-ज्योति' रूप मे विराजता है।)

जैसे समुद्र में सब नदियां आकर एक हो जाती है, वैसे आत्मा में इन्द्रियां आकर एक हो जाती है, इन्द्रियों की पृथक्-पृथक्

यद् वै—जो तो, **तत् न विजानाति**—उसको नही जानता, **विजानन् वै तत् न विजानाति**—उसको जानता हुआ ही उसको नही जानता है, **न हि विज्ञातु**—क्योकि नही विज्ञाता (ज्ञान करनेवाले आत्मा) की, **विज्ञातेः**—ज्ञान-शक्ति (वुद्धि) का, **विपरिलोपः यत्**—अर्थ पूर्ववत्, **विजानीयात्**—ज्ञान करे ॥३०॥

यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्य-द्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ॥३१॥

यत्र वा—जहा तो, **अन्यद् इव**—दूसरे जैसा, अपने से भिन्न, **स्यात्**—होवे, **तत्र**—वहा, उस अवस्था मे, **अन्य**—एक, **अन्यत्**—दूसरे को, **पश्येत्**—देखे, देख सकता है, **अन्यः अन्यद् जिघ्रेत्**—एक दूसरे को सू घ सकता है, **अन्यः अन्यद् रसयेत्**—कोई एक अपने से भिन्न को चाख सकता है, **अन्यः अन्यद् वदेत्**—एक दूसरे से वोल सकता है, **अन्य. अन्यत् शृणुयात्**—एक अन्य के कहे को सुन सकता है, **अन्य. अन्यत् मन्वीत**—एक कोई दूसरे की (वात का) मनन-चिन्तन कर सकता है, **अन्यः अन्यत् स्पृशेत्**—एक दूसरे को छू सकता है, **अन्य' अन्यद् विजानीयात्**—एक दूसरे को जान सकता है ॥३१॥

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोक. सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥३२॥

शक्तियां नहीं, आत्मा की एक चेतन-शक्ति ही नाना-रूप धारण कर रही है। जैसे समुद्र के बीच में पहुंच कर चारो तरफ सलिल-ही-सलिल रह जाता है, और कुछ नहीं रहता, इसी प्रकार सुषुप्ति में पहुंच कर आत्मा-ही-आत्मा रह जाता है, और कुछ नहीं रहता। उस समय एक 'द्रष्टा' रहता है, 'अद्वैत'—उसके बिना दूसरा नहीं होता। याज्ञवल्क्य ने कहा, हे सम्राट्! सुषुप्ति में आत्मा के जिस स्वरूप की मैंने आपको झांकी दिखलाई यह ब्रह्म-लोक की झांकी है, आत्मा के यथार्थ स्वरूप की यह हल्की-सी झलक है। जब वह अपने यथार्थ रूप को प्राप्त कर लेता है, तो वही इसकी परम-गति है, वही इसकी परम-संपद् है, यह इसका परम-लोक है, यही इसका परम-आनन्द है। ससार के प्राणी जिस आनन्द का उपभोग करते है, वह ब्रह्म-ज्ञानी के परम-आनन्द की छोटी-छोटी मात्रा का ही उपभोग करते है—'एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' ॥३२॥

मनुष्यो में जो अंग-अंग में ऋद्ध—हृष्ट-पुष्ट है, समृद्ध है, भोग-सामग्री से युक्त है, दूसरो का अधिपति है, सब मानुष-भोगो से

सलिलः—जल की तरह स्वच्छ, निर्लेप, या समुद्र के समान एकरस, एकः—एक (एकाकी), द्रष्टा—साक्षी, अद्वैतः—दूसरे के ससर्ग से रहित, केवली, भवति—होता है, एषः—यह, ब्रह्मलोकः—ब्रह्म के लोक (स्थिति) वाला (उस समय उसे ब्रह्म का साक्षात्कार होता है), सम्राड्—हे महाराज, इति ह एनम्—इस प्रकार इस (राजा जनक) को, अनुशशास—गुह्य उपदेश दिया, याज्ञवल्क्यः—याज्ञवल्क्य ने, एषा—यह, अस्य—इस (जीवात्मा) की, परमा गतिः—श्रेष्ठ गति (स्थिति, प्राप्तव्य, पहुच) है, एषा—यह, अस्य—इस (आत्मा) की, परमा—श्रेष्ठ, सर्वोत्तम, संपद्—सम्पत्ति (सग्राह्य धन) है, एषः—यह ही, अस्य—इस (जीवात्मा) का, परमः—सर्वोत्तम, लोकः—लोक (प्राप्तव्य स्थान) है, एषः अस्य परमः—यह ही इसका सर्वोत्तम, आनन्दः—आनन्द (सुख-भोग) है, एतस्य एव आनन्दस्य—इस ही आनन्द की, अन्यानि—दूसरे (बद्ध), भूतानि—प्राणि-मात्र, मात्राम्—अशमात्र को, उपजीवन्ति—भोग करते है (जैसा कि आगे वर्णन किया गया है) ॥३२॥

स यो मनुष्याणाँ राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितृणां जितलोकाना-

सम्पन्न है, उस व्यक्ति को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह मनुष्यों का परम-आनन्द कहलाता है। यह 'मानुष-आनन्द' आनन्द की एक इकाई (Unit of Happiness) है। इस प्रकार के सौ 'मानुष-आनन्दो' से लोक-लोकान्तरों को जीतने वाले 'पितरों' (Elders) का एक आनन्द बनता है। लोक-लोकान्तरों को जीतने वाले विश्व-विजयी पितरों के सौ आनन्दों से 'गन्धर्वों' का एक आनन्द बनता है। सौ गन्धर्व-लोकों के आनन्द से 'कर्म-देवो' का, जो कर्म से देवत्व प्राप्त करते हैं, उनका एक आनन्द बनता है। सौ कर्म-देवों के आनन्द से 'जन्म-देवो' का, जो जन्म से ही दिव्य-गुण लेकर पैदा होते हैं, उनका एक आनन्द बनता है। श्रोत्रिय, पाप-रहित तथा कामना से न बिंधे हुए व्यक्ति को भी ऐसा ही आनन्द प्राप्त होता है। सौ 'जन्म-देवो' के आनन्द से 'प्रजापति-लोक' का एक आनन्द बनता है। श्रोत्रिय, पाप-रहित तथा कामना से न बिंधे हुए व्यक्ति को भी ऐसा ही आनन्द प्राप्त होता है। सौ प्रजापति-लोकों के आनन्द से एक 'ब्रह्म-लोक' का आनन्द बनता है। श्रोत्रिय, पाप-रहित तथा कामना से न बिंधे हुए व्यक्ति को भी ऐसा ही आनन्द प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा, हे सम्राट् ! ब्रह्म-ज्ञानी के जिस परम-आनन्द का मैंने वर्णन

मानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शत गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसपद्यन्तेऽथ ये शत कर्म-देवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनो-ऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दा. स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोक. सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्य. सोऽह भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो माऽन्तेभ्य उदरौत्सीदिति ॥३३॥

सः य.—वह जो, मनुष्याणाम्—मनुष्यो का (मे), राद्ध.—ससिद्ध (स्वस्थ, अविकल शरीरवाला); समृद्धः—धन-धान्य से भरा-पूरा, भवति—होता है, अन्येषाम्—दूसरों का, अधिपतिः—स्वामी, शासक, पालयिता, सर्वैः—सारे, मानुष्यकै.—मनुष्यो के, भोगै'—भोग-सामग्री से, सम्पन्नतमः—सब से अधिक सम्पन्न, स.—वह, मनुष्याणाम्—मनुष्यो का (के लिए);

किया उसका यह स्वरूप है, यह ब्रह्म-लोक का आनन्द है (तैत्तिरीय, ब्रह्मानन्द वल्ली, ८ अनुवाक) ।

यह उपदेश सुनकर विदेहराज जनक ने कहा, मैं आप के इस उपदेश के लिये एक सहस्र गायें भेंट करता हूं, आप मुझे इसके आगे भी 'मोक्ष' का ही उपदेश दें । विदेह-राज की इस उत्कट ज्ञान-पिपासा को देख कर याज्ञवल्क्य डर गये । उन्होंने मन-ही-मन कहा, मेधावी राजा ने तो मुझे सब रहस्य खोल देने के लिये मजबूर कर दिया ॥३३॥

परमः आनन्दः—परम सुख है, **अथ**—और, **ये**—जो, **शतम्**—सख्या मे सौ, **मनुष्याणाम् आनन्दाः**—मनुष्यो के आनन्द है, **स**—वह (वे सब मिलकर), **एकः**—एक, **पितृणाम्**—पितरो के, **जितलोकानाम्**—लोक-जयी, **आनन्दः**—आनन्द है, **अथ ये शतम् पितृणाम् जितलोकानाम् आनन्दाः**—और वे जो लोक-जयी पितरो के सौ आनन्द हैं, **स एक· गन्धर्वलोके आनन्दः**—वह गन्धर्व-लोक मे एक आनन्द है, **अथ ये शतम् गन्धर्व-लोके आनन्दाः**—और जो गन्धर्व-लोक मे सौ आनन्द है, **स. एकः**—वह एक, **कर्मदेवानाम्**—कर्म-देवों का, **आनन्दः**—आनन्द है, **ये**—जो, **कर्मणा**—उत्तम कर्म द्वारा, **देवत्वम्**—देव-पद को, **अभिसंपद्यन्ते**—प्राप्त होते है, **अथ ये शतम् कर्मदेवानाम् आनन्दाः**—और जो कर्म-देवो के सौ आनन्द हैं, **सः एकः**—वह एक, **आजानदेवानाम्**—जन्म-जात देवो का, **आनन्द**—आनन्द है, **यः च**—और जो, **श्रोत्रियः**—वेदज्ञ, **अवृजिनः**—निष्पाप, **अकामहतः**—जिसे काम ने नही सताया, इन्द्रिय-जयी है (उसको भी यह आनन्द प्राप्त होता है), **अथ ये शतम् आजानदेवानाम् आनन्दाः**—और जो सौ आजान-(जन्मजात) देवो के आनन्द है, **सः एकः प्रजापति-लोके आनन्दः**—वह प्रजापति-लोक मे एक आनन्द है, **यश्च हत**—अर्थ पूर्ववत्, **अथ ये शतम् प्रजापति-लोके आनन्दाः**—और प्रजापति-लोक मे जो सौ आनन्द हैं, **सः एकः ब्रह्म-लोके आनन्दः**—वह ब्रह्म-लोक मे (ब्रह्म साक्षात्कार होने पर) एक आनन्द है, **य. च हत**—अर्थ पूर्ववत्, **अथ**—और, **एषः एव**—यह ही, **परमः आनन्दः**—सर्वोत्तम आनन्द है (इससे बढकर कोई आनन्द नही), **एषः ब्रह्मलोकः**—यह ही ब्रह्मलोक है; **सम्राड्**—हे सम्राट्, **इति ह उवाच याज्ञवल्क्य.**—याज्ञवल्क्य ने यह निरुपण किया, **सः अहम् ब्रूहि इति**—अर्थ पूर्ववत्, **अत्र ह**—और यहा ही (इस विषय मे), **याज्ञवल्क्य**—याजवल्क्य, **बिभयाचकार**—भयग्रस्त हो गया, स्तब्ध हो गया, **मेधावी**—बुद्धिमान्, चतुर, **राजा**—राजा (जनक) ने, **सर्वेभ्य.**—सारे, **मा**—मुझ को, **अन्तेभ्य**—लोको के या वेदान्त-सार के ज्ञान के लिए, **उदरौत्सीत्**—बाधित (मजबूर) कर दिया, **इति**—इस (कारण डरा) ॥३३॥

याज्ञवल्क्य ने फिर कहना शुरू किया, हे राजन् ! 'स्वप्न-स्थान' में रमण कर, भ्रमण कर, पुण्य-पाप को देख कर आत्मा जिस मार्ग से गया था, उसी मार्ग से 'जाग्रत्-स्थान' में लौट आता है ॥३४॥

सो, जैसे लदी हुई गाड़ी ठिकाने पहुंच कर अपना बोझ उतार देती है, इसी प्रकार जाग्रत्-रूपी यात्रा के अन्त-काल में, ऊंचा सांस लेकर, प्राज्ञ-आत्मा से लदी हुई यह शरीर की गाड़ी अपनी सवारी को उतार देती है—आत्मा तो इस शरीर-रूपी गाड़ी की सवारी कर रहा है ॥३५॥

जब यह शरीर कृशता की तरफ चल देता है, बुढ़ापे से या बीमारी से कृशता में जा डूबता है, तब जैसे आम, गूलर या पीपल का फल अपनी टहनी से टपक पड़ता है, वैसे यह पुरुष अपने भिन्न-भिन्न अंगों

स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्य
च पाप च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥३४॥

सः वै एषः बुद्धान्ताय एव—अर्थ १६वी कण्डिका (मन्त्र) के अनुसार जानें ॥३४॥

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायं शारीर आत्मा
प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥३५॥

तद् यथा—तो जैसे, **अनः**—भार-लदी गाडी, **सुसमाहितम्**—ठीक प्रकार से रखे सामान वाली, **उत्सर्जत्**—(पडाव पर सामान को) छोडती हुई (उतारती हुई), **यायात्**—जावे (चलती है), **एवम् एव**—इस प्रकार ही, **अयम्**—यह, **शारीरः**—शरीरधारी, **आत्मा**—जीव, **प्राज्ञेन**—प्रज्ञा (बुद्धि समझदारी, दूरदर्शिता) से युक्त, प्रज्ञा का अधिष्ठाता, **आत्मना**—आत्म-स्वरूप से, **अनु+आरूढः**—नियन्त्रित, **उत्सर्जत्**—(पाप-पुण्य के दु ख-सुख रूप भोगो को भोगकर) उन्हे छोडता हुआ, **याति**—(अगले लोक-जन्म) को चल पडता है, **यत्र**—जिस अवस्था मे, **एतद्**—यह, **ऊर्ध्व+उच्छ्वासी**—लम्बे (उलटे) सास लेनेवाला, **भवति**—होता है ॥३५॥

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाणिमानं निगच्छति
तद्यथाम्रं वौदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष
एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥३६॥

सः—वह (शारीर-आत्मा), **यत्र**—जहा, जिस समय, **अणिमानम्**—सूक्ष्मता को, कमजोरी को, **नि+एति**—प्राप्त होता है, **जरया वा**—या तो

से छूट जाता है, और जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग को, फिर अपनी योनि के प्रति प्राण धारण करने के लिये चल देता है। जैसे इस जीवन में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में आता-जाता था, वैसे इस शरीर को छोड़ कर नवीन योनियों के आवागमन के मार्ग पर चल देता है ॥३६॥

जैसे राजा आ रहा हो तो पुलिस, मैजिस्ट्रेट, घोड़ों वाले, गांवों के मुखिया, अन्न-पान और डेरे लेकर उसकी राह देखते हैं--यह आ रहा है, यह आया--कहकर उसकी प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही ब्रह्म-ज्ञान के रहस्य को जानने वाले के स्वागत में सब प्राणी और सब महाभूत टकटकी लगाये खड़े रहते हैं, कहते हैं, यह ब्रह्म आया--यह ब्रह्म अर्थात् महान् व्यक्ति--महात्मा आया ॥३७॥

वृद्धता के द्वारा, **उपतपता वा**—या उपताप (ज्वर आदि रोग) द्वारा, **अणिमानम्**—निर्बलता को, **निगच्छति**—पहुच जाता है, **तद्**—तो, उस समय, **यथा**—जैसे, **आम्रम् वा**—(पका) आम, **औदुम्बरम् वा**—या गूलर, **पिप्पलम् वा**—या पीपली (पीपल का फल), **बन्धनात्**—बन्धन (डठल) से, **प्रमुच्यते**—छुट जाता है, **एवम् एव अयम्**—इस प्रकार ही यह, **पुरुष**—देही आत्मा, **एभ्यः**—इन, **अङ्गेभ्य**—अगो (शरीर–अवयवो) से, **संप्रमुच्य**—छुटकर, अलग होकर, **पुन**—फिर, **प्रतिन्यायम्**—जिस मार्ग से इस देह मे आया था उस ही ओर, **प्रतियोनि**—अपनी (कर्म-फल-प्राप्त) योनि की ओर, **आद्रवति**—बढने लगता है, **प्राणाय**—पुन प्राण (जीवन-धारण) के लिए, **एव**—ही ॥३६॥

तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनस· सूतग्रामण्योऽन्नैः पानै-
रावसथै· प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवॅ हैवंविदॅ
सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति ॥३७॥

तद् यथा—तो जैसे, **राजानम्**—राजा के प्रति (पास), **आयान्तम्**—(गाव मे) आते हुए, **उग्रा**—क्षत्रिय, राजकर्मचारी, **प्रत्येनसः**—एनस् (पाप) का नियमन करनेवाले दण्डाधिकारी, **सूत-ग्रामण्यः**—सारथि या जाति–विशेष तथा ग्राम के मुखिया (पच), **अन्नैः**—भोजन से, **पानै**—पेय पदार्थो से, **आवसथैः**—निवास-स्थान द्वारा, **प्रतिकल्पन्ते**—प्रतीक्षा करते हैं, **अयम् आयाति**—यह आ रहा है, **अयम् आगच्छति**—यह आ रहा है, **इति**—इस रूप मे, **एवम् ह**—इस ही प्रकार, **एवविदम्**—इस प्रकार (इस रहस्य को) जाननेवाले के प्रति, **सर्वाणि भूतानि**—सारे प्राणी, **प्रतिकल्पन्ते**—कल्पना कर प्रतीक्षा करते है, **इदम्**—यह, **ब्रह्म**—ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मविद्, महान् आत्मा, **आयाति**—आ रहा है, **इदम् आगच्छति**—यह आ पहुचा, **इति**—ऐसे ॥३७॥

और, जब राजा जाने लगता है तब जैसे पुलिस, मैजिस्ट्रेट, नम्बरदार जमा हो जाते हैं, इसी प्रकार अन्तकाल में जब यह ऊंचा सांस लेने लगता है तब सब इन्द्रियां आकर इकट्ठी हो जाती हैं, और यह अपनी महा-यात्रा पर चल देता है ॥३८॥

चतुर्थ अध्याय——(चौथा ब्राह्मण)

(पुनर्जन्म का वर्णन)

जब शरीर दुर्बल हो जाता है, मन बेखबरी की हालत में आ जाता है, तब इन्द्रियां इकट्ठी होकर आत्मा के पास पहुंचती हैं। वह इनमें से तेज की मात्रा को जिसके कारण ये काम करती थीं खींच लेता है, और उस तेज को, जो वास्तव में इसी का था, अपने साथ लेकर हृदय-प्रदेश में उतर आता है। चक्षु में बैठा हुआ पुरुष

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेम-मात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥३८॥

तद् यथा——तो जैसे, **राजानम्**——राजा को, **प्रयियासन्तम्**——वापिस लौट-कर जाने की इच्छावाले, **उग्राः**——राज-कर्मचारी, **प्रत्येनसः**——दण्डाधिकारी, **सूत-ग्रामण्यः**——सूत और ग्राम के मुखिया, **अभिसमायन्ति**——सब ओर से आकर घेर लेते हैं, **एवम् एव**——इस प्रकार ही, **इमम् आत्मानम्**——इस आत्मा को, **अन्तकाले**——मृत्यु-समय मे, **सर्वे प्राणाः**——सारे प्राण (इन्द्रिया), **अभिसमायन्ति**——घेर लेते है, पास आ जाते है, **यत्र**——जिस समय, जहा, **एतद्**——यह, **ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवति**——लम्बे गहरे (उलटे) सास लेने लगता है ॥३८॥

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्यसमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभि-समायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्वव-क्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥१॥

सः——वह, **यत्र**——जहा, जिस समय, **अयम्**——यह, **आत्मा**——देह-धारी जीव-आत्मा, **अबल्यम्**——निर्बलता को, **नि+एति**——प्राप्त होता है, **असंमोहम् इव**——मूर्छा-सी (बेहोशी-सी), **न्येति**——पाता है (बेहोश-सा हो जाता है), **अथ**——तो, **एनम्**——इस (आत्मा) को, **एते**——ये, **प्राणाः**——दश प्राण एव इन्द्रिया, **अभिसमायन्ति**——इसे घेर लेती हैं (अपना-अपना कार्य छोड देती है), **सः**——वह (आत्मा), **एताः**——इन, **तेजोमात्रा**——(प्राण-इन्द्रियों के) तेज (शक्ति, कृति) के अशो को, **समभ्याददानः**——लेता (खीचता) हुआ, **हृदयम्**——(अपने निवास-स्थान) हृदय को, **एव**——ही, **अनु+अवक्रामति**——

जब अन्दर से बाहर जाता है तब देखता-सुनता है, परन्तु जब बाहर से अन्दर को लौट आता है तब देखता-सुनता नहीं, किसी रूप का इसे ज्ञान नहीं रहता, तब यह अरूपज्ञ हो जाता है ॥१॥

जब अपनी शक्तियों को बाहर बखेरने के बजाय वह उन्हें भीतर खींच लेता है, समेट लेता है, तब वह मानो अनेकता से एकता में पहुंच जाता है। मृत्यु के समय जब वह अपनी शक्तियों को समेट कर एकीभूत हो जाता है, तब लोग कहते हैं, वह देख नहीं रहा; वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं, वह सूंघ नहीं रहा; वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं, वह चख नहीं रहा; वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं, वह बोल नहीं रहा; वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं, वह सुन नहीं रहा; वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं, वह सोच नहीं रहा; वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं, वह छू नहीं रहा; वह एकीभूत हो जाता है, लोग कहते हैं, वह जान नहीं रहा। उस समय

चला जाता है, प्रवेश कर जाता है, **सः**—वह, **यत्र**—जहा, जब, **एषः**—यह, **चाक्षुषः**—चक्षु (नेत्र) से कार्य लेनेवाला, नेत्राभिमुख, **पुरुषः**—जीव, **पराङ्**—भीतर की ओर (अन्तर्मुख), **पर्यावर्तते**—लौट कर चला जाता है, **अथ**—तो, **अरूपज्ञः**—(चक्षु के विषय) रूप को न जाननेवाला, **भवति**—हो जाता है (रूप को नही देख सकता) ॥१॥

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति। तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥२॥

एकी भवति—एक (अन्तर्मुख होकर बाह्य विषयों से विमुख) हो जाता है, केन्द्रित हो जाता है, **न पश्यति इति आहुः**—अब यह नही देखता (देख पा रहा) ऐसा लोग कहते है, **न जिघ्रति**—नही सूघता, **न रसयते**—नही स्वाद को जान पा रहा है, **न वदति**—बोल सकता है, **न शृणोति**—नही सुनता है, **न मनुते**—मनन-चिन्तन नही करता, **न स्पृशति**—नही छूता, **न विजानाति**—नही जान पा रहा, **तस्य ह एतस्य**—उस इस, **हृदयस्य**—

वह हृदय के अग्र-प्रदेश में, जहां से 'हिता'-नामक नाड़ियां हृदय से ऊपर को जाती है, आ जाता है, हृदय का अग्र-प्रदेश आत्मा की ज्योति से प्रकाशित हो उठता है (बृहदा० २-१-१९, ४-२-३, ४-३-२०)। इस ज्योति के साथ आत्मा चक्षु से, मूर्धा से, या शरीर के किसी अन्य प्रदेश से निष्क्रमण कर देता है। उसके निकलने के साथ-साथ 'प्राण' पीछे-पीछे निकलते है, प्राण के निकलने के साथ-साथ 'इन्द्रियां' पीछे-पीछे निकलती है। जीव मरते समय 'सविज्ञान' हो जाता है, अर्थात् जीवन का सारा खेल इसके सामने आ जाता है। यह 'विज्ञान' उसके साथ-साथ जाता है। 'विद्या', 'कर्म' और 'पूर्व-प्रज्ञा'—ये तीनो भी इसके साथ जाते है ॥२॥

जैसे तृण-जलायुका—सुंडी—तिनके के अन्त पर पहुंच कर, दूसरे तिनके को सहारे के तौर पर पकड़ कर, अपने-आप को खींच लेती है, इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर-रूपी तिनके को परे फेंक

हृदय का; **अग्रम्**—अग्रभाग (उपरला सिरा), **प्रद्योतते**—प्रकाशित होता है, **तेन**—उस, **प्रद्योतेन**—प्रकाश से (के साथ), **एषः आत्मा**—यह जीव, **निष्क्रामति**—निकल जाता है, **चक्षुष्टः वा**—या तो आख से, **मूर्ध्नः वा**—या मस्तक से, **अन्येभ्यः वा**—या दूसरे, **शरीर-देशेभ्यः**—शरीर के अययवो से, **तम् उत्क्रामन्तम्**—उसके निकलने पर, **प्राणः**—श्वास-प्रश्वास, **अनु**—वाद मे, **उत्क्रामति**—बाहर निकल जाता है, **प्राणम् अनु+उत्क्रामन्तम्**—प्राण के निकलने के पीछे, **सर्वे**—सारे, **प्राणाः**—प्राण (इन्द्रिया), **अनूत्क्रामन्ति**—वाहर निकल जाते हैं, **सविज्ञानः**—ज्ञान के सहित, **भवति**—हो जाता है, **सविज्ञानम्**—ज्ञान के सहित होकर, **एव**—ही, **अनु+अवक्रामति**—निकल कर आगे वढता है, **तम्**—उस (परलोक-गामी आत्मा) को (का), **विद्या-कर्मणी**—ज्ञान और कर्म, **सम्+अनु+आरभेते**—साथ गमन करते हैं (उसके साथ रहते है), **पूर्व-प्रज्ञा च**—और पहले जन्मों की प्रज्ञा (बुद्धि, वासना-स्मृति-सस्कार) ॥२॥

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्या-
त्मानमुपसं्हरत्येवमेवायमात्मेदं् शरीरं निहत्याऽविद्यां
गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसं्हरति ॥३॥

तद् यथा—तो जैसे, **तृणजलायुका**—तिनके की जोक, **तृणस्य**—तिनके के, **अन्तम्**—सिरे पर, **गत्वा**—जाकर, पहुच कर, **अन्यम्**—दूसरे, **आक्रमम्**—आश्रयभूत तिनके को (पर), **आक्रम्य**—चढकर, पहुच कर, **आत्मानम्**—अपने आपको, **उपसंहरति**—समेट लेती है, **एवम् एव**—ऐसे ही, **अयम् आत्मा**

कर, अविद्या को दूर कर, दूसरे शरीर-रूपी तिनके का सहारा लेकर अपने-आप को खीच लेता है ।।३।।

जैसे सुनार सोने की एक मात्रा लेकर उसी से नवतर और कल्याणतर रूप बना देता है, इसी प्रकार यह आत्मा, इस शरीर को परे फेंक कर, अविद्या को दूर कर, दूसरा नवतर और कल्याणतर रूप बना देता है—पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्म वा अन्य भूतों में से किसी रूप को अपनी 'विद्या'-'कर्म'-'पूर्व-प्रज्ञा' के अनुसार धारण करता है ।४।।

यह 'आत्म-ब्रह्म' जिस-जिस के साथ अपने संबंध को जोड़ता है उसी-उसी का रूप हो जाता है । 'विज्ञान', अर्थात् बुद्धि के साथ जुड़ता

—यह आत्मा, **इदम् शरीरम्**—इस शरीर को, **निहत्य**—त्याग कर, **अविद्याम् गमयित्वा**—(उस शव को) अज्ञानमय (ज्ञान-शून्य) करके, **अन्यम्**—दूसरे, **आक्रमम्**—आश्रयभूत (नव-शरीर) को, **आक्रम्य**—पहुच कर, **आत्मानम्**—अपने आपको, **उपसंहरति**—समेट लेता है (गर्भ व शैशव अवस्था मे ज्ञान-कर्म का विशेप उपयोग नही करता) ।।३।।

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वा-ऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ।।४।।

तद् यथा—तो जैसे, **पेशस्कारी**—सुवर्णकार, **पेशसः**—सुवर्ण की, **मात्राम्**—अश (परिमाण) को, **अपादाय**—अलग लेकर, **अन्यत्**—दूसरे, **नवतरम्**—अधिक नये, **कल्याणतरम्**—अधिक सुन्दर, **रूपम्**—रूप (दर्शनीय आकृति) को, **तनुते**—करता है, बढाता है, **एवम् एव अयम् आत्मा**—ऐसे ही यह आत्मा; **इदम् शरीरम् निहत्य**—इस शरीर को त्याग कर, **अविद्याम् गमयित्वा**—उसे ज्ञान-चेष्टा से शून्य कर, **अन्यत्**—दूसरे, **नवतरम्**—अधिक नये, **कल्याणतरम्**—अधिक कल्याण साधक, **रूपम्**—स्वरूप (शरीर) को, **कुरुते**—(धारण) करता है, **पित्र्यम् वा**—चाहे पितृलोक का, **गान्धर्वम् वा**—या गन्धर्व-लोक का, **दैवम् वा**—या देव-लोक का, **प्राजापत्यम् वा**—या प्रजापति-लोक का, **ब्राह्मम् वा**—या ब्रह्म-लोक का, **अन्येषाम् वा**—या (इनसे) अन्य, **भूतानाम्**—प्राणियो का ।।४।।

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्य-

है, तो विज्ञानमय हो जाता है; 'मन' के साथ जुड़ता है, तो मनोमय हो जाता है; इसी प्रकार 'प्राण', 'चक्षु', 'श्रोत्र' के साथ जुड़ने से यह प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय हो जाता है। भूतों के साथ अपने को जोड़ता है, तो पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय हो जाता है। जिसके साथ अपने को जोड़ता है, उसी का रूप हो जाता है; उनसे अपने को हटा लेता है, तो उस रूप को छोड़ देता है। तेज के साथ अपने को एक कर दे, तो तेजोमय, उससे अपने को हटा ले, तो अतेजोमय; कामना की डोरी में खिंचा रहे, तो काममय, उससे अपने को छुड़ा ले, तो अकाममय; क्रोध में डूब जाय, तो क्रोधमय, उससे अलग हो जाय, तो अक्रोधमय; धर्म में लीन हो जाय, तो धर्ममय, उससे दूर हट जाय, तो अधर्ममय—आत्मा तो सर्वमय है। आत्मा 'इदंमय'-'अदोमय', 'यह रूप'-'वह रूप'—क्यों है ? क्योंकि यह जैसा कर्म और आचरण करता है वैसा ही हो जाता है, अच्छे कर्म करने से अच्छा और बुरे कर्म करने से बुरा, पुण्य-कर्मों से पुण्यात्मा, पाप-कर्मों से पापात्मा। यह सब देखकर यह कहना अधिक उपयुक्त है कि आत्मा 'काममय' है—'काममय एवायं पुरुषः', क्योंकि जैसी

देतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥५॥

सः वै अयम् आत्मा—वह यह आत्मा, **ब्रह्म**—बडा, सर्वश्रेष्ठ (ब्रह्म के अधिक निकट) है, **विज्ञानमयः**—बुद्धि (ज्ञान) से युक्त, विज्ञाता, **मनोमयः**—मन्ता, **प्राणमयः**—घ्राता, **चक्षुर्मयः**—द्रष्टा, **श्रोत्रमयः**—श्रोता, **पृथिवीमयः**—पृथ्वी-तत्त्व का उपयोक्ता, **आपोमय**—जलमय, **वायुमयः**—वायुमय, **आकाशमयः**—आकाशमय, **तेजोमयः**—तेजो (अग्नि) मय, **अतेजोमयः**—विना तेज के भी विद्यमान, **काममयः**—कामना करनेवाला, **अकाममयः**—निष्काम, **क्रोधमयः**—क्रोधी, **अक्रोधमयः**—शान्त, **धर्ममय**—धर्म का अनुष्ठाता, **अधर्ममयः**—कभी धर्म की उपेक्षा करनेवाला, **सर्वमयः**—सब से सम्बद्ध, **तद् यद् एतद्**—तो जो यह, **इदंमयः**—इस (पृथ्वीलोक, इह-लोक इस जन्म) से सम्बद्ध, **अदोमयः**—उस (आदित्य लोक, पर-लोक, पर जन्म) से सम्बन्धित, **इति**—ऐसे, **यथाकारी**—जैसे कार्य करनेवाला, **यथा+आचारी**—जैसे आचरण करनेवाला, **भवति**—

'कामना' (Desire) होती है, वैसा ही 'क्रतु', अर्थात् 'प्रयत्न' (Effort) होता है, जैसा 'क्रतु' होता है, वैसा ही 'कर्म' (Action) होता है, और जैसा 'कर्म' होता है, वैसा ही 'फल' (Result) होता है ॥५॥

इसी विषय में किसी ने कहा भी है—जहां इसका लिंग-शरीर और मन निषक्त हो जाता है, जिस कामना से इसका शरीर और मन बंध जाता है, फिर मानो बंधा हुआ कर्मों-सहित यह उधर ही खिचा चला जाता है। जब उस 'कर्म' को पूरा कर लेता है, तब किसी दूसरे काम करने के लिए छुट्टी पाता है। वह 'कर्म' मानो इसके लिये एक 'लोक' हो जाता है। उस 'कर्म-लोक' का जब तक आवेग पूरा नहीं कर लेता, तब तक दूसरे किसी 'कर्म-लोक' की तरफ़ मुंह उठाकर नहीं देखता, एक कामना को पूरा करके ही दूसरी कामना

होता है, **साधुकारी**—अच्छा (पुण्य, धर्म-कार्य) करनेवाला, **साधुः**—सज्जन, **भवति**—होता है, **पापकारी**—बुरा (पाप-कार्य) करनेवाला, **पापः**—पापी, दुर्जन, **भवति**—होता है, **पुण्यः**—धर्मात्मा, **पुण्येन**—धर्ममय, **कर्मणा**—कर्म से, **भवति**—होता है, **पापः**—पापी, **पापेन**—अधर्माचरण से, **अथ उ खलु**—और यह बात भी निश्चय से, **आहुः**—कहते हैं, कही जाती है, **काममयः**—कामना (सकल्प) से निर्मित, **एव**—ही; **अयम् पुरुषः**—यह जीवात्मा है, **इति**—ऐसे, **सः**—वह जीवात्मा, **यथा-कामः**—जैसी कामना (सकल्प—इच्छा) वाला, **भवति**—होता है, **तत्क्रतु**—वैसे (तदनुरूप) प्रयत्न-चेष्टा करने वाला, **भवति**—हो जाता है, **यत्क्रतुः**—जैसे प्रयत्न करनेवाला, **भवति**—होता है, **तत्**—उस (वैसा), **कर्म**—कर्म को, **कुरुते**—करता है, **यत् कर्म कुरुते**—जो (जैसा) कर्म करता है, **तद्**—वह ही (फल-कामना), **अभिसम्पद्यते**—पा लेता है, सिद्ध हो जाती है ॥५॥

तदेष श्लोको भवति। तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥६॥

तद्—तो, **एष**—यह (प्रसिद्ध), **श्लोकः**—श्लोक, **भवति**—है, **तद्**—उसको, **एव**—ही, **सक्त**—आसक्त, सम्बद्ध, **सह**—साथ, **कर्मणा**—कर्म के, **ऐति**—आता (प्राप्त होता है), **लिङ्गम्**—कारण शरीर, **मनः**—मन, **यत्र**—जिसमे, **निषक्तम्**—चिपका हुआ, चाहना वाला, **अस्य**—इस जीवात्मा का, **प्राप्य**—पा कर, पूरा कर, **अन्तम्**—अन्त, फल-परिणाम, **कर्मणः**—कर्म का, **तस्य**—

की तरफ फिरता है। आत्मा को 'काम-मय' अथवा 'कामयमान' कहने का यही अभिप्राय है। 'अकाम-मय' वा 'अकामयमान' कहने का क्या अभिप्राय है? जो अकाम है, निष्काम है, आप्तकाम है, आत्म-काम है---जिसमें कोई कामनाएं नहीं रहीं, जो थीं वे निकल गई, या जिसने सब कामनाएं पा ली, आत्मा भी जिसने पा लिया, वह 'अकामयमान' है, उसके प्राण नहीं निकलते, अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है, वह मानो ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म को जा पहुंचता है ।।६।।

(आज का 'मनोविश्लेषणवाद'--Psycho-analysis--भी यही कहता है कि जब तक 'कामना' मन मे बनी रहती है तब तक उस 'कामना' से ही मनुष्य बधा रहता है, उस 'कामना' को पूरा करके ही मनुष्य उस कामना से छुटकारा पा सकता है। उपनिषद् का यह विचार मनोवैज्ञानिक है।)

इस विषय में और भी किसी ने कहा है---जो कामनाएं इसके हृदय में बैठी हुई है, जब वे सब छूट जाती है, तब यह मरणशील मनुष्य अमृत हो जाता है, और इसी लोक में ब्रह्म का रस ले लेता

उस, **यत् किंच**—जो कुछ, **इह**—इस (लोक-जन्म) मे, यहा, **करोति**—कर्म करता है, **अयम्**—यह (जीवात्मा), **तस्मात्**—उस, **लोकात्**—लोक (जन्म) से, **पुनः**—फिर, **ऐति**—लौट आता है, **अस्मै**—इस, **लोकाय**—लोक (जन्म) के लिए, **कर्मणे**—कर्म (कार्य करने) के लिए, **इति नु**—ऐसे ही, **कामयमानः**—कामना करनेवाला (आवागमन मे बद्ध रहता है), **अथ**—और, **अकामयमानः**—कामना न करनेवाला (अकाममय), **यः**—जो है, **अकाम**.—कामना-शून्य; **निष्कामः**—कामना से मुक्त, **आप्तकाम**—सफल-मनोरथ, **आत्मकाम**—स्वरूप (आत्म-रूप) का ज्ञान ही जिसका काम (कामना, ध्येय) है, मुमुक्षु, **न**—नही, **तस्य**—उसके, **प्राणाः**—प्राण, **उत्क्रामन्ति**—निकलते है (जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है), **ब्रह्म**—ब्रह्म मे स्थित (लीन) या आनन्द-स्वरूप, **एव**—ही, **सन्**—होता हुआ (होकर), **ब्रह्म**—(आत्मस्थित) ब्रह्म (परम-आत्मा) को, **अप्येति**—पा लेता है, पहुच जाता है ।।६।।

तदेष श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता.। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति। तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृत. प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेह ।।७।।

है। जैसे सांप की केंचुली, मरी हुई और फेंकी हुई, मिट्टी के ढेर पर पड़ी रहती है, इसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञानी का शरीर बना रहता है, आत्मा तो अशरीर है, अमृत है, प्राण है, ब्रह्म ही है, तेज ही है। विदेह-राज जनक यह उपदेश सुन कर कहने लगे, हे याज्ञवल्क्य! आपके इस उपदेश के लिये मैं एक सहस्र गायें आपको भेंट करता हूं ॥७॥

इसी विषय पर और भी किसी ने कहा है—उसे पाने का मार्ग अणु है, सूक्ष्म है, परन्तु सूक्ष्म होता हुआ भी वह सब जगह फैल रहा है। मैंने उस मार्ग को छू लिया है, और टटोल-टटोल कर ही मैं उस तक पहुंच गया हूं, मैंने उसे पा लिया है। धीर और ब्रह्म-ज्ञानी उसी मार्ग से स्वर्ग-लोक को पहुंचते हैं, और मुक्त होकर उससे भी ऊपर उठ जाते हैं ॥८॥

तद् एष. श्लोकः भवति—तो (इस विषय में) यह श्लोक भी है, **यदा**—जब, **सर्वे**—सारे, **प्रमुच्यन्ते**—छुट जाते हैं, शान्त हो जाते हैं, **कामाः**—कामनाएं, तृष्णा-एषणाएं, **ये**—जो, **अस्य**—इस (जीवात्मा) के, **हृदि**—हृदय में; **श्रिताः**—ठहरी हुई, विद्यमान होती हैं, **अथ**—तब, **मर्त्यः**—मरण-धर्मा (आत्मा), **अमृत.**—(मृत्यु-पाश से मुक्त) अमर, **भवति**—हो जाता है, **अत्र**—यहां, इस स्थिति में, **ब्रह्म**—परमात्मा को, **समश्नुते**—प्राप्त कर लेता है, ब्रह्मानन्द को भोगता है, **इति**—यह (श्लोक है), **तद् यथा**—तो जैसे, **अहिनिर्ल्वयनी**—सांप की केंचुली, **वल्मीके**—बांबी में, **मृता**—मरी (जीवन से रहित), **प्रत्यस्ता**—फेंकी हुई, **शयीत**—लम्बी पडी होवे, **एवम् एव**—ऐसे ही, **इदम् शरीरम्**—(ब्रह्मनिष्ठ का) यह शरीर, **शेते**—पडा होता है, **अथ**—और, **अयम्**—यह, **अशरीरः**—शरीर से मुक्त; **अमृत.**—अमर, **प्राणः**—जीवन धारण करनेवाला, **ब्रह्म एव**—ब्रह्म-लीन ही है, **तेजः एव**—तेज स्वरूप (ज्योतिर्मय) है, **स. अहम्**—वह मैं, **भगवते**—आदरणीय आपको, **सहस्रम्**—हज़ार (गौएं), **ददामि**—देता (भेंट करता) हूं, **इति ह उवाच जनकः वैदेह**—यह विदेह-राज जनक ने निवेदन किया ॥७॥

तदेते श्लोका भवन्ति। अणुः पन्था विततः पुराणो मां॒ स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव। तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥८॥

तद्—तो (इस विषय में), **एते**—ये, **श्लोकाः भवन्ति**—श्लोक भी हैं, **अणुः**—सूक्ष्म, **पन्थाः**—मार्ग, **विततः**—फैला हुआ (विस्तृत), **पुराण**—सनातन, **माम्**—मुझ को, **स्पृष्टः**—छुआ, (**माम् स्पृष्टः**—मैंने इसे छू लिया है, इसके पास तक जा पहुंचा हूं), **अनुवित्तः**—जान लिया है, पा लिया है; **मया**—

उस मार्ग में भिन्न-भिन्न ज्योतियों के दर्शन होते है—शुक्ल, नील, पिंगल, हरित और लोहित। यह ब्रह्म को पाने का ढूंढा हुआ मार्ग है, ब्रह्म-ज्ञानी, पुण्य-कर्मा और तेजस्वी व्यक्ति इसी मार्ग से ब्रह्म-लोक को पहुंचता है ॥९॥

जो 'अविद्या' अर्थात् 'भौतिकवाद' (Materialism) की उपासना करते है, वे गहन अन्धकार में जा पहुंचते है, और जो 'विद्या' अर्थात् कोरे 'अध्यात्मवाद' (Spiritualism) में रत रहने लगते है, भौतिक-जगत् की पर्वाह ही नहीं करते, वे उससे भी गहरे अन्धकार में जा पहुंचते है (ईश १-९) ॥१०॥

जो अविद्वान् और अबुध है—अविद्या-विद्या दोनों से ख़ाली है—जिन्हें भौतिक-वाद और अध्यात्म-वाद दोनों ने स्पर्श नही

मैंने, **एव**—ही, **तेन**—उस (मार्ग) से, **धीरा**—बुद्धिमान्, धैर्यशाली (अनवरत परिश्रमी), **अपियन्ति**—प्राप्त कर लेते हैं, **ब्रह्मविदः**—ब्रह्म-ज्ञानी, **स्वर्गम्**—सुखप्रद (आनन्दमय), **लोकम्**—लोक (स्थिति-अवस्था) को, **इतः**—यहा से, **ऊर्ध्वम्**—ऊपर, आगे, **विमुक्ताः**—(जन्म-मरणवन्धन से) मुक्त हुए ॥८॥

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिंगलं हरितं लोहितं च।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च ॥९॥

तस्मिन्—उस (मार्ग) मे, **शुक्लम्**—शुभ्र (श्वेत), **उत**—और, **नीलम्**—नीला, **आहु**—बताते हैं, **पिंगलम्**—कुछ (हलका) पीला, **हरितम्**—हरा, **लोहितम् च**—और लाल (ये रूप मिलते हैं), **एषः पन्थाः**—यह मार्ग, **ब्रह्मणा**—वेद से, ज्ञान से, **ह**—निश्चय ही, **अनुवित्तः**—जाना या पाया जाता है, **तेन**—उस (मार्ग) से, **एति**—जाता है, **ब्रह्मवित्**—ब्रह्मज्ञ, **पुण्यकृत्**—धर्ममय कर्म करनेवाला, **तैजसः च**—और तेज से युक्त (ज्योतिर्मय) पुरुष ॥९॥

अन्ध तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता ॥१०॥

अन्धम् तम—गहरे अन्धकार को (मे), **प्रविशन्ति**—प्रवेश करते है, **ये**—जो, **अविद्याम्**—प्रेयोमार्ग, भौतिकवाद को (की), **उपासते**—उपासना (सेवन) करते हैं, **ततः**—उससे, **भूय इव**—मानो और अधिक, **ते**—वे; **तमः**—अन्धकार मे, **ये**—जो, **उ**—तो, **विद्यायाम्**—ज्ञान, श्रेयोमार्ग, अध्यात्मवाद मे, **रता**—लीन होते हैं (दोनो मार्गों का सेवन ही निःश्रेयस का प्रदाता है) ॥१०॥

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधो जना ॥११॥

किया—वे तो मर कर आनन्द से शून्य और गाढ़ अन्धकार से आवृत लोकों में जा पहुंचते हैं (ईश १-३) ॥११॥

अगर कोई आत्मा को पहचान ले—'अयमस्मि'—यह समझ जाय, तो फिर किस इच्छा से, किस कामना से शरीर से शरीर के पीछे-पीछे चल कर अपने ऊपर यह जन्म का बुख़ार चढ़ाये ? ॥१२॥

इस शरीर-रूपी गहन जंगल में आत्मा छिपा हुआ है या नहीं—जिसका यह संदेह नष्ट हो जाता है, जिस का आत्मा प्रतिबुद्ध हो जाता है, जो उसे पा लेता है, वह 'विश्वकृत्' हो जाता है, सब-कुछ कर सकता है, 'स हि सर्वस्य कर्ता', वही तो इस सब के करने हारा है, लोक सब उसी के हो जाते हैं अर्थात् लोक-लोकान्तर उसके सामने सिर झुका देते हैं, वह मानो स्वयं ही एक लोक हो जाता है, अपने-आप एक दुनिया हो जाता है—'स उ लोक एव' ॥१३॥

अनन्दा—आनन्द (प्रसन्नता) से शून्य, नाम—नामवाले, ते—वे, लोकाः—लोक हैं, अन्धेन तमसा—गहरे अन्धकार से, आवृताः—आच्छन्न (ढके हुए), तान्—उनको, ते—वे, प्रेत्य—मर कर, अभिगच्छन्ति—प्राप्त होते हैं, पहुचते है, अविद्वांसः—अज्ञानी (अविद्या-ग्रस्त), अबुधः—बोध (विद्या-ज्ञान) से शून्य, जनाः—मनुष्य हैं ॥११॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१२॥

आत्मानम्—अपने (निर्लेप स्वरूप) को, चेद्—यदि, विजानीयात्—जान लेवे, अयम्—यह (इस स्वरूपवाला), अस्मि—(मैं आत्मा) हू, इति—इस रूप मे, पूरुषः—देहधारी जीवात्मा, किम् इच्छन्—(अपने लिए) क्या इच्छा (कामना) करता हुआ, कस्य—(दूसरे अन्य) किस की, कामाय—चाहना के लिए, शरीरम्—शरीर के, अनु संज्वरेत्—(दु ख से) स्वय को दु खी पीडित करे (शरीर-धारण कर दु ख का अनुभव नही करेगा, इससे छुटकारा—मोक्ष—चाहेगा) ॥१२॥

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मास्मिन्सदेह्ये गहने प्रविष्टः ।
स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥१३॥

यस्य—जिस (पुरुष) का, अनुवित्त—प्राप्त-मनोरथ, प्रतिबुद्ध—प्रतिबोध (सम्यक् ज्ञान) से युक्त, आत्मा—चेतन आत्मा है, अस्मिन्—इस, सदेह्ये—सदेह (पीडा) वाले, दु खमय, गहने—घनघोर (जगद् या शरीर रूपी)

अगर हमने इस जन्म में रहते हुए ही उसे जान लिया, तब तो ठीक है, 'न चेदवेदीः महती विनष्टिः'— न जाना, तो महाविनाश है। जो उसे जान जाते है वे अमृत हो जाते है, और दूसरे लोग दुःख पाया करते है (केन २-५, कठ ६-४) ॥१४॥

जो भूत और भव्य के स्वामी आत्म-देव को निकट से निहार लेते है, वे फिर उसकी निन्दा नही करते ॥१५॥

जिस आत्मा के पीछे-पीछे दिन-रात को लेकर संवत्सर फिरा करता है, देव लोग उसी को ज्योतियो की ज्योति, आयु और अमृत कहते है, और इसी रूप में उसकी उपासना करते है ॥१६॥

वन मे, **प्रविष्ट**—घुसा हुआ, पडा हुआ, **सः**—वह (ब्रह्मज्ञ), **विश्वकृत्**—सम्पूर्ण (कार्यो) का कर्ता (कृत-कृत्य) हो जाता है (उसे कोई कर्म करने की आवश्यकता नही रहती), **सः हि**—वह (ब्रह्मज्ञ आत्मा), **सर्वस्य**—सब (कर्म) का, **कर्त्ता**—करनेवाला है, **तस्य**—उसका ही, **लोकः** (ब्रह्म) लोक है, **सः उ**—और वह, **लोके एव**—(ब्रह्म) लोक मे ही (रहता है) ॥१३॥

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१४॥

इह एव—इस लोक (जन्म) मे ही, **सन्तः**—रहते हुए, **अथ**—तथा च, **विद्म**—जान लेवें, **तद्**—उस (ब्रह्म या आत्मा) को, **वयम्**—हम, **न चेत्**—अगर नही, **अवेदीः**—(तूने) जाना (तो), **महती**—बडा, **विनष्टिः**—विनाश (अकृतकार्यता, असफलता) है, **ये**—जो, **तद्**—उसको, **विदुः**—जान लेते है, **अमृताः**—अमर, **ते**—वे, **भवन्ति**—हो जाते है, **अथ**—और, **इतरे**—अन्य (न जाननेवाले), **दुःखम् एव**—दुःख को ही, **अपियन्ति**—प्राप्त होते है ॥१४॥

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥१५॥

यदा—जब, **एतम्**—इस, **अनुपश्यति**—देख लेता, जान लेता है, **आत्मानम्**—(परम) आत्मा को, **देवम्**—दिव्य, **अञ्जसा**—साक्षात्, स्पष्टतया, **ईशानम्**—स्वामी, **भूत-भव्यस्य**—उत्पन्न और भविष्य मे उत्पन्न होनेवाले (जगत्) का, **न**—नही, **ततः**—तत्पश्चात्, **विजुगुप्सते**—घृणा-निन्दा करता या रक्षा की कामना करता ॥१५॥

यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥१६॥

यस्माद्—जिस (ब्रह्म) से, **अर्वाक्**—इधर की ओर, पीछे-पीछे, **संवत्सर**

जिस आत्मा में पंच रहते हैं, जिसमें पंच-जन, अर्थात् पांच प्रकार के मनुष्य रहते हैं, जिसमें आकाश रहता है—जिसके आश्रय में सब-कुछ रहता है, मैं उसी को 'आत्मा' मानता हूं, विद्वान् मानता हूं, ब्रह्म मानता हूं, अमृतों का अमृत मानता हूं ॥१७॥

वह प्राणों का प्राण है, चक्षुओं का चक्षु है, श्रोत्रों का श्रोत्र है, मनों का मन है। जो ऐसा जानते हैं, वे ब्रह्म के यथार्थ, पुरातन तथा अग्र अर्थात् सृष्टि के प्रारंभ के समय के रूप को जान जाते हैं ॥१८॥

—वर्ष (काल का अवयव), **अहोभिः**—दिनों के साथ, **परिवर्तते**—चक्कर काटता है (काल जिसको पार नहीं कर सकता, जो काल-मर्यादा से बाहर है, 'कालातीत' है), **तद्**—उस (ब्रह्म) को; **देवाः**—देवगण, विद्वान्, **ज्योतिषाम्**—सूर्य आदि ज्योतियों के, **ज्योतिः**—(प्रकाशक) को, **आयुः**—आयु (प्रदाता), **ह**—निश्चय से, **उपासते**—उपासना करते हैं, **अमृतम्**—अमर (ब्रह्म) को ॥१६॥

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥१७॥

यस्मिन्—जिस (ब्रह्म) में, **पंच**—पांच संख्यावाले, **पञ्चजनाः**—पांच प्रकार के मनुष्य (देव-गंधर्व-पितृगण-असुर-राक्षस या ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-निषाद), **आकाशः च**—और आकाश (अव्यक्त-जगत् का कारण प्रकृति), **प्रतिष्ठितः**—प्रतिष्ठा (स्थिति) पा रहा है, **तम् एव**—उसको ही, **मन्ये**—चिन्तन-मनन-ध्यान कर रहा हूं, **आत्मानम्**—परमात्मा को, **विद्वान्**—जाननेवाला, **ब्रह्म**—ब्रह्म को, **अमृतः**—अमर, **अमृतम्**—अमर, (**अमृतम् ब्रह्म विद्वान् अमृत तम् एव आत्मानम् मन्ये**—अमर ब्रह्म के स्वरूप को जाननेवाला (मैं) अमर (आत्मा) उस ही (सर्वाधार) आत्मा (परमात्मा) का ध्यान-मनन-चिन्तन करता हूं, उसमें ही लीन हूं) ॥१७॥

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो
ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥१८॥

प्राणस्य—प्राण (श्वास-प्रश्वास या नासिका) के, **प्राणम्**—प्राण, प्राण-शक्ति देनेवाले, **चक्षुषः**—आंख के भी, **चक्षुः**—दर्शन-शक्तिप्रदाता, **उत**—और, **श्रोत्रस्य**—कान के, **श्रोत्रम्**—श्रवण-शक्तिप्रद, **मनसः**—मन के, **ये**—जो, **मनः**—मननशक्ति-दाता को, **विदुः**—जान लेते हैं, **ते**—वे, **निचिक्युः**—जानते हैं, **ब्रह्म**—ब्रह्म को, **पुराणम्**—सनातन, **अग्र्यम्**—अग्रणी, जगद्-रचना से पूर्व विद्यमान ॥१८॥

ये सब मन से ही देखने की बातें है, सृष्टि मे नानात्व कहीं नही है--'नेह नानास्ति किञ्चन'--जो सृष्टि में एकता को न देख कर नानात्व को देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। (कठ ४-११) ॥१९॥

इस अप्रमेय और ध्रुव आत्म-तत्त्व को नानात्व म नहीं, एकत्व में ही देखना चाहिये, यह अजन्मा आत्मा आकाश से भी बढ़ कर मल-रहित है, महान् ध्रुव है ॥२०॥

धीर ब्राह्मण को उचित है कि इसी आत्म-तत्त्व का बोध करके अपने को प्रज्ञा-युक्त करे, बहुत शब्द-जालो में न उलझे, क्योंकि आत्म-बोध के अतिरिक्त सब-कुछ 'वाचो विग्लापनं हि तत्'--वाणी का थकानामात्र है ॥२१॥

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१९॥

मनसा—(समाहित) मन से, **एव**—ही, **अनुद्रष्टव्यम्**—देखने (जानने) योग्य है, **न**—नही, **इह**—यहा, इसमे, **नाना**—अनेकरूपता, **अस्ति**—है, **किंचन**—कुछ भी, **मृत्योः सः मृत्युम् आप्नोति**—वह मृत्यु से बढकर मृत्यु को प्राप्त होता है (सर्व-विनाश को प्राप्त होता है), **यः**—जो, **इह**—इस (जगत्) मे, **नाना इव**—भेदभाव (अनेकता) को, **इव**—समान, मानो, **पश्यति**—देखता (जानता-समझता) है ॥१९॥

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः ॥२०॥

एकधा—एक रूप मे, **एव**—ही, **अनुद्रष्टव्यम्**—देखना चाहिये, **एतद्**—इस, **अप्रमेयम्**—(प्रत्यक्ष आदि) प्रमाणो से अज्ञेय, **ध्रुवम्**—स्थिर, सदा वर्तमान, **विरजः**—निर्मल, शुद्ध, **परः**—परम, सर्वोत्कृष्ट, **आकाशात्**—आकाश से, **अजः**—अजन्मा, **आत्मा**—ब्रह्म, **महान्**—सब से बडा, **ध्रुव**—स्थिर है ॥२०॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तदिति ॥२१॥

तम् एव—उसको ही, **धीर**—बुद्धिमान्, धैर्यशाली, **विज्ञाय**—जान कर, **प्रज्ञाम्**—स्थिर ज्ञान को, **कुर्वीत**—सम्पादित करे, **ब्राह्मण**—ब्रह्म-जिज्ञासु, **न**—नही, **अनुध्यायात्**—ध्यान (चिन्तन-मनन) करे, **बहून्**—बहुत से, **शब्दान्**—वाङ्मय (शास्त्र-परम्परा) को, **वाचः**—वाणी का, **विग्लापनम्**—व्यर्थ खोना

यह महान् तथा अजन्मा आत्मा 'विज्ञानमय' (Consciousness) है, प्राणो में रहता है, और हृदय के भीतर जो आकाश है उसमें विश्राम करता है। यह सब को वश में करने वाला है, सब का ईश्वर है, सब का अधिपति है। वह साधु-कर्म से बड़ा नही होता, असाधु-कर्म से छोटा नही होता, वह सर्वेश्वर है, भूताधिपति है, भूतपाल है--वही तो सब लोकों को आपस में मिलाने वाला पुल है, आत्मा ही तो कभी यहां जन्म लेकर, कभी वहां जन्म लेकर लोको को मिलाये रखता है, नहीं तो भिन्न-भिन्न लोक भिन्न-भिन्न ही न बने रहें ? 'ब्राह्मण' लोग उसी आत्मा को वेद के अनुवचन से, यज्ञ, दान, तप, उपवास से जानने का प्रयत्न करते हैं। उसी को जानकर 'मुनि' होता है। उसी आत्मा के लोक की चाहना करते हुए 'परिव्राजक' लोग घर-बार छोड़ देते हैं। उसी को पाने की अभिलाषा से प्राचीन-काल

(व्यर्थ प्रयोग करना), हि—क्योकि, तद्—वह (बहु श्रवण) है, इति—ये श्लोक है (अर्थात् थोडा-सा भी जान कर उसका अनुष्ठान करे, केवल शास्त्र-चर्चा में न लगा रहे) ॥२१॥

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमय. प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशान. सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विवरण एषां लोकानामसंभेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वैतत्पूर्वे विद्वांसः प्रजा न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यत. पापमकरवमित्यत. कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपत ॥२२॥

सः वै एष—वह ही यह, महान्—बडा, अज.—अजन्मा, आत्मा—जीवात्मा है, य. अयम्—जो यह, विज्ञानमय.—चित्स्वरूप, ज्ञान-रूप, प्राणेषु

के विद्वान् सन्तान की कामना नहीं करते थे, और कहते थे, हमने आत्मा को पा लिया, आत्म-लोक को पा लिया, हम सन्तान पाकर क्या करेंगे ? ऐसे ही लोग 'पुत्रैषणा'-'वित्तैषणा'-'लोकैषणा' से ऊपर उठ कर भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करते हैं। पुत्रैषणा ही वित्तैषणा है, वित्तैषणा ही लोकैषणा है। पुत्रैषणा-वित्तैषणा और वित्तैषणा-लोकैषणा का जोड़ा मूलतः 'एषणा' (Libido, Urge) **ही है। 'आत्मा' इन सब से परे है, वह 'नेति'-'नेति' के रूप में ही समझ में आता है, वह 'अग्राह्य' है—पकड़ में नहीं आता, 'अशीर्य' है—क्षीण नहीं होता, 'असंग' है—लिप्त नहीं होता, बन्धन-रहित है, व्यथा-रहित है, नाश-रहित है। मैंने इस कारण पाप-कर्म किया, या इस कारण कल्याण-कर्म किया—ये दोनों विचार उसका वार-पार नहीं पाते,**

—प्राणो (ज्ञान-इन्द्रियो) मे, **यः एष**—जो यह, **अन्त. हृदये**—हृदय के भीतर, **आकाशः**—आकाश (अवकाश) है, **तस्मिन्**—उसमे, **शेते**—सोता, विश्राम करता है, विराजमान है, **सर्वस्य**—सब का, **वशी**—नियन्ता, **सर्वस्य**—सब का, **ईशानः**—प्रभु, **सर्वस्य**—सब का, **अधिपतिः**—रक्षक, अधिष्ठाता, पालयिता है, **सः**—वह, **न**—नही, **साधुना कर्मणा**—अच्छे कर्म करने से, **भूयान्**—अधिक (सम्मानित) होता है, **नो एव**—न ही, **असाधुना**—वुरे (पाप-कर्म) से, **कनीयान्**—छोटा (अपमानित) होता है, **एष**—यह, **सर्व+ईश्वरः**—सव का प्रभु है, **एषः भूताधिपति**—यह भूतो (प्राणियो) का अधिष्ठाता है, **एष भूतपालः**—यह भूतो का रक्षक है, **एष**—यह, **सेतु**—वन्धन है, पुल के समान मिलानेवाला, **विधरणः**—विधर्त्ता है, **एषाम्**—इन, **लोकानाम्**—लोको के, **असंभेदाय**—छिन्न-भिन्न न होने देने के लिए, **तम् एतम्**—उस इसको, **वेद+अनुवचनेन**—वेद-अध्ययन (स्वाध्याय) से, **ब्राह्मणाः**—ब्रह्म-जिज्ञासु, **विविदिषन्ति**—जानना चाहते है, **यज्ञेन**—(नित्य-नैमित्तिक) यज्ञो से, **दानेन**—दान से, **तपसा**—तप से, **अनाशकेन**—उपवासो से, **एतम् एव**—इसको ही, **विदित्वा**—जानकर, **मुनिः**—मनन-शील, **भवति**—होता है, **एतम् एव**—इसको ही, **प्रव्राजिनः**—परिव्राजक (सन्यासी), **लोकम्**—(ब्रह्म-)लोक को, **इच्छन्त**—चाहते हुए, **प्रव्रजन्ति**—आश्रम-मर्यादा का परित्याग कर चल पडते हैं, **एतद् ह**—इसको ही (चाहते हुए), **वा**—या, **एतत्पूर्वे**—अब से पहले के, **विद्वांस**—ज्ञानी, **प्रजाम्**—सन्तति की, **न कामयन्ते स्म**—कामना नही करते थे, **किम्**—क्या, **प्रजया**—सन्तान से, **करिष्याम**—करेगे, **येषाम् न**—जिन हमारा, **अयम्**—यह (ज्ञेय), **आत्मा**—आत्मा है, **अयम् लोक**—यह ही लोक (आश्रय)

वह इन दोनों को तर जाता है; उसने जो-कुछ किया है, जो-कुछ नहीं किया—इन कृत-अकृत का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि मूलतः वह पाप-पुण्य से अलग है, कृत-अकृत से अलग है, नेति-रूप है, असंग है, अग्राह्य है ॥२२॥

(आज के युग मे सन्तानोत्पत्ति-निरोध की वात कही जाती है, परन्तु काम-वासना निरोध की वात नही कही जाती, उपनिषत्कार ने एपणानिरोध द्वारा सन्तानोत्पत्ति-निरोध की वात कही है। भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण मे यही भेद है।)

यही बात ऋचाओं में कही गई है—आत्मा नित्य है, ब्रह्म-ज्ञानी की महिमा कर्म से न बढ़ती है, न घटती है, मनुष्य को आत्मा की ही खोज करनी चाहिये, उसे जानकर वह पाप-कर्म से लिप्त नहीं होता। इसलिये 'आत्म-वित्' शान्त, दान्त, विरक्त और सहनशील होकर पिंड के आत्मा में ही ब्रह्मांड के आत्मा के दर्शन कर लेता है, सब को आत्म-रूप देखता है, इसे पाप नहीं तर सकता, यह सब पापो

है, **इति**—यह (सोच कर), **ते ह स्म**—वे तो, **पुत्रैषणायाः रिष्यति**—अर्थ पूर्ववत्; **एतम् उ ह एव**—इस (आत्म-ज्ञानी) को ही, **एते**—ये (दोनो विचार), **न**—नही, **तरतः**—लाघ सकते, वश मे कर सकते है, **इति+अतः**—कि इससे, **पापम् अकरवम्**—(मैंने) पाप किया, **इति अत**—कि इससे, **कल्याणम्**—पुण्य, **अकरवम्**—किया, **इति**—ये (विचार); **उभे उ ह एव**—दोनो ही (इन विचारो) को, **एषः**—यह (ज्ञानी), **एते**—इन (पाप-पुण्य) को, **तरति**—पार कर जाता है (इनसे ऊपर उठ जाता है), **न**—नही, **एनम्**—इसको, **कृत+अकृते**—कृत (पुण्य-सत्य-शुभ) और अकृत (पाप-अनृत-अशुभ) कर्म, **तपतः**—सताते, दुखी करते हैं ॥२२॥

तदेतदृचाभ्युक्तम्। एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोक. सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्य. सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मा चापि सह दास्यायेति ॥२३॥

को तर जाता है, इसे पाप नहीं तपाता, यह सब पापों को तपा देता है। ब्रह्म-ज्ञानी पाप-रहित, मल-रहित, संशय-रहित हो जाता है। याज्ञवल्क्य ने कहा, हे सम्राट्! आत्मा में परमात्मा के दर्शन कर लेना ही ब्रह्म-लोक को पा लेना है, यह आत्म-लोक ही ब्रह्म-लोक है। मैंने आपको ब्रह्मलोक में पहुंचा दिया। यह सुनकर विदेह-राज जनक ने कहा, हे याज्ञवल्क्य! मैं आपके इस उपदेश के लिये आपको सपूर्ण विदेह-राज्य भेंट करता हूं, और मैं अपने को भी आपकी सेवा के लिये प्रस्तुत करता हूं ॥२३॥

तद् एतत्—वह यह (विचार), **ऋचा**—छन्दोबद्ध रचना से, **अभि+उक्तम्**—कहा गया है, **एषः**—यह, **नित्यः**—हमेशा रहनेवाला, **महिमा**—महत्त्व, बडप्पन है, **ब्राह्मणस्य**—ब्रह्मवेत्ता का, **न वर्धते**—न तो बढता (फूलता, प्रसन्न होता) है, **कर्मणा**—कर्म से, **नो**—नही, **कनीयान्**—क्षुद्र होता है, **तस्य**—उस (ब्रह्म) के, **एव**—ही, **स्यात्**—होवे, **पदवित्**—पद (प्राप्तव्य लोक) को जाननेवाला, **तम्**—उसको, **विदित्वा**—जानकर, **न**—नही, **लिप्यते**—लिप्त (मलिन) होता है, **कर्मणा**—कर्म से, **पापकेन**—पापमय, **इति**—यह (ऋक्) है, **तस्मात्**—उस कारण से, **एवंविद्**—इस प्रकार जानने (समझने) वाला, **शान्तः**—शम-गुण युक्त (मन को निरुद्वेग रखनेवाला), **दान्तः**—(इन्द्रियो का) दम (दमन—वश) करनेवाला, **उपरतः**—विषयो से विमुख, **तितिक्षुः**—(दुःख-सुख आदि द्वन्द्वो को) सहनेवाला, **समाहितः**—चित्त-वृत्तियो को रोकनेवाला (योगी), **भूत्वा**—होकर, **आत्मनि**—अपने (जीव) आत्मा मे, **एव**—ही, **आत्मानम्**—परम-आत्मा को, **पश्यति**—देखता है, **सर्वम्**—सब को (मे), **आत्मानम्**—आत्मा को, **पश्यति**—देखता (समझने लगता) है, **न एनम्**—नही इस (ब्रह्मवेत्ता) को, **पाप्मा**—पाप, **तरति**—लाघ सकता (वश मे कर सकता) है, (परन्तु वह स्वयम्) **सर्वम् पाप्मानम् तरति**—सब पापो से पार (अलग) हो जाता है, **न एनम् पाप्मा तपति**—नही इसको पाप तपाता (व्यथित करता) है, **सर्वम् पाप्मानम् तपति**—(वह स्वय) सारे पाप को तपाता (भस्म कर देता) है, **विपापः**—निष्पाप, **विरजः**—निर्मल, **अविचिकित्सः**—सदेह-रहित, निर्भ्रान्ति, **ब्राह्मणः**—सच्चा ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञ), **भवति**—हो जाता है, **एषः**—यह ही (आत्म-ज्ञान, आत्म-स्थिति), **ब्रह्मलोक**—ब्रह्मलोक (ब्रह्म-साक्षात्कार) है, **सम्राड्**—हे महाराज!, **एनम्**—इस (ब्रह्मज्ञान की स्थिति) को, **प्रापित असि**—तुझे मैंने पहुचा (ज्ञान करा) दिया है, **इति ह उवाच याज्ञवल्क्य**—यह याज्ञवल्क्य ने कहा, **स अहम्**—वह मैं,

यह आत्मा महान् है, अजन्मा है, भक्षण कर रहा है परन्तु साथ ही अपनी विभूति का दान कर रहा है। जो इस रहस्य को जानता है उसे सब प्रकार का लाभ होता है ॥२४॥

यह आत्मा महान् है, अजन्मा है, अजर है, अमर है, अमृत है, अभय है, ब्रह्म है, अभय हो जाना ही तो ब्रह्म-पद पाना है। जो इस रहस्य को जानता है वह अभय हो जाता है, ब्रह्म हो जाता है ॥२५॥

चतुर्थ अध्याय—(पांचवां तथा छठा ब्राह्मण)

(याज्ञवल्क्य तथा उसकी दो स्त्रियां—मैत्रेयी तथा गार्गी)

याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियां थीं—मैत्रेयी तथा कात्यायनी। उनमें से मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी, कात्यायनी 'स्त्री-प्रज्ञा' थी—इतनी ही

भगवते—आदरणीय आप को, **विदेहान्**—सारे विदेह-राज्य को, **ददामि**—भेंट में देता हूं, **माम् च अपि**—और मुझ (अपने) को भी, **सह**—(राज्य के) साथ, **दास्याय**—दास-वृत्ति (आपकी सेवा-शुश्रूषा) के लिए, **इति**—ऐसे ॥२३॥

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद ॥२४॥

सः वै एषः—वह ही यह, **महान्**—बड़ा, मुख्य, **अजः**—अजन्मा, **आत्मा**—आत्मा, **अन्नादः**—अन्न-भोक्ता, **वसुदानः**—धनैश्वर्य का दाता है, **विन्दते**—प्राप्त करता है, **वसु**—धन-ऐश्वर्य को, **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥२४॥

स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्मा-
भय वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एव वेद ॥२५॥

सः वै एषः महान् अजः आत्मा—वह ही यह महान् अजन्मा आत्मा; **अजरः**—जरा (वृद्धता) से रहित, **अमरः**—अमर, **अमृतः**—मृत्यु से परे, **अभयः**—निर्भय, **ब्रह्म**—ब्रह्म (का अधिष्ठान) है, **अभयम् वै ब्रह्म**—ब्रह्म निर्भय है, **अभयम् हि वै ब्रह्म भवति**—वह स्वयं निर्भय ब्रह्म हो जाता है, **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥२५॥

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी
च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि
कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् ॥१॥

अथ ह—और, **याज्ञवल्क्यस्य**—याज्ञवल्क्य मुनि की, **द्वे भार्ये**—दो पत्नियां, **बभूवतुः**—थीं, **मैत्रेयी च**—एक मैत्रेयी, **कात्यायनी च**—और दूसरी कात्यायनी, **तयोः ह**—उन दोनों में, **मैत्रेयी**—मैत्रेयी, **ब्रह्मवादिनी**—ब्रह्म का

बुद्धि रखती थी जितनी साधारण स्त्रियों की होती है। याज्ञवल्क्य ने जब जीवन का दूसरा मार्ग लेना चाहा ॥१॥

तब मैत्रेयी को सम्बोधित करके कहा, हे मैत्रेयी ! मैं इस स्थान से प्रव्रज्या लेने वाला हूं, आ, तेरा इस कात्यायनी से फ़ैसला कराता जाऊं ॥२॥

इसके आगे ५म तथा ६ष्ठ ब्राह्मण वही है जो बृहदारण्यक २य अध्याय के ४र्थ तथा ६ष्ठ ब्राह्मण में पहले लिखा जा चुका है। (देखो पृ० ७५१–७६२, ७७४–७७७)।

२य अध्याय के ६ष्ठ ब्राह्मण में जो गुरु-शिष्य-उपदेश-परंपरा दी गई है, उसमें तथा इस ४र्थ अध्याय के ६ष्ठ ब्राह्मण में दी गई परंपरा में कुछ भेद है, वह नीचे दिया जा रहा है। संस्कृत में हमने यह भाग नहीं दिया।

३८ संख्या तक तो गुरु-शिष्य-परंपरा का वही क्रम है। उसके

प्रवचन (चर्चा) करनेवाली, **बभूव**—थी, **स्त्री-प्रज्ञा**—(सामान्य) स्त्री की प्रज्ञा (बुद्धि-समझ) वाली, **एव**—ही, **तर्हि**—तो, **कात्यायनी**—कात्यायनी थी, **अथ ह**—इसके बाद, **याज्ञवल्क्य**—याज्ञवल्क्य, **अन्यद्**—दूसरे, **वृत्तम्**—आचरण, वृत्ति, मार्ग, **उपाकरिष्यन्**—अंगीकार करने की चाहना करते हुए ॥१॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य: प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मा-
त्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥२॥

मैत्रेयि—हे मैत्रेयि, **इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः**—ऐसे याज्ञवल्क्य ने कहा, **प्रव्रजिष्यन्**—प्रव्रज्या (सन्यास) लेने वाला या परिभ्रमण करनेवाला, **वै**—ही, **अरे**—अरी, **अहम्**—मैं, **अस्मात्**—इस, **स्थानात्**—स्थान (निवास-स्थान या द्वितीय आश्रम) से, **अस्मि**—हूं, **हन्त**—तो, **ते**—तेरा, **अनया**—इस, **कात्यायन्या**—कात्यायनी से, **अन्तम्**—अन्त (विवाद की शान्ति, विभाग), **करवाणि**—करता जाऊं, **इति**—यह (कहा) ॥२॥

आवश्यक—इसके आगे का ३ कण्डिका से १५ कण्डिका तक का मूल पाठ पृ० ७५१ की कण्डिका २ से पृ० ७६१ की १४ कण्डिका तक देखें।

...स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो
न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति
विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्ये-
तावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥१५॥

आगे, कौशिकायनि ने ३९.सायकायन को ज्ञान दिया, उसके आगे परंपरा यों चली--४०.काषायण, ४१. सौकरायण, ४२.माध्यन्दिनायन, ४३. जाबालायन, ४४. उद्दालकायन, ४५. गार्ग्यायण, ४६. पाराशर्यायण, ४७. सैतव, ४८. गौतम, ४९. गार्ग्य, ५०. गार्ग्य, ५१. आग्निवेश्य। इसके बाद वही परंपरा है, जो बृहदारण्यक के २य अध्याय के ६ष्ठ ब्राह्मण में दी गई है। ६ष्ठ अध्याय के ५म ब्राह्मण में भी एक गुरु-शिष्य-परंपरा दी गई है, जो इससे भिन्न है।

पंचम अध्याय--(पहला ब्राह्मण)

('ख' का अर्थ)

वह ब्रह्म पूर्ण है, यह जगत् भी पूर्ण है; पूर्ण ब्रह्म से ही यह पूर्ण जगत् उदित होता है; पूर्ण से ही पूर्णता लेकर जब यह जगत् बन चुकता है, तब भी वह ब्रह्म पूर्ण-का-पूर्ण बच रहता है। ब्रह्म को तीन नामों से स्मरण किया जाता है--'ओ३म्'-'खं'-'ब्रह्म'। 'ओ३म्' और 'ब्रह्म' तो परमात्मा के प्रसिद्ध नाम हैं; 'खं' भी उसका पुराना नाम है, परन्तु कौरव्यायणी-पुत्र का कथन है कि वायु वाले आकाश का नाम ही 'खं' है; कई ब्राह्मणों का कथन है कि वेद का नाम 'खं'

सा ह उवाच विजानीयात् इति—३ से १५ तक की कण्डिकाओं का अर्थ (पृष्ठ ७५१ से पृष्ठ ७६१ तक) पूर्ववत्, उक्त+अनुशासना असि मैत्रेयि—हे मैत्रेयि! इस प्रकार तुझे ब्रह्म-ज्ञान बता दिया गया है, एतावद् अरे खलु—अरी इतना ही तो, अमृतत्वम्—अमर-पद (का ज्ञान) है, इति ह उक्त्वा—ऐसा कहकर, याज्ञवल्क्य—याज्ञवल्क्य ने, विजहार—विहार (प्रव्रज्या के लिए प्रस्थान) किया ॥१५॥

अथ वंशः ब्रह्मणे नमः—इन तीनों कण्डिकाओं में पहली व तीसरी का अर्थ पूर्ववत् (पृष्ठ स० ७७४ से ७७७) है, दूसरी का अर्थ ऊपर भाष्य से समझ लें ॥१-३॥

> ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय
> पूर्णमेवावशिष्यते। ॐ खं ब्रह्म खं पुराणं वायुरं खमिति ह
> स्माह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम् ॥१॥

ओम्—आदि-गुरु, सर्वरक्षक, सर्वान्तर्यामी भगवान् का स्मरण कर, पूर्णम्—पूर्ण, त्रुटिरहित, अदः—वह (अव्यक्त ब्रह्म) है, पूर्णम्—पूर्ण, इदम्—यह (प्रत्यक्ष—व्यक्त कार्य-जगत्) है, पूर्णात्—पूर्ण (निमित्त कारण

है। कुछ भी हो, 'खं' से यह सब-कुछ जाना जाता है। 'खं' का अर्थ अगर यह करें कि यह ब्रह्म का 'पुरातन-नाम' है, तो इसका अभिप्राय 'पुराण-पुरुष' से है, 'खं' का अर्थ 'आकाश' करें, तो इसका अभिप्राय आकाश की भांति 'व्यापक-पर-ब्रह्म' से है; 'खं' का अर्थ 'वेद' करें, तो इसका अभिप्राय भी उसी ज्ञान के भंडार ब्रह्म से है। हर हालत में 'खं' का अर्थ 'ब्रह्म' ही है ॥१॥

पंचम अध्याय—(दूसरा ब्राह्मण)

('द' का अर्थ)

प्रजापति पिता थे, उनकी तीन प्रकार की सन्तान थी, देव-मनुष्य-असुर। उन तीनों ने अपने पिता के निकट आकर ब्रह्मचर्य-पूर्वक वास किया। निश्चित अवधि तक ब्रह्मचर्य-वास कर चुकने पर 'देवों' ने प्रजापति से कहा, अब उपदेश दीजिये। प्रजापति ने देवों को 'द'

ब्रह्म) से, **पूर्णम्**—पूर्ण (यह कार्य-जगत्), **उदच्यते**—ऊपर उठता, उभरता, उत्पन्न होता है, **पूर्णस्य**—पूर्ण (ब्रह्म) का, **पूर्णम्**—पूर्ण (जगत्), **आदाय**—लेकर (रचकर) भी, **पूर्णम्**—पूर्ण, **एव**—ही, **अवशिष्यते**—बच रहता है, विद्यमान रहता है (कोई कमी नही आती) ॥

ओम्—रक्षक परमात्मा, **खम्**—व्यापक-निर्लेप परमात्मा, **ब्रह्म**—सब से बडा, सर्वनियन्ता परमात्मा (ये तीन ब्रह्म के नाम है), **खम्**—'ख' पद-वाच्य, **पुराणम्**—सनातन (कालातीत) ब्रह्म है, **वायुरम्**—वायु से व्याप्त (वायु का आश्रय) आकाश ही, **खम्**—'ख'-पद से अभिप्रेत है, **इति ह**—ऐसे, **स्म आह (आह स्म)**—कहता (मानता) था, **कौरव्यायणी-पुत्रः**—कौरव्याणी-पुत्र ऋषि, **वेदः**—ज्ञान (ज्ञान-दाता, आदि गुरु) या चारो वेद ही, **अयम्**—यह 'ख'-पद से अभिप्रेत है, **ब्राह्मणाः**—वेदाध्यायी ब्राह्मण, **विदुः**—जानते (मानते) है, (क्योकि) **वेद**—जान लेता है, **एनेन**—इस (वेद) से, **यद्**—जो, **वेदितव्यम्**—ज्ञेय (जानने योग्य) है ॥१॥

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥१॥

त्रयाः—तीनो, **प्राजापत्याः**—प्रजापति के पुत्रो ने, **प्रजापतौ पितरि**—(अपने) पिता प्रजापति के पास मे, **ब्रह्मचर्यम्**—ब्रह्मचर्य, **ऊषु**—निवास

अक्षर का उपदेश दिया, और पूछा, समझ गये ? देवों ने कहा, हां, समझ गये, आपने हमें 'दाम्यत' अर्थात् इन्द्रियों का 'दमन' करो—यह उपदेश दिया। प्रजापति ने कहा, हां, तुम समझ गये ॥१॥

अव प्रजापति के पास 'मनुष्य' पहुंचे। उन्होंने कहा, अब हमें उपदेश दीजिये। उन्हें भी उसने 'द' अक्षर का ही उपदेश दिया, और पूछा, समझ गये ? मनुष्यो ने कहा, हां, समझ गये, आप ने हमें 'दत्त' अर्थात् 'दान दो'—यह उपदेश दिया है। प्रजापति ने कहा, हां, तुम समझ गये ॥२॥

अव प्रजापति के पास 'असुर' पहुंचे। उन्होंने कहा, अब हमे भी उपदेश दीजिये। उन्हें भी उसने 'द' अक्षर का उपदेश दिया, और पूछा, समझ गये ? असुरों ने कहा, हां, समझ गये, आपने हमें

किया, (ब्रह्मचर्यम् ऊषुः—ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया), देवा—देव-गण, मनुष्याः—मनुष्य, असुराः—असुर, उषित्वा ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य धारण कर, देवाः—देवो ने, ऊचुः—कहा, ब्रवीतु—उपदेश करे, नः—हमको, भवान्—आप, इति—यह (कहा), तेभ्यः ह—और उनको, एतद् अक्षरम्—(केवल) यह अक्षर, उवाच—कहा, द इति—'द' यह, व्यज्ञासिष्ट—क्या तुमने जान (समझ) लिया, इति—यह (प्रजापति ने पूछा), व्यज्ञासिष्म—(हा) हमने समझ लिया, इति ह ऊचु—ऐसे (देवो ने) कहा, दाम्यत—इन्द्रियो का दमन (नियन्त्रण-सयम) करो, इति—ऐसे, नः—हमको, आत्थ—आपने कहा (उपदेश दिया) है, इति ओम्—ऐसे ही है, ठीक ही है, इति ह उवाच—ऐसे (प्रजापति ने) कहा, व्यज्ञासिष्ट इति—तुमने जान लिया है ॥१॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥२॥

अथ ह—और इसके वाद, एनम्—इस प्रजापति को, मनुष्या—मनुष्य, ऊचु—बोले, ब्रवीतु— ह ऊचुः—अर्थ पूर्ववत्, दत्त—दान करो, इति व्यज्ञाषिट इति—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयामिति ॥३॥

'दयध्वम्' अर्थात् 'दया करो'—यह उपदेश दिया है। प्रजापति ने कहा, हां, तुम समझ गये।

प्रजापति ने जो देव-मनुष्य-असुरों को उपदेश दिया, उसी का विद्युत् की कड़क में 'द-द-द' का उच्चारण करके मानो दैवी-वाणी अनुवाद कर रही है, मानो वह संसार में कड़क-कड़क कर कह रही है—'दाम्यत-दत्त-दयध्वम्'—'इन्द्रियों का दमन करो, संसार की वस्तुओं का संग्रह न करते हुए दान दो, और प्राणि-मात्र पर दया करो'! संसार की संपूर्ण शिक्षा इन तीन में समा जाती है, इसलिये इन तीन की ही शिक्षा दे—दम, दान, दया—'त्रयं शिक्षेत् दमं दान दयामिति' ॥३॥

(देवो की कमजोरी इन्द्रियो की शिथिलता मे है, मनुष्यो की कमजोरी दान न देने मे है, असुरो की कमजोरी दया न करने मे है—इसलिये अपने-अपने हृदय की बात तीनो 'द' अक्षर से समझ गये।)

पंचम अध्याय—(तीसरा ब्राह्मण)
(हृदय का अर्थ)

प्रजापति की तीन सन्तान—देव-मनुष्य-असुर—का अभी वर्णन किया। 'प्रजापति' क्या है? 'हृदय' ही प्रजापति है, अपने हृदय की ही

अथ ह एनम्—तत्पश्चात् इस (प्रजापति) को, असुरा—असुर, ऊचुः—बोले, ब्रवीतु ऊचुः—अर्थ पूर्ववत्, दयध्वम्—दया करो, इति नः व्यज्ञासिष्ट इति—अर्थ पूर्ववत्, तद्—तो, एतद् एव—इस (उपदेश) को ही, एषा—यह, दैवी—दिव्य, वाग्—वाणी, अनुवदति—पुन (दूसरे रूप मे) कह रही है, स्तनयित्नुः—बादल-बिजली की गरज (कडक), द-द-द इति—द-द-द- इस रूप मे, दाम्यत—इन्द्रियो का दमन (सयम) करो, दत्त—दानकरो, दयध्वम्—(सब पर) दया करो, इति—ऐसे, तद् एतद् त्रयम्—तो इन तीनो को (की), शिक्षेत्—शिक्षा (उपदेश) करे, सिखावे, दमम्—इन्द्रिय-सयम (ब्रह्मचर्य और सत्य) को, दानम्—दान (अस्तेय और अपरिग्रह) को, दयाम्—दया (अहिसा) को, इति—ऐसे ॥३॥

एष प्रजापतिर्यद्हृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्व तदेतत्त्र्यक्षरँ हृदयमिति
हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं
वेद द इत्येकमक्षर ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एव
वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥१॥

देव-मनुष्य-असुर—ये तीन सन्तानें हैं। यह तीन अक्षरों का 'हृ-द-य' ही प्रजापति है, हृदय ही ब्रह्म है, हृदय ही यह सब-कुछ है। 'हृ'—यह एक अक्षर है, 'हृञ् हरणे' धातु से बना है, इसका अर्थ है, अभिहरण—लाना। जो इस रहस्य को समझ लेता है कि हृदय ही प्रजापति है, हृदय ही ब्रह्म है, हृदय ही सब-कुछ है, उसके सामने अपने और पराये लोग उपहार अभिहरण कर ला-लाकर रखते हैं। 'द'—यह दूसरा अक्षर है। 'दा दाने' धातु से बना है, इसका अर्थ है—देना। जो यह समझ लेता है कि हृदय ही प्रजापति है, ब्रह्म है, हृदय ही सब-कुछ है, उसे सब देते-ही-देते हैं। 'य'—यह तीसरा अक्षर है। 'इण् गतौ' धातु से बना है, इसका अर्थ है—जाना। जो हृदय-संबंधी रहस्य को जान जाता है वह स्वर्ग-लोक को जाता है ॥१॥

(निरुक्त मे 'हृदय' की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि हृदय को हृदय इसलिये कहते हैं क्योंकि यह तीन काम करता है—'हृ' से हरति, 'द' से ददाति, 'य' से याति—यह लेता है, देता है, और चलता है। हृदय द्वारा लेना-देना रुधिर का होता है। हृदय शरीर के अशुद्ध रुधिर को लेकर, फिर उसे फेफडो द्वारा शुद्ध कर, शरीर को देता रहता है, और इसी उद्देश्य से सदा गति करता रहता है। इस दृष्टि से 'हृदय'-शब्द के अर्थ मे ही 'रुधिर की गति' (Circulation of blood) का भाव आ जाता है। इसका पता

एषः—यह, **प्रजापतिः**—प्रजापति है, **यद्**—जो, **हृदयम्**—हृदय है, **एतद् ब्रह्म**—यह ही ब्रह्म (सर्वश्रेष्ठ) है, **एतत् सर्वम्**—यह ही सब कुछ है (सब शरीर इसके ही सहारे है), **तद् एतद्**—तो यह, **त्र्यक्षरम्** (त्रि+अक्षरम्)—तीन अक्षरो (से युक्त) वाला है, **हृदयम् इति**—'हृदय' यह (पद), **हृ इति**—'हृ' यह, **एकम् अक्षरम्**—एक अक्षर है, **अभिहरन्ति**—पहुचाते हैं (लाकर भेंट करते है), **अस्मै**—इसको, **स्वाः च**—अपने बन्धु-बान्धव, **अन्ये च**—और अन्य (मनुष्य) भी, **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है, **द इति**—'द' यह, **एकम् अक्षरम्**—एक अक्षर है, **ददति**—देते हैं, **अस्मै**—इसको, **स्वाः च अन्ये च**—अपने और पराये, **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है, **यम् इति**—'यम्' यह, **एकम् अक्षरम्**—एक अक्षर है, **एति**—प्राप्त करता, पहुच जाता है, **स्वर्गम्**—सुखमय, आनन्दमय, **लोकम्**—लोक (स्थिति) को, **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥१॥

योरप मे हार्वे (१५७८-१६५७) ने १७वी शताब्दी मे लगाया था, परन्तु उससे बहुत पहले भारत मे इसका, जैसा इस शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्ट है, ज्ञान था।)

पंचम अध्याय--(चौथा ब्राह्मण)

(सत्य-ब्रह्म)

यह जो 'हृदय' है, उसी में आकर 'सत्य' बैठा हुआ है, यह 'सत्य' ही ब्रह्म' है, यह 'सत्य-ब्रह्म' महान् है, पूजनीय है, सब से पहले प्रकट होता है। जो प्राणी-मात्र के हृदय में निवास करने वाले 'सत्य-ब्रह्म' को जानता है, वह इन लोकों को जीत जाता है; जो इस महान्, पूजनीय, सब से प्रथम प्रकट होने वाले 'सत्य-ब्रह्म' को असत् मानता है, वह पराजित हो जाता है। सत्य ब्रह्म है, सत्य ही ब्रह्म है ॥१॥

पंचम अध्याय--(पांचवां ब्राह्मण)

(सत्य का अर्थ--भू -भुवः-स्व का अर्थ)

सृष्टि के प्रारंभ में 'आप्' ही थे, 'आप्', अर्थात् सर्वत्र व्याप्त

**तद्वै तदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद
सत्यं ब्रह्मेति जयतीमांल्लोकान् जित इन्न्वसावसद्य एवमेतं
महद्यक्ष प्रथमज वेद सत्य ब्रह्मेति सत्यँ ह्येव ब्रह्म ॥१॥**

तद् वै—तो निश्चय से, **तद् एव**—वह (हृदय मे) ही, **तद्**—वह, **आस**—बैठा था, विद्यमान था, **सत्यम्**—सत्य (सत्य रूप ब्रह्म), **एव**—ही, **सः**—वह, **यः ह**—जो तो, **एतम्**—इस, **महद्**—बडे, महनीय, महिमावाले, **यक्षम्**—पूजनीय, यजनीय, **प्रथमजम्**—सब से पूर्व प्रगट होनेवाले, जगद्रचना से भी पहिले वर्त्तमान, **वेद**—जानता है (कि), **सत्यम् ब्रह्म इति**—सत्य-ब्रह्म है इस रूप मे, **जयति**—जीत लेता है, **इमान्**—इन, **लोकान्**—लोको को, **जित.**—पराजित, **इत् नु**—निश्चय ही, **असौ**—यह (मूर्ख), **असत्**—सत्ता से रहित, अविद्यमान है, **य**—जो, **एवम्**—इस प्रकार, **एतम् महद् यक्षम् प्रथमजम् वेद सत्यम् ब्रह्म**—इस महनीय पूजनीय, प्रथम विद्यमान, सत्य-ब्रह्म को (असत्) जानता है, **सत्यम् हि एव ब्रह्म**—क्योकि सत्य ही ब्रह्म है अथवा ब्रह्म ही सत्य है (सत्य-ब्रह्म एक ही है) ॥१॥

**आप एवेदमग्र आसुस्ता आप. सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म
प्रजापतिं प्रजापतिर्देवाँस्ते देवा सत्यमेवोपासते तदेतत्त्र्य-
क्षरँ सत्यमिति स इत्येकमक्षर तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं**

हो रही 'अव्यक्त-प्रकृति' (Eternal matter) ही थी। प्रकृति जब अव्यक्त से व्यक्त (From Indefinite to Definite) अवस्था में आने लगी, तब 'सत्य' (Eternal Laws) प्रकट हुआ। अव्यक्त में भी 'सत्य' रहता है, परन्तु अव्यक्त में अव्यक्त-रूप से (Latent form) रहता है, व्यक्त में व्यक्त-रूप से (Patent form) प्रकट होता है। 'सत्य' के प्रकट होने पर 'ब्रह्म' प्रकट हुआ। अर्थात्, जब तक 'सत्य'-रूप विश्व के नियम, अव्यक्त-जगत् को व्यक्त करने के लिये क्रिया-शील नही होते, तब तक ब्रह्म भी अव्यक्त, अप्रकट ही रहता है, सत्य-रूप नियम जब प्रकट होने लगते है, तब अप्रकट ब्रह्म मानो प्रकट हो जाता है। ब्रह्म के प्रकट होने पर 'प्रजापति' प्रकट हुआ—वही आधार-भूत 'सत्य-शक्ति' जो 'ब्रह्म-रूप' मे प्रकट हुई थी, अब 'प्रजापति'-रूप में प्रकट हुई, अर्थात् विश्व का निर्माण तथा प्रजाओ का पालन-पोषण होने लगा। 'प्रजापति' के प्रकट होने पर 'देव' प्रकट हुए, अर्थात् जब विश्व का निर्माण प्रारंभ हुआ, तब दिव्य-गुणो को उत्पन्न किया गया, क्योंकि निर्माण की पूर्णता दिव्य-गुणो के प्रकट होने में ही है। इन दिव्य-गुणो का प्रारंभ 'सत्य' से ही है, अतः देव 'सत्य' की ही उपासना करते है—'सत्य' की ही शक्ति सब दिव्य-गुणो को दिव्य-गुण बनाती है। 'सत्य'—इसमें तीन अक्षर है। 'स' पहला अक्षर है, 'त्' दूसरा अक्षर है, 'य' तीसरा अक्षर है—इनमें से पहले अक्षर 'स' और तीसरे अक्षर 'य' में स्वर है, अतः ये दोनो स-स्वर है,

---

प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृत तदेतदनृतमुभयतः सत्येन
परिगृहीतँ सत्यभूयमेव भवति नैव विद्वाँसमनृतँ हिनस्ति ॥१॥

आप.—(जगत् का उपादान कारण) जल (व्यापक अव्यक्त प्रकृति), एव—ही, अग्रे—पहिले, आसुः—थे, ता·—उन, आप —जलो ने, सत्यम्—सत्य (सनातन नियम-धर्म) को, असृजन्त—उत्पन्न किया, सत्यम्—सत्य ने, ब्रह्म—ब्रह्म को, ब्रह्म—ब्रह्म ने, प्रजापतिम्—प्रजापति को, प्रजापतिः—प्रजा-पति ने, देवान्—देवताओ को; ते—वे, देवा.—देव-गण, सत्यम् एव उपासते—सत्य की ही उपासना (सेवन) करते है, तद् एतत्—वह यह, त्रि+अक्षरम्—तीन अक्षर वाला, सत्यम्—'सत्यम्', इति—यह (पद), स इति—'स' यह, एकम् अक्षरम्—एक अक्षर है, ति इति—'त्' यह (इकार उच्चारणार्थ है),

'सत्य' है, अविनाशी है, इनके मध्य मे 'त्' है, इसमें स्वर नही है, अतः यह स्वर-हीन है, 'अनृत' है, विनाशी है। यह अनृत 'त्' मानों दोनों ओर से 'स' और 'य' रूपी सत्य से जकड़ा हुआ है—अर्थात्, यह अनृतरूपा प्रकृति सत्य-रूप ब्रह्म तथा जीव से जकड़ी पड़ी है, और क्योंकि सत्य ने इसे दोनों तरफ से जकड़ रखा है, इसलिये यह अनृत होती हुई भी सत्य-रूप ही हो रही है। जो इस रहस्य को जान जाता है उसे 'अनृत' नही मार सकता ॥१॥

यह 'सत्य' ब्रह्मांड के इस मंडल में 'आदित्य-पुरुष' के रूप में और पिंड के मंडल में दायीं आंख में बैठे 'दक्षिणाक्षि-पुरुष' के रूप में विराज रहा है। 'आदित्य-पुरुष' तथा 'अक्षि-पुरुष' एक दूसरे में प्रतिष्ठित है। आदित्य अपनी रश्मियों से इसमें, और यह अपने प्राणों से उसमें प्रतिष्ठित है—दोनों में एक ही 'सत्य' की सत्ता है। ब्रह्म

एकम् अक्षरम्—एक अक्षर है, **यम् इति**—'यम्' यह, **एकम् अक्षरम्**—एक अक्षर है, **प्रथम+उत्तमे**—पहला ('स') और उत्तम (अन्तिम 'यम्'), **अक्षरे**—ये दोनो अक्षर, **सत्यम्**—सत्य रूप (सस्वर) है, **मध्यत**—मध्य मे होनेवाला ('त्' अक्षर), **अनृतम्**—असत्य (स्वर-हीन) है, **तद् एतद्**—वह यह, **अनृतम्** असत्य, **उभयतः**—दोनो ओर, **सत्येन**—सत्य से, **परिगृहीतम्**—घिरा हुआ, जकडा हुआ, **सत्यभूयम्**—अधिक सत्यवाला, सत्यबहुल, **एव**—ही, **भवति**—होता है, **न**—नही, **एवम् विद्वासम्**—ऐसे जाननेवाले को, **अनृतम्**—असत्य (रूप पाप), **हिनस्ति**—मारता-क्षति पहुचा सकता है ॥१॥

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चाय दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठित. प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डल पश्यति नैनमेते रश्मय. प्रत्यायन्ति ॥२॥

तद् यत्—तो जो, **तत् सत्यम्**—वह सत्य है, **स.**—वह, **आदित्य**—सूर्य है, **यः एष**—जो यह, **एतस्मिन्**—इस, **मण्डले**—सूर्यमण्डल (बिम्ब) मे, **पुरुषः**—उसका अधिष्ठाता चेतन पुरुष (परम आत्मा) है, **य. च अयम्**—और जो यह, **दक्षिणे**—दाहिने, **अक्षन्**—नेत्र मे, **पुरुष.**—शरीर का अधिष्ठाता चेतन पुरुष (जीव-आत्मा) है, **तौ**—वे, **एतौ**—ये दोनो (पुरुष), **अन्य. अन्यस्मिन्**—एक-दूसरे मे (परस्पर), **प्रतिष्ठितौ**—प्रतिष्ठा (आश्रय) वाले है, **रश्मिभि.**—किरणो से, **एष.**—यह (आदित्य-गत), **अस्मिन्**—इस

के सत्य के रूप में दर्शन करने वाला जब शरीर से उत्क्रमण करने लगता है, तब वह ब्रह्मांड के महामंडल को अपने शुद्ध रूप में देख रहा होता है—फिर ये सूर्य की किरणें उसके लिये लौट कर नहीं आतीं, वह मुक्त हो जाता है ॥२॥

'ब्रह्मांड' के मंडल में जो विराट् 'आदित्य-पुरुष' है, उसका 'भूः'—यह मानो सिर है; सिर एक होता है, और 'भूः' भी एक ही अक्षर है। उस विराट्-पुरुष के 'भुवः' मानो भुजाएं हैं; भुजा दो होती है, और 'भुवः' में भी दो ही अक्षर हैं। उसके 'स्वः' मानो प्रतिष्ठा है, पैर हैं; पैर दो होते हैं, और 'सुवः' में भी दो ही अक्षर हैं। जैसे पुरुष की उपनिषद् होती है, उसका ज्ञान होता है, वैसे सूर्य-रूप में प्रकट हो रहे विराट्-पुरुष की उपनिषद् 'अहः' है, दिन का प्रकाश है। जो ब्रह्मांड के विराट् तथा सत्य-रूप पुरुष की 'भूर्भुवः स्वः—इन तीन व्याहृतियो में कल्पना कर उसकी उपासना करता है वह पाप को मार भगाता है, और पाप भी उसे छोड़ भागता है ॥३॥

(अक्षि-गत पुरुष मे), **प्रतिष्ठितः**—प्रतिष्ठित है, **प्राणैः**—प्राणो (श्वास-प्रश्वास वा इन्द्रियो) से, **अयम्**—यह (अक्षि-गत); **अमुष्मिन्**—उस (आदित्य-गत) मे (प्रतिष्ठित है), **स**—वह (अक्षि-गत पुरुष), **यदा**—जब, **उत्क्रमिष्यन्**—(आख या शरीर से) निकलनेवाला, **भवति**—होता है (तो), **शुद्धम्**—निर्मल (दोप-रहित), **एव**—ही, **एतद्**—इस, **मण्डलम्**—सूर्य (विम्ब) को, **पश्यति**—देखता है, **न**—नही, **एनम्**—इस (अक्षि-गत पुरुष) को, **एते**—ये, **रश्मय**—किरणे, **प्रत्यायन्ति**—लौट कर (पुन) आती हैं ॥२॥

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥३॥

यः एष—जो यह, **एतस्मिन्**—इस, **मण्डले**—सूर्य-विम्ब (जगन्मात्र) मे, **पुरुष**—परम-आत्मा है, **तस्य**—उसका, 'भू' **इति**—'भू' यह (व्याहृति), **शिर**—सिर है, **एकम् शिर**—सिर एक होता है, **एकम् एतद्**—एक ही यह, **अक्षरम्**—अक्षर 'भू' है, **भुव इति**—'भुव' यह (व्याहृति), **बाहू**—बाहु (भुजाए) है, **द्वौ बाहू**—भुजाए दो होती है, **द्वे एते अक्षरे**—दो ये अक्षर ('भुव') है, **स्व इति**—'स्व' यह (व्याहृति), **प्रतिष्ठा**—आधार (पाद) है, **द्वे**—दो, **प्रतिष्ठे**—आधार (पाव) होते है; **द्वे एते**—दो ये, **अक्षरे**—अक्षर

'पिंड' के मंडल में जो 'दक्षिणाक्षि-पुरुष' है, उसका 'भूः'—यह मानो सिर है; सिर एक होता है, और 'भूः' भी एक ही अक्षर है। पिंड-पुरुष के 'भुवः' मानो भुजाएं हैं; भुजा दो होती हैं, और 'भुवः' में भी दो ही अक्षर हैं। उसके 'स्वः' मानो प्रतिष्ठा हैं, पैर हैं; पैर दो होते हैं, और 'सुवः' में भी दो ही अक्षर हैं। जैसे पुरुष की उपनिषद् होती है, उसका ज्ञान होता है, वैसे 'दक्षिणाक्षि' में प्रकट हो रहे पिंड के पुरुष की उपनिषद् 'अहम्' है, 'मैं' के दीपक से ही वह अपना प्रकाश करता है। जो पिंड के सत्य-रूप पुरुष की 'भूर्भुवः स्वः'—इन तीन व्याहृतियों में कल्पना कर उसकी उपासना करता है वह पाप को मार भगाता है, और पाप भी उसे छोड़ भागता है ॥४॥

पंचम अध्याय—(छठा ब्राह्मण)

(विराट् मनोमय पुरुष का निवास-स्थान हृदय है)

सत्य की आभा के लिये वह विराट्-पुरुष मनोमय है। वही हृदय में है। हृदय छोटा है, मानो व्रीहि या यव के समान क्षुद्र है,

---

('सुव') है, तस्य—उस (पुरुष परमात्मा) का, उपनिषद्—रहस्य (गुप्त) नाम (वाचक), अहः—(अहन्तव्य एव अहेय) प्रकाश या दिन, इति—यह है, हन्ति—(आये को) नष्ट करता है, पाप्मानम्—पाप को, जहाति च—और (न आये को) छोड देता है (उसमे लिप्त नही होता है), यः एवम् वेद—जो इस प्रकार ('अह'-ब्रह्म को) जानता है ॥३॥

योऽय दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षर भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्व एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्व एते अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मान जहाति च य एव वेद ॥४॥

यः अयम्—जो यह, दक्षिणे अक्षन्—दाहिनी आख (ज्ञान-साधन शरीर) मे, पुरुषः—अधिष्ठाता (जीव-आत्मा) है, तस्य—उस (पुरुष-जीवात्मा का), भू. इति उपनिषद्—अर्थ पूर्ववत्, अहम्—'मैं' (अहकार रूप), इति—यह (रहस्य-नाम) है, हन्ति वेद—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

मनोमयोऽय पुरुषो भा सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशान सर्वस्याधिपति. सर्वमिद प्रशास्ति यदिद किंच ॥१॥

मनोमयः—मनन-चिन्तन स्वरूप (स्वभाव से मन्ता), अयम्—यह, पुरुषः—जीवात्मा (शरीर)मे, और आदित्य (अदिति-प्रकृति के विकार ब्रह्माण्ड)

परन्तु इस क्षुद्र हृदय में रहता हुआ भी वह विराट् मनोमय-पुरुष सब का स्वामी है, सब का अधिपति है, यह जो-कुछ है उस सब पर वह शासन कर रहा है ॥१॥

पंचम अध्याय--(सातवां ब्राह्मण)

(विद्युत्-ब्रह्म का अर्थ)

कई कहते हैं 'विद्युत्' ब्रह्म है। 'विद्युत्' विदारण करती है, चीर डालती है, इसलिये 'विद्युत्' कहलाती है। जो ब्रह्म को 'विद्युत्' कहता हुआ इस रूप को जानता है, विद्युत्-रूप ब्रह्म उसके पापों का विदारण कर देता है, उन्हें चीर-फाड़ डालता है, इन अर्थों में 'विद्युत्' को ब्रह्म मानना ठीक ही है ॥१॥

पंचम अध्याय--(आठवां ब्राह्मण)

(वाक्-ब्रह्म)

वाणी को धेनु मानकर उसकी उपासना करे। वेद-वाणी-रूपी धेनु के चार स्तन हैं। 'स्वाहा'-'वषट्'-'हन्त'-'स्वधा'। मन्त्रों के साथ

मे परमात्मा, भाः—(स्वयम्) ज्योतिर्मय एव (शरीर एव जगत् के) प्रकाशक, सत्यः—सदा सनातन, तस्मिन्—उस, अन्तः हृदये—हृदय के अन्दर, यथा—जैसे, व्रीहिः वा—धान, यवः वा—या जौ के दाने (के समान सूक्ष्म), सः एष—वह यह (पुरुष), सर्वस्य—सब (शरीर या जगत्) का, ईशानः—स्वामी, प्रभु, सर्वस्य अधिपतिः—सब का रक्षक-पालक, सर्वम् इदम्—इस सब (शरीर एव जगत्) का, प्रशास्ति—शासन (नियमन) करता है, यद् इदम् किंच—जो कुछ भी यह है ॥१॥

विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य
एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥१॥

विद्युत्—विदारण करनेवाला (सहर्ता), ब्रह्म—ब्रह्म है, इति—ऐसे, आहुः—कई कहते हैं, विदानात्—खण्डन (नाश) करने के कारण, विद्युत्—(वह ब्रह्म) विद्युत् (कहलाता है), वि+द्यति—अलग करता है (बचाता है), एनम्—इस (ज्ञानी) को, पाप्मन—पाप मे, यः एवम्—जो इस प्रकार, वेद—जानता है, विद्युद् ब्रह्म इति—कि ब्रह्म विद्युत् (विदारयिता-सहर्त्ता) है, विद्युत् हि एव ब्रह्म—क्योकि 'विद्युत्' स्वरूप ही ब्रह्म है ॥१॥

वाच धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वार स्तनाः स्वाहाकारो
वषट्कारो हन्तकार स्वधाकारस्तस्या द्वौ स्तनौ देवा

'स्वाहा' तथा 'वषट्' उच्चारण करके देवों को हवि दी जाती है—मानो देवगण 'स्वाहाकार' और 'वषट्कार'-रूपी वाणी के स्तनों का दूध पीकर जीते हैं। मनुष्यों को 'हन्त' और पितरों को 'स्वधा' से हवि दी जाती है, मानो ये वाणी के इन स्तनों से दुग्ध-पान करते हैं। इस 'वाणी'-रूपी धेनु का वृषभ—इसका बैल की तरह स्वामी 'प्राण' है; इनका बछड़ा 'मन' है। 'वाणी', 'प्राण', 'मन' मानो 'गाय', 'बैल' और 'बछड़ा' हैं—वाणी का स्वामी प्राण है, वाणी का ज्ञान-रूपी दूध मन-रूपी बछड़े की प्रेरणा से ही थनों में उतरता है ॥१॥

पंचम अध्याय—(नौवां ब्राह्मण)

(वैश्वानर क्या है ?)

इसी पुरुष के भीतर जो अग्नि है, जिससे खाया हुआ अन्न पचता है, यह 'वैश्वानर-अग्नि' है; कानों को बन्द करने से जो भीतर का

उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकार मनुष्या·
स्वधाकारं पितरस्तस्या· प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥१॥

वाचम्—वाणी को, **धेनुम्**—गौ-रूप मे, **उपासीत**—उपासना करे, समझे, **तस्याः**—उस (वाणी-रूप गौ) के, **चत्वारः**—चार, **स्तना·**—स्तन है, **स्वाहाकारः वषट्कारः हन्तकारः स्वधाकारः**—स्वाहा, वपट्, हन्त और स्वधा (नामवाले), **तस्याः**—उस (वाग्-धेनु) के, **द्वौ स्तनौ**—दो स्तनो को (पर), **देवाः**—देव (विद्वान्), **उपजीवन्ति**—जीवन धारण करते है, **स्वाहाकारम् च वषट्कारम् च**—स्वाहा और वपट् (नामी स्तनो पर), **हन्तकारम्**—हन्त (सज्ञक स्तन) पर, **मनुष्याः**—मनुष्य, **स्वधाकारम्**—स्वधा-(सज्ञक स्तन) पर, **पितरः**—पितृ-गण (जीवन धारण करते है), **तस्याः**—उस (वाग्-धेनु) का, **प्राणः**—प्राण (जीवन-शक्ति, श्वास-प्रश्वास) ही, **ऋषभ·**—बैल (उत्पादयिता) है, **मनः**—मन, **वत्सः**—वछडा है ॥१॥

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्त पुरुषे येनेदमन्न पच्यते
यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय
शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषँ शृणोति ॥१॥

अयम्—यह, **अग्नि**—अग्नि, **वैश्वानर**—'वैश्वानर' कहलाता है, **यः अयम्**—जो यह, **अन्तः पुरुषे**—(जीवित) देह के अन्दर है, **येन**—जिस (अग्नि) से, **इदम् अन्नम्**—यह अन्न, **पच्यते**—पचता है, **यद् इदम्**—जो यह, **अद्यते**—खाया जाता है (जिसे खाते हैं), **तस्य**—उस ('वैश्वानर'-अग्नि) का,

घोष सुनाई देता है, वह इस वैश्वानर-अग्नि का घोष है; जब यह मरने के आस-पास होता है, तब यह घोष नहीं सुन पड़ता ॥१॥

पंचम अध्याय--(दसवां ब्राह्मण)
(मरणानन्तर ऊर्ध्व-गमन)

जब पुरुष इस लोक से मरकर प्रस्थान करता है, तब पहले-पहल वह 'वायु-लोक' में जाता है। 'वायु-लोक' से ऊपर निकलने का एक सूक्ष्म-मार्ग है--रथ-चक्र के सूक्ष्म छिद्र के समान। यह पुरुष 'वायु-लोक' को छोड़कर इस छिद्र से ऊपर चढ़ जाता है, और 'आदित्य-लोक' को पहुंच जाता है। 'आदित्य-लोक' से ऊपर निकलने का एक सूक्ष्म-मार्ग है--लम्बर बाजे के सूक्ष्म-छिद्र के समान। यह पुरुष 'आदित्य-लोक' को छोड़कर इस छिद्र से ऊपर चढ़ जाता है, और 'चन्द्र-लोक' को पहुंच जाता है। 'चन्द्र-लोक' से ऊपर निकलने का

एषः—यह, **घोषः**—नाद, शब्द, **भवति**—हो रहा है, **यम्**—जिस (घोष) को, **एतत्+कर्णौ**—इन कानो को, **अपिधाय**—ढक कर, बन्द करके, **शृणोति**—(मनुष्य) सुनता है; **सः**—वह (जीवात्मा-पुरुष), **यदा**—जब, **उत्क्रमिष्यन् भवति**—शरीर छोडनेवाला होता है, **न**—नही, **एनम् घोषम्**—इस नाद को, **शृणोति**—सुन पाता है (क्योकि वैश्वानर अग्नि बुझ रही होती है) ॥१॥

> यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स
> तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स
> आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य
> खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स
> तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स
> लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वती. समा ॥१॥

यदा वै—जब, **पुरुषः**—जीव-आत्मा, **अस्मात् लोकात्**—इस लोक (देह) मे, **प्रैति**—छोडकर चला जाता है, **स**—वह, **वायुम्**—वायु को, **आगच्छति**—प्राप्त होता है, **तस्मै**—उसके लिये, **स**—वह (वायु), **तत्र**—वहा, **विजिहीते**—(मार्ग) छोड देता है (इतना सूक्ष्म), **यथा**—जैसे, **रथचक्रस्य**—रथ के पहिये का, **खम्**—छेद (आकाश, अवकाश), **तेन**—उस (छिद्र) से, **ऊर्ध्वः**—ऊपर की ओर, **आक्रमते**—चढना—चढता है, **स**—वह, **आदित्यम्**—सूर्य-लोक को, **आगच्छति**—आता—पहुचता है, **तस्मै**—उस (जीवात्मा) के लिए, **स**—वह (आदित्य), **तत्र**—वहा, **विजिहीते**—(मार्ग) छोड देता है, **यथा**—

एक सूक्ष्म-मार्ग है—दुन्दुभि बाजे के सूक्ष्म-छिद्र के समान। यह पुरुष 'चन्द्र-लोक' को छोड़कर इस छिद्र से ऊपर चढ जाता है और शोक-रहित, हिम-रहित लोक में पहुंच जाता है जहां यह अनन्त वर्षो तक रहता है ॥१॥

(ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषत्कार मरने के बाद वायु-की-सी धुधली-सी अवस्था, सूर्य-की-सी उग्र तेज की अवस्था, चन्द्र-की-सी शान्त-तेज की अवस्था, और पूर्ण आनन्द की अवस्था—जीव की इस प्रकार की अवस्थाए मानते थे, या कई लोग कहते है कि वे सचमुच के ऐसे लोक मानते थे जिनमे से आत्मा गुजरता है। ऐसा ही वर्णन मुडक १-२, छान्दोग्य, ४-१५, ५-१०-५; ८-६-५ मे भी पाया जाता है।)

पंचम अध्याय—(ग्यारहवां ब्राह्मण)

(तप का स्वरूप)

व्याधि-ग्रस्त होकर घबराने के स्थान में यह समझना कि यह व्याधि भी एक तप है—परम-तप है! जो इस रहस्य को समझता है वह परम-लोक को जीत लेता है। मर जाने के बाद मृत-पुरुष के बन्धु-

---

जैसे, **लम्बरस्य**—वाद्य-विशेष का, **खम्**—छिद्र (अत्यन्त सूक्ष्म), **तेन**—उस (छिद्र) से, **सः ऊर्ध्वः आक्रमते**—वह और अधिक ऊपर (आगे) चढता-बढता है, **सः**—वह, **चन्द्रमसम्**—चन्द्रमा को, **आगच्छति**—पहुच जाता है, **तस्मै सः तत्र विजिहीते**—उसके लिए चन्द्रलोक मार्ग छोड देता है, **यथा**—जैसा, **दुन्दुभेः**—दुन्दुभि बाजे का, **खम्**—छिद्र (आकाश, अवकाश), **तेन सः ऊर्ध्वः आक्रमते**—उस (मार्ग) से वह (जीवात्मा) ऊपर (आगे) चढता है, **स**—वह (जीवात्मा), **लोकम्**—(उस) लोक (स्थिति-अवस्था) को, **आगच्छति**—पहुच जाता है, **अशोकम्**—(जो) शोक (दु ख-क्लेश) से रहित है, **अहिमम्**—जडता-रहित (परम चेतन) है, **तस्मिन्**—उस (लोक) मे, **वसति**—निवास करता है, **शाश्वतीः**—चिरकाल, अनन्त, **समाः**—वर्षो तक ॥१॥

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमꣳ हैव लोकं जयति य एव वेदैतद्वै परम तपो यं प्रेतमरण्यꣳ हरन्ति परमꣳ हैव लोकं जयति य एव वेदैतद्वै परम तपो य प्रेतमग्ना-वभ्यादधति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेद ॥१॥

बान्धव उसे जलाने के लिये जंगल में ले जाते हैं—यह बन्धु-बान्धवों का परम-तप है। जो इस रहस्य को समझता है वह परम-लोक को जीत लेता है। मरने के बाद बन्धु-बान्धव मृत-देह को अग्नि में रख देते हैं—यह भी परम-तप है। जो इस रहस्य को जानता है वह परम-लोक को जीत लेता है। (इससे स्पष्ट है कि मृत-देह को जलाने की प्रथा अति प्राचीन है।) ॥१॥

पंचम अध्याय--(बारहवां ब्राह्मण)

(अन्न-ब्रह्म--प्राण-ब्रह्म)

कई लोग कहते हैं कि 'अन्न' ब्रह्म है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि प्राण के बिना अन्न सड़ जाता है; कई लोग कहते हैं कि 'प्राण' ब्रह्म है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि बिना अन्न के प्राण सूख जाता है। सचाई तो यह है कि 'अन्न' तथा 'प्राण'—ये दोनों एक होकर अपना ध्येय पूरा करते हैं। कहते हैं कि 'अन्न' (Materialism) तथा 'प्राण' (Spiritualism) को मिलकर काम करना चाहिये--इस तत्त्व को समझ चुकने पर प्रातृद नामक आचार्य ने अपने पिता से कहा, 'अन्न' तथा 'प्राण' के, अर्थात् आधिभौतिक-वाद तथा अध्यात्म-वाद के समन्वय करने वाले ब्रह्म-ज्ञानी के लिये मैं क्या कर सकता हूं? उसका

एतद् वै—यह तो, परमम्—परम, तपः—तप (दुःख-द्वन्द्वों का सहन करना) है, यत्—जो, व्याहितः—व्याधि-ग्रस्त (होकर), तप्यते—तप करता है, परमम्—परम, ह एव—निश्चय ही, लोकम्—लोक को; जयति—जीतता, प्राप्त करता है, यः एवम्—जो इस प्रकार (व्याधि-तप को), वेद—जानता है, एतद् वै परमम् तपः—यह भी परम तप (दुःख-शोक को सहना) है, यम्—जिस, प्रेतम्—मृत पुरुष के शव को, अरण्यम्—जंगल में (श्मशान में), हरन्ति—ले जाते हैं, परमम् वेद—अर्थ पूर्ववत्, एतद् वै परमम् तपः—यह भी परम तप है, यम् प्रेतम्—जिस मृत-शरीर (शव) को, अग्नौ—अग्नि में, अभ्यादधति—रखते हैं (जलाते हैं), परमम् वेद—अर्थ पूर्ववत् ॥१॥

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतस्तद्ध स्माह प्रातृदः पितरं किं स्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्यां किमेवास्मा असाधु

भला भी नहीं कर सकता, बुरा भी नहीं कर सकता—वह तो इतना ऊपर उठा हुआ है कि मैं उसका न कुछ बना सकता हूं, न बिगाड़ सकता हूं! यह सुन कर पिता ने हाथ हिलाते हुए कहा, प्रातृद! नहीं, कौन है जो संसार में इन दोनो की एकता करके परम लक्ष्य की तरफ़ पहुंच जाय—'अन्न' वाला अन्न में डूबा रहता है, 'प्राण' वाला प्राण में डूबा रहता है! प्रातृद ने अपने पिता से कहा, नही पिताजी, संसार में 'वीर' पुरुष है, जो इन दोनों का समन्वय कर देते हैं। 'वीर' के 'वी' का अभिप्राय 'अन्न' है—अन्न में ही तो सब प्राणी 'विष्ट' हैं; 'वीर' के 'र' का अभिप्राय 'प्राण' है—प्राण में ही तो

कुर्यामिति स ह स्माह पाणिना मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधा-
भूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्नं वै
व्यन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि रमिति प्राणो वै रं
प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा अस्मि-
न्भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥१॥

अन्नम्—अन्न, **ब्रह्म**—ब्रह्म (श्रेष्ठ) है, **इति**—ऐसे, **एके**—कई, **आहुः**—कहते हैं, **तत्**—वह (कथन), **न**—नही, **तथा**—वैसे ही (ठीक) है, **पूयति**—सड जाता है, **वै**—निश्चय, **अन्नम्**—अन्न, **ऋते**—विना, **प्राणात्**—प्राण (वायु) के, **प्राणः ब्रह्म**—प्राण ही ब्रह्म है, **इति एके आहुः**—ऐसा कई कहते है, **तत् न तथा**—वह कथन वैसे ही (ठीक) नही है, **शुष्यति**—सूख जाता है, **वै**—ही, **प्राणः**—प्राण, **ऋते अन्नात्**—अन्न के विना, **एते**—ये दोनो, **ह तु एव**—तो ही, **देवते**—देवता, **एकधाभूयम्**—एकरूप वाले (समन्वित), **भूत्वा**—होकर, **परमताम्**—श्रेष्ठता (ब्रह्मता) को, **गच्छतः**—प्राप्त करते हैं, **तद् ह**—तो कभी पहले, **स्म आह (आह स्म)**—कहा था, **प्रातृदः**—प्रातृद (नामक युवक) ने, **पितरम्**—(अपने) पिता को, **किंस्विद् एव**—क्या तो, **एवम्**—इस प्रकार (एकरूपता को), **विदुषे**—ज्ञाता के लिए, **साधु**—अच्छा, भलाई, **कुर्याम्**—करू, कर सकता हू, **किम् एव**—क्या ही, **अस्मै**—इस (ज्ञानी) के लिए, **असाधु**—बुरा, **कुर्याम्**—करू, **इति**—यह (कहा था), **स**—उस (पिता) ने, **ह स्म आह**—कहा था, **पाणिना**—हाथ (के सकेत) द्वारा, **मा**—मत, **प्रातृद**—हे पुत्र प्रातृद!, **कः तु**—कौन तो, **एनयोः**—इन दोनो की, **एकधाभूयम् भूत्वा**—एकरूप होकर, **परमताम् गच्छति इति**—श्रेष्ठता को पाता है, **तस्मै उ ह**—और उसको, **एतद् उवाच**—यह कहा, **वीति**—(पहले) 'वी' यह प्रतीक देकर कहा, **अन्नम् वै**—अन्न (का नाम),

सब प्राणी 'रमण' करते हैं। जो इस रहस्य को जानता है, उसमें सब प्राणी प्रविष्ट हो जाते हैं, सब उसमें रमण करते हैं—वह सब का आश्रय-स्थान बन जाता है ॥१॥

पंचम अध्याय—(तेरहवां ब्राह्मण)

(उक्थ, यजु, साम, क्षत्र का अर्थ)

कर्म-कांड में 'उक्थ'-'यजु'-साम'-'क्षत्र' आदि शब्द आते हैं। उन सब को ऋषि अध्यात्म में घटाते हुए कहते हैं कि इनकी उपासना तभी सार्थक है जब उपासक 'प्राण' की उपासना करे। 'प्राण' ही 'उक्थ' है, प्राण ही 'यजु'-'साम'-'क्षत्र' है, अतः इनकी नहीं, 'प्राण' की उपासना करे।

पहले 'उक्थ' के विषय में कहते हैं। 'प्राण' ही 'उक्थ' है क्योंकि प्राण ही सब को उठाता है। प्राण के सहारे बीज भूमि फाड़ कर उठ आता है, प्राण के वेग से ही जन्तु गर्भ से बाहर आता है। जो प्राण के इस रहस्य को जानता है उसका उक्थ-वेत्ता वीर-पुत्र होता है, और वह स्वयं उक्थ की सायुज्यता और सलोकता को जीत लेता है। 'सायुज्य' का अर्थ है, साथ जुड़ जाना; 'सलोक' का अर्थ है,

---

वी—'वी' है, **अन्ने हि**—क्योंकि अन्न मे (पर) ही, **इमानि**—ये, **सर्वाणि**—सारे, **भूतानि**—प्राणी, **विष्टानि**—आश्रित हैं, **रम् इति**—फिर 'रम्' यह बताया (दोनो मिलकर 'वीरम्' यह हुआ), **प्राणः वै**—प्राण (का नाम), **रम्**—'रम्' है, **प्राणे हि**—क्योकि प्राण मे ही (प्राण के होने पर ही), **इमानि सर्वाणि भूतानि**—ये सारे प्राणी, **रमन्ते**—आनन्दित होते है, **सर्वाणि ह वै**—सारे ही, **अस्मिन्**—इस (ज्ञाता) मे, **भूतानि**—प्राणी, **विशन्ति**—प्रवेश पाते है (आश्रय पाते है), **सर्वाणि भूतानि**—सारे प्राणी, **रमन्ते**—रमण करते है (आनन्द पाते हैं), **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥१॥

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदँ सर्वमुत्थापयत्युद्धास्मादुक्थ-
विद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यँ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥१॥

उक्थम्—'उक्थ' (का विवरण यह है), **प्राणः वै**—प्राण ही, **उक्थम्**—'उक्थ' (सज्ञक) है, **प्राणः हि**—क्योकि प्राण ही, **इदम् सर्वम्**—इस सब को, **उत्थापयति**—ऊपर उठाता है, उन्नत करता है, **ह**—और, **अस्मात्**—इससे, **उक्थविद्**—उक्थ का ज्ञाता, **वीरः**—वीर पुरुष, **उद् तिष्ठति**—आगे (वश-

उसी धरातल पर आ जाना। उक्थ के साथ 'सायुज्य' का अर्थ है उसके साथ एक हो जाना; उक्थ के साथ 'सलोक' का अर्थ है उसी के लोक में, धरातल में, स्तर में जा पहुंचना ॥१॥

अब 'यजु' के विषय में कहते हैं। 'प्राण' ही 'यजु' है, क्योंकि प्राण में ही सब जीव-जन्तु 'युक्त' है, जुड़े हुए हैं। जो प्राण के इस रहस्य को जानता है, सब प्राण-धारी मानो उसकी श्रेष्ठता को बढ़ाने के लिये उसके साथ जुड़ जाते हैं, और वह स्वयं यजु की सायुज्यता और सलोकता को जीत लेता है ॥२॥

अब 'साम' के विषय में कहते हैं। 'प्राण' ही 'साम' है, क्योंकि प्राण में सब जीव-जन्तु सिमटे हुए हैं। जो प्राण के रहस्य को जानता है, सब प्राण-धारी मानो उसकी श्रेष्ठता बढ़ाने के लिये आ सिमिटते हैं और वह स्वयं साम की सायुज्यता और सलोकता को जीत लेता है ॥३॥

वृद्धि के लिए) उठता (उत्पन्न होता) है, **उक्थस्य**—प्राण-रूप उक्थ की, **सायुज्यम्**—सहयोगिता, निकट योग, **सलोकताम्**—समान लोक (स्थिति-स्थान) की प्राप्ति को, **जयति**—जीतता, पहुच जाता है, **यः एवम् वेद**—जो इस प्रकार जानता है ॥१॥

यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यँ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥२॥

यजुः—'यजु' (का विवरण यह है), **प्राणः वै यजुः**—प्राण (का नाम) ही 'यजु' है, **प्राणे हि**—क्योंकि प्राण मे ही, **इमानि सर्वाणि भूतानि**—ये सारे भूत, **युज्यन्ते**—युक्त होते (जुडते—सबद्ध रहते) है, **युज्यन्ते**—सबद्ध होते है, **ह**—निश्चय ही, **अस्मै**—इस (ज्ञाता) के प्रति, **सर्वाणि भूतानि**—सब भूत, **श्रैष्ठ्याय**—श्रेष्ठता (सम्पादन करने) के लिए, **यजुषः**—(प्राण-रूप) यजु की, **सायुज्यं वेद**—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि
सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय
कल्पन्ते साम्नः सायुज्यँ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥३॥

साम—'साम' (का निरूपण यह है), **प्राणः वै साम**—प्राण (का नाम) ही 'साम' है, **प्राणे हि**—क्योंकि प्राण मे ही, **इमानि सर्वाणि भूतानि**—ये सब भूत, **सम्यञ्चि**—सगत हुए-हुए है, **सम्यञ्चि**—सगत हुए (होकर), **ह**—

अब 'क्षत्र' के विषय में कहते हैं। 'प्राण' ही 'क्षत्र' है, क्योंकि प्राण ही शरीर को क्षति से—नष्ट होने से—बचाता है। जो प्राण के इस रहस्य को जानता है, वह उस 'क्षत्र', अर्थात् बल को प्राप्त करता है, जो 'अ+त्र' है, अर्थात् जो किसी दूसरे से त्राण नहीं चाहता, और वह स्वयं क्षत्र की सायुज्यता और सलोकता को जीत लेता है ॥४॥

पंचम अध्याय—(चौदहवां ब्राह्मण)

(गायत्री का अर्थ)

'भूमि-अन्तरिक्ष-दिऔ'—ये आठ अक्षर हैं। गायत्री के 'तत् स वि तु र्व रे णि यम्'—इस एक पद में भी आठ ही अक्षर हैं। इसलिये गायत्री के प्रथम पद के अक्षर मानो भूमि-अन्तरिक्ष-द्यौ—ये तीनो लोक हैं। इस पद का उच्चारण करता हुआ तीनों लोकों का ध्यान करे। जो गायत्री के प्रथम पद को इस प्रकार जानता है वह तीनो लोको में जितना प्राप्तव्य है उतना पा जाता है ॥१॥

निश्चय ही, अस्मै—इसके लिए, सर्वाणि भूतानि—सब प्राणी, श्रैष्ठ्याय—श्रेष्ठता (सम्पादन के) लिए, कल्पन्ते—समर्थ होते हैं, साम्नः—प्राण-रूप साम की, सायुज्यम् वेद—अर्थ पूर्ववत् ॥३॥

क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्रक्षत्रमत्रमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥४॥

क्षत्रम्—'क्षत्र' (का विवरण यह है), प्राणः वै क्षत्रम्—प्राण (का नाम) 'क्षत्र' है, प्राणः हि वै क्षत्रम्—प्राण ही क्षत्र (बल) है (क्योंकि), त्रायते—रक्षा करता है, ह एनम्—निश्चय ही इस (शरीर) को, प्राणः—प्राण, क्षणितोः—क्षत (चोट, घाव) से, क्षीणता (कमजोरी) से, प्र+क्षत्रम्—प्रकर्ष (उत्कृष्ट) बल को, अ+त्रम्—रक्षा के अभाव को (रक्षा की आवश्यकता नही रहती, सर्वदा सुरक्षा को), आप्नोति—प्राप्त कर लेता है, क्षत्रस्य—प्राण-रूप क्षत्र की, सायुज्यम् वेद—अर्थ पूर्ववत् ॥४॥

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥१॥

भूमिः—भूमि (पृथिवी-लोक), अन्तरिक्षम्—अन्तरिक्ष-लोक, द्यौः—द्यु-लोक; इति—इन (लोको के नाम) मे, अष्टौ—आठ, अक्षराणि—अक्षर हैं, अष्टाक्षरम्—आठ अक्षर वाला, ह वै—ही तो, एकम्—एक, गायत्र्यै—गायत्री का, पदम्—(प्रथम चरण) है, एतद् उ ह एव—यह ही तो, अस्याः—

'ऋचः यजूंषि सामानि'—ये आठ अक्षर हैं। गायत्री के 'भ र्गो दे व स्य धी म हि'—इस एक पद में भी आठ ही अक्षर हैं। इसलिये गायत्री के द्वितीय पद के अक्षर मानो ऋक्-यजु-साम—ये त्रयी-विद्या हैं। इस पद का उच्चारण करता हुआ वेद की त्रयी-विद्या का ध्यान करे। जो गायत्री के द्वितीय पद को इस प्रकार जानता है वह त्रयी-विद्या में जितना प्राप्तव्य है उतना पा जाता है ॥२॥

'प्राणः अपानः विआनः'—ये आठ अक्षर हैं। गायत्री के 'धि यो यो नः प्र चो द या त्'—इस एक पद में भी आठ ही अक्षर हैं। इसलिये गायत्री के तृतीय पद के अक्षर मानो प्राण-अपान-व्यान—ये तीनों प्राण हैं। इस पद का उच्चारण करता हुआ तीनों प्राणों का ध्यान करे। जो गायत्री के तृतीय पद को इस प्रकार जानता है वह जितना प्राणि-समुदाय में प्राप्तव्य है उतना पा जाता है।

गायत्री के तीन पदों की व्याख्या हो गई। गायत्री का एक 'तुरीय', 'दर्शत', 'परोरजा' पद भी है। 'तुरीय' का अर्थ है, 'चतुर्थ-पद'; 'दर्शत' का अर्थ है, 'जो दीखता-सा' है; 'परोरजा' का अर्थ है, 'प्रकृति से भी जो परे' है। गायत्री का यह प्रकृति से भी परे,

---

इस (गायत्री) का, **एतत् सः**—यह वह है, **यावद्**—जितना, **एषु**—इन, **त्रिषु लोकेषु**—तीनो लोको मे, **तावत् ह**—उतने भर को, **जयति**—जीत लेता—वश मे कर लेता है, **यः**—जो, **अस्याः**—इस (गायत्री) के, **एतद्**—इस, **एवम्**—इस प्रकार, इस रूप मे, **पदम्**—(प्रथम) चरण को या प्राप्तव्य (अभिप्रेत, भाव) को; **वेद**—जान लेता है ॥१॥

ऋचो यजूंषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥२॥

ऋचः—ऋचाए (ऋग्वेद), **यजूंषि**—यजुर्वेद, **सामानि**—सामवेद, **इति**—इन (वेदो के नाम) मे, **अष्टौ एतत्सः**—अर्थ पूर्ववत्, **यावती**—जितनी, **इयम्**—यह, **त्रयी विद्या**—ज्ञेय तीनो वेद है, **तावत् वेद**—अर्थ पूर्ववत् ॥२॥

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परो-रजा य एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश

दीखता-सा, चतुर्थ पद वही है, जो विश्व में तप रहा है—गायत्री के उसी चतुर्थ पद के प्रताप से यह निखिल-विश्व, एक के ऊपर दूसरा, मानो एक महान् तपस्या में लीन है। जो गायत्री के चतुर्थ पद को प्रकृति से भी परे हो रही, दीखती-सी, तुरीय-रूप प्रभु की तपस्या में देख लेता है, वह भी श्री और यश से तप उठता है, चमक उठता है ॥३॥

गायत्री की प्रतिष्ठा अपने पहले तीन पदों में नहीं, इसी 'तुरीय', 'दर्शत', 'परोरज'-पद में है, और वह तुरीय-पद 'सत्य' में प्रतिष्ठित है। 'चक्षु' 'सत्य' है, 'चक्षु' ही 'सत्य' है, इसीलिये जब दो व्यक्ति विवाद करते हुए आते हैं, एक कहता है मैंने देखा, दूसरा कहता है

इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तप-
त्येवं ह्येव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥३॥

प्राणः—प्राण, **अपानः**—अपान, **व्यानः**—व्यान, **इति**—इन (प्राण-भेदों के नाम) में, **अष्टौ अक्षराणि**—आठ अक्षर हैं, **अष्टाक्षरम् ह वै**—आठ अक्षरों वाला ही तो, **एकम्**—एक, **गायत्र्यै**—गायत्री का, **पदम्**—(तृतीय) चरण है, **एतद् उ यावत्**—अर्थ पूर्ववत्, **इदम्**—यह, **प्राणि**—प्राणधारी है, **तावद् वेद**—अर्थ पूर्ववत्, **अथ**—और, **अस्याः**—इस (गायत्री) का, **एतद् एव**—यह ही, **तुरीयम्**—चौथा, **दर्शतम्**—दर्शनीय, **पदम्**—पद (चरण, प्राप्तव्य) है, **परोरजाः**—निर्मल, शुद्ध, रजोगुण या प्रकृति एवं लोकों से ऊपर हुआ, **यः एषः**—जो यह, **तपति**—तप रहा है, **यद् वै**—जो तो; **चतुर्थम्**—चौथा, **तत्**—वह, **तुरीयम्**—चौथा, **दर्शतम्**—दर्शनीय, **पदम्**—पद है, **इति**—ऐसे, **ददृशे इव**—वह दिखता-सा है, **हि**—क्योंकि, **एषः**—यह, **परोरजा**—लोकों से ऊपर (बढ़ कर) है, **इति**—अतः, **सर्वम् उ हि एव**—सब ही, **एषः**—यह, **रजः**—लोकों को, **उपरि-उपरि**—ऊपर-ऊपर, **तपति**—तपा रहा है, **एवम् ह एव**—इस प्रकार ही, **श्रिया**—शोभा, लक्ष्मी से, **यशसा**—यश से, **तपति**—तपता (प्रकाशित होता) है, **यः**—जो, **अस्याः**—इस (गायत्री) के, **एतद्**—इस, **एवम्**—ऐसे, **पदम्**—(चतुर्थ-तुरीय) पद को, **वेद**—जानता है ॥३॥

सैषा गायत्र्येतस्मिँस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वै
तत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ
विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति
तस्मा एव श्रद्दध्याम तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं

मैंने सुना, तो जो कहता है मैंने देखा, उसी की बात हम मानते हैं। गायत्री का 'दर्शत' नाम का चतुर्थ पद मानो प्रभु के उस चतुर्थ 'दर्शत' पद का स्मरण करा रहा है जो विश्व में तपस्या करता हुआ मानो आंखों से प्रत्यक्ष दीख रहा है। 'दर्शत' होने से यही उसका 'सत्य' पद है। 'सत्य' (Laws) 'बल' (Energy) में प्रतिष्ठित है—'सत्य' में ही तो 'बल' होता है, 'असत्य' में 'बल' नहीं होता। यह 'बल' क्या सिर्फ 'भौतिक-बल' (Physical Energy—Material force) है? नहीं, 'बल' (Energy) तो 'प्राण' (Life) है—इसलिये 'सत्य' 'बल' में और 'बल' 'प्राण' में प्रतिष्ठित है, बिना प्राण-शक्ति के बल नहीं होता, तभी कहते हैं 'बल' 'सत्य' से बड़ा है। जिस प्रकार गायत्री आधिभौतिक-जगत् में, 'ब्रह्माण्ड' में, उपासक को प्राण-शक्ति के महत्त्व को दर्शाती है, उसी प्रकार अध्यात्म में, 'पिंड' में भी गायत्री की ऐसी ही प्रतिष्ठा है। 'गय' नाम प्राणों का है, क्योंकि यह शरीर के 'गय', अर्थात् प्राणों का त्राण करती है, इसलिये इसे गायत्री कहते हैं।

तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलँ सत्यादोजीय इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा गयाँस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाँस्तत्रे तद्यद्गयाँस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम स यामेवामूँ सावित्रीमन्वाहैषैव सा स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाँस्त्रायते ॥४॥

सा एषा गायत्री—वह यह गायत्री (मन्त्र), **एतस्मिन्**—इस, **तुरीये**—चौथे, **दर्शते**—दर्शनीय, ज्ञेय, **पदे**—चरण या प्राप्तव्य में, **परोरजसि**—लोकों से परे, **प्रतिष्ठिता**—स्थित है, **तद् वै तत्**—तो वह (तुरीय पद), **सत्ये**—सत्य में, **प्रतिष्ठितम्**—प्रतिष्ठित है, **चक्षुः वै सत्यम्**—नेत्र (का विषय प्रत्यक्ष) ही सत्य है, **चक्षुः**—नेत्र, **हि**—क्योंकि, **वै**—ही, **सत्यम्**—सत्य है, **तस्मात्**—अतएव, **यद्**—जो, जब, **इदानीम्**—अब, **द्वौ**—दो, **विवदमानौ**—विवाद करते हुए, **एयाताम्**—आवें, **अहम्**—मैंने, **अदर्शम्**—देखा था, **अहम्**—मैंने, **अश्रौषम्**—सुना था, **इति**—ऐसे, **यः**—जो, **एवम्**—इस प्रकार, **ब्रूयाद्**—कहे, **अहम् अदर्शम् इति**—(कि) मैंने देखा है, **तस्मै**—उसके लिये, उसपर, **एव** ही, **श्रद्दध्याम**—श्रद्धा (विश्वास) करते हैं, **तद् वै**—और, **तत् सत्यम्**—वह सत्य, **बले**—बल पर, **प्रतिष्ठितम्**—स्थित है, **प्राणः वै**—प्राण ही तो, **बलम्**—बल है, **तत्**—वह (सत्य), **प्राणे प्रतिष्ठितम्**—प्राण में स्थिति वाला है, **तस्मात्**—तब ही तो, **आहुः**—कहते हैं, **बलम्**—बल, **सत्यात्**—

गायत्री का ध्यान वास्तव में प्राणो का—इन्द्रियों का—संयमन है। आचार्य उपनयन के समय ब्रह्मचारी को जिस सावित्री का उपदेश देता है वह यही गायत्री है। गायत्री के उपदेश देने का यही अभिप्राय है कि शिष्य प्राणो की रक्षा करना, अपने भीतर नव-जीवन का संचार करना सीखता है ॥४॥

कई लोग कहते हैं कि अनुष्टुप् छन्दवाली सावित्री (तत्सवितुर्वृणीमहे, वयं देवस्य भोजनम्, श्रेष्ठं सर्वधातमम्, तुरं भगस्य धीमहि) का उपदेश करे, क्योंकि यह अनुष्टुप् छन्दवाली सावित्री चार पदों की होने से वाणी-रूपा है, परन्तु नहीं, ऐसा न करे। हम तो यही कहते हैं कि त्रिपदा गायत्री ही सावित्री है, इसी का उपदेश करे। त्रिपदा गायत्री के जिस रहस्य का ऊपर उद्घाटन किया गया है, उसे जानने

मन्य में, ओजीय —अधिक शक्तिशाली है, इति—यह (कहते हैं), एवम् उ—इस ही तरह, एषा—यह, गायत्री—गायत्री, अध्यात्मम्—आत्मा (शरीर) मे, प्रतिष्ठिता—विद्यमान है, सा ह—उस (पिण्ड मे वर्तमान), एषा—इस गायत्री ने, गयान्—प्राणों की (इन्द्रियो की), तत्रे—रक्षा की है, प्राणाः वै—प्राणो (का नाम) ही, गयाः—'गय' है, तत्प्राणान्—उन प्राणों की, तत्रे—रक्षा की, तद् यद्—जो जो, गयान्—प्राणो की, तत्रे—रक्षा की, तस्मात्—इस कारण से, गायत्री नाम—(इसका) नाम गायत्री है, स —वह (आचार्य आदि), याम् एव—जिस ही, अमूम्—इस, सावित्रीम्—'सविता'-देवता वाली (गायत्री) का, अनु+आह—अनुवचन (उपदेश) करता है, एषा एव सा—यह ही वह (त्रिपदा गायत्री है), स—वह, यस्मै—जिसके प्रति, अन्वाह—उपदेश करता है, तस्य—उसके; प्राणान्—प्राणो की, त्रायते—रक्षा करता है ॥४॥

तां हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद्यदिह वा अप्येवं-विद् बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकंचन पद प्रति ॥५॥

ताम् ह एताम्—उस इस (गुरु-मन्त्र) को, एके—कई (आचार्य), सावित्रीम्—'सविता'-देवता वाली, अनुष्टुभम्—अनुष्टुप् छन्द मे ग्रथित (चार पद वाली—'तत्सवितुर्वृणीमहे' इत्यादि) का, अन्वाहु—उपदेश करते हैं, (क्योंकि) वाग् अनुष्टुभ्—वाणी का नाम 'अनुष्टुभ्' है (अत), एतद्-वाचम्—इस (अनुष्टुभ्-रूप) वाणी का ही, अनुब्रूम—हम उपदेश करते हैं,

वाला अगर भारी दक्षिणा भी ले ले, तो वह गायत्री के एक पद के बराबर भी नहीं है ॥५॥

अगर किसी को भरे हुए तीनो लोकों की प्राप्ति हो जाय, तो वह गायत्री के प्रथम-पद पाने के समान है; अगर किसी को त्रयी-विद्या की प्राप्ति हो जाय तो वह गायत्री के द्वितीय-पद पाने के समान है; अगर किसी को सम्पूर्ण प्राणि-जगत् की प्राप्ति हो जाय, तो वह गायत्री के तृतीय-पद पाने के समान है; गायत्री का जो 'दर्शत'-'तुरीय'-'परोरज' पद है, जो पद विश्व में तप रहा मानो दीखता है, इसकी तुलना तो किसी भौतिक-पदार्थ से नही की जा सकती। कहां से इतना लाये जिससे इसकी तुलना की जाय ? ॥६॥

इति—यह (उनका कथन) है, **न तथा**—नही वैसे, **कुर्यात्**—(उपदेश) करे, **गायत्रीम् एव**—गायत्री (छन्द मे ग्रथित त्रिपदा) का ही, **सावित्रीम्**—'सविता' देवता वाली, **अनुब्रूयात्**—उपदेश करे, **यद्**—जो, **इह वै**—यहा (इस विषय मे—इस सवध मे), **अपि**—भी, **एवं विद्**—इस प्रकार (गायत्री को) जाननेवाला, **बहु इव**—वहुत-सा, **प्रतिगृह्णाति**—प्रतिग्रह (दान-दक्षिणा) लेता है, **न ह एव**—नही ही, **तद्**—वह (धन), **गायत्र्या**.—गायत्री के, **एकचन**—एक भी, **पदम्**—पद (चरण) के, **प्रति**—प्रतिरूप (समान) है ॥५॥

स य इमाँ स्त्रींल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिद प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात् ॥६॥

सः यः—वह जो (ज्ञानी), **इमान्**—इन, **त्रीन्**—तीन (भू, भुव स्व—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु), **लोकान्**—लोको को, **पूर्णान्**—(धन-धान्य-ऐश्वर्य से) भरपूर, **प्रतिगृह्णीयात्**—लेवे, प्राप्त करे (तो), **स**—वह (ज्ञानी), **अस्या**.—इस (गायत्री) के, **एतत्**—इस, **प्रथमम् पदम्**—प्रथम चरण ('तत्सवितुर्वरेण्यम्' के फल) को, **आप्नुयात्**—पा सकेगा, **अथ**—और, **यावती**—जितनी, **इयम्**—यह, **त्रयी विद्या**—वैदिक वाङमय है, **यः**—जो, **तावत्**—उतना, **प्रतिगृह्णीयात्**—लेवे, जान जाये, **स**.—वह, **अस्या**·—इस (गायत्री) के, **एतत्-द्वितीयम् पदम्**—इस द्वितीय चरण ('भर्गो देवस्य धीमहि' के फल) को, **आप्नुयात्**—पा सकता है, **अथ**—और, **यावद्**—जितना (विस्तृत), **इदम्**—यह, **प्राणि**—प्राण-धारी (विश्व है, **य**.—जो, **तावत्**—उतना, **प्रतिगृह्णीयात्**—स्वीकार (पालन) करे, **स**·—

अब गायत्री का 'उपस्थान' कहते हैं, मानो गायत्री को मूर्त रूप में देखते हुए उसके समीप खड़े होकर उसे सम्बोधन करते हैं। हे गायत्री ! त्रिलोकी तेरा प्रथम पद है, त्रयी-विद्या तेरा द्वितीय पद है, तीनो प्राण तेरा तृतीय पद है, सबका प्रकाश करनेवाला 'परोरज'-'दर्शत'-रूप तेरा चतुर्थ पद है। यद्यपि तेरे इतने पद हैं तथापि तू पद-रहित है, अपद है, क्योंकि तू जानी नही जा सकती। तेरे 'तुरीय'-'दर्शत'-परोरज' पद को मेरा नमस्कार है। जिसे मैं द्वेष करता हूं वह इस पद को न प्राप्त हो, उसकी कामना समृद्ध न हो। जिसके लिये गायत्रीविद् इस प्रकार गायत्री का उपस्थान करता है और यह प्रार्थना करता है कि उसको अभीष्ट प्राप्त न हो, उसका अभीष्ट भी मैं ही प्राप्त करूं, उस शत्रु की कामना सिद्ध नही होती, और गायत्रीविद् की प्रार्थना सिद्ध हो जाती है ॥७॥

वह, अस्या—इस (गायत्री) के, एतद्—इस, तृतीयम् पदम्—तीसरे चरण ('धियो यो न प्रचोदयात्' के फल) को, आप्नुयात्—पा जायगा, अथ—और, अस्या—इस (गायत्री) का, एतद् एव—यह ही, तुरीयम्—चौथा, दर्शतम् —दर्शनीय (ज्ञेय), पदम्—प्राप्तव्य, वाच्य (ब्रह्म), परोरजा—लोको से परे (उत्कृष्ट), य. एष—जो यह, तपति—तप रहा है, भासमान हो रहा है, न एव—नही ही, केनचन—किसी से, आप्यम्—प्राप्त किया जा सकता है, कुत उ—कहा से, कैसे, एतावत्—इतना, प्रतिगृह्णीयात्—ले सकेगा, ले सकता है ॥६॥

> तस्या उपस्थान गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे। नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति य द्विष्यादसावस्मै कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स काम. समृद्धचते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमद. प्रापमिति वा ॥७॥

तस्या—इस (गायत्री) का, उपस्थानम्—(यह) प्रत्यक्ष दर्शन (पास बैठना, उपासना) है, गायत्रि—हे गायत्री, असि—तू है, एकपदी—एक पाद (चरण) वाली, द्विपदी—दो चरणवाली, त्रिपदी—तीन चरण वाली, चतुष्पदी —चार चरणवाली है, अपद्—बिना पाद (चरण) वाली—अज्ञेय, अप्राप्य है, न हि—नही, पद्यसे—जानी जा सकती, नम—नमस्कार (प्रणाम) है, ते—तेरे, तुरीयाय—चौथे, दर्शताय—दर्शनीय, ज्ञेय, पदाय—प्राप्तव्य को, परोरजसे—लोको से परे, निर्मल, असौ—यह (द्वेष्टा), अद.—इस (पद)

एक वार की बात है कि विदेह-राज जनक ने अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल से कहा, आप तो अपने को गायत्री के जाननेवाले कहते थे, फिर क्यों दुनिया के माल ऐसे ढोते फिरते हो जैसे कोई हाथी ढो रहा हो ? बुडिल ने कहा, सम्राट् ! मै गायत्री के 'शरीर' को तो जानता हूं, उसके 'मुख' को नही जानता, अर्थात् पढा ही हूं, गुढ़ा नहीं हूं। जनक ने कहा, गायत्री का 'अग्नि' मुख है, गायत्री को गुढ़ोगे, तो अग्नि-मुख हो जाओगे। अग्नि के मुख में जितना भी डाल देते है सबको भस्म कर देती है, इसी प्रकार गायत्री के अग्नि-रूप को जो सिद्ध कर लेता है वह अगर ऐसा भी दीखता है कि भारी पाप

को, न—नही, प्रापत्—प्राप्त हो, इति—ऐसे, यम्—जिसको, द्विष्यात्—द्वेप करे, असौ—यह, अस्मै—इसके लिए (इसका), काम—कामना, अभीष्ट, मा—मत, नही, समृद्धि—समृद्ध हो, पूर्ण हो, इति वै—ऐसे, न ह एव—नहीं ही, अस्मै—इसका, सः काम—वह मनोरथ, समृद्धचते—पूर्ण होता है, यस्मै—जिसके लिए, एवम्—इस प्रकार, उपतिष्ठते—उपासना (प्रार्थना) करता है, अहम्—मै, अद—इसको, प्रापम्—प्राप्त करू, इति वा—या यह (प्रार्थना करता है) ॥७॥

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्नु हो तद्-गायत्रीविदब्रूथा अथ कथꣳ हस्तीभूतो वहसीति मुखꣳ ह्यस्या सम्राण्न विदाचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुख यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत्सदहत्येवꣳ हैवैवविद्यद्यपि बह्विव पाप कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्ध· पूतोऽजरोऽमृत संभवति ॥८॥

एतद् ह वै तद्—इस उस (वचन) को, जनक वैदेह—विदेहराज जनक ने, बुडिलम्—बुडिल (नामी) को, आश्वतराश्विम्—अश्वतराश्व के पुत्र, उवाच—कहा था (कि), यत् नु हो—अरे जो तू, तद्—तो, गायत्रीविद्—(अपने को) गायत्री का जाननेवाला, अब्रूथा—कहता था, अथ—तो, कथम् क्यो, हस्तीभूतः—भारवाही हाथी (के समान) हुआ-हुआ, वहसि—ढो रहे हो (दुनिया के चक्कर मे पडे हो), इति—यह (कहा), मुखम्—मुख (मुख्य ध्येय-लक्ष्य ब्रह्म को), हि—क्योकि, अस्याः—इस (गायत्री) के, सम्राड्—हे महाराज, न—नही, विदाचकार—जाना है, इति ह उवाच—यह (जनक ने) कहा, तस्या—उस (गायत्री) का, अग्नि—अग्नि (तेज स्वरूप ब्रह्म), एव—ही, मुखम्—मुख (प्रमुख लक्ष्य) है, यदि ह वै—अगर चाहे, अपि—भी, बहु इव—जैसे वहुत-सा, अग्नौ—अग्नि मे, अभ्यादधति—रखते (डालते) है, सर्वम्,

कर रहा है, तो उसे भी वह अग्नि की तरह खा डालता है, उसे भस्म कर देता है, और शुद्ध, पूत, अजर, अमर हो जाता है ॥८॥

(गायत्री मे पहले तीन व्याहृतियां है —भू:, भुव:, स्व: । इन तीन की व्याख्या हम छान्दोग्य० २य प्रपाठक, २३ खंड मे कर आये है । भू:-भुव -स्व.—इन तीन का अर्थ अस्ति, भाति, प्रीति—Being, Becoming, Bliss—है । ससार की गति, इसका प्रवाह, इसके विकास की दिशा भू. से भुव. की तरफ, भुव से स्व: की तरफ जा रही है । जो वस्तु 'है', जो 'भू' है, जिसकी सत्ता है, वह तभी तक है, या तभी तक वह अस्ति की कोटि मे है, जब तक वह 'हो रही' है, जहा उसमे से 'होनापन', या 'भुव' की प्रक्रिया समाप्त हुई, वही वह स्वयं समाप्त हो जाती है । 'भू.' तव तक 'भू' है, अर्थात् अस्ति (Being) तव तक अस्ति है, 'है' तव तक 'है' है, जव तक 'भू.' का विकास 'भुव' की तरफ, 'है' का 'होने' (Becoming) की तरफ हो रहा है । जहां 'है' (Being) ने 'होना' (Becoming) छोड दिया, वहां 'है' ही समाप्त हो जाता है । इसी तरह यह 'होना'—Becoming—भी एक खास दिशा की तरफ जा रहा है, वह दिशा 'स्व:' है, उसी को सुख कहते है, अंग्रेजी मे Bliss कहते है । परन्तु इस अस्ति-भाति-प्रीति की प्रक्रिया को—Being, Becoming, Bliss—के एक निश्चित दिशा के प्रवाह को चला कौन रहा है ? यह स्वय तो नही चल रहा । इस प्रवाह को जो वहा रहा है, जिसने ऐसा विधान रचा है जिसके कारण प्रत्येक सद्वस्तु तभी तक टिकी हुई है जब तक वह अपने-आपको होने की प्रक्रिया मे—Becoming—मे वनाये रखती है, और होने की प्रक्रिया भी एक निश्चित दिशा

एव तत्—उस मारे को ही, **संदहति**—जला देती है, **एवम् ह एव**—इस प्रकार ही, **एवम् विद्**—इस प्रकार (गायत्री के मुख को) जाननेवाला, **यद्यपि**—यद्यपि, **बहु+इव**—बहुत-सा, **पापम्**—पाप, **कुरुते**—करता है, **सर्वम् एव तत्**—वह सव का सव, **संप्साय**—भस्म कर, खा कर, **शुद्ध**—शुद्ध, दोषरहित, **पूत.**—पवित्र, निर्मल, **अजर:**—जरा से मुक्त, **अमृत.**—अमर, **संभवति**—हो जाता है (गायत्री-ध्यान से पाप-शुद्धि हो जाती है) ॥८॥

की तरफ ही मुह उठाये चली जा रही है, सुख की, आनन्द की तलाश मे यह सारा प्रवाह बह रहा है—इस सारे प्रवाह का बहाने वाला कौन है ? गायत्री मन्त्र मे प्रवाह के उस बहाने वाले को 'सविता' कहा गया है। 'सविता' शब्द 'पूञ् प्रसवे' धातु से बना है। 'सविता', अर्थात् प्रसव करने वाला—पैदा करने वाला। उस पैदा करने वाले ने, सविता ने, हर-एक वस्तु की रचना करते हुए हर वस्तु मे भू -भुव -स्व का पुट दे दिया है, हर वस्तु में अस्ति, भाति, प्रीति—'है', 'होना', 'सुख के लिये होना'—Being, Becoming, Bliss—का बीज डाल दिया है। सविता की उस शक्ति का क्या नाम है जिससे हर वस्तु उस निश्चित प्रक्रिया मे से गुजर रही है जिसका अभी वर्णन किया गया ? गायत्री मन्त्र मे सविता की उस शक्ति का नाम 'भर्ग' कहा गया है। 'भर्ग' क्यो कहा गया है ? 'भर्ग' शब्द 'भ्रस्ज पाके' धातु से बना है। 'भर्ग' का अर्थ है—पकाने की शक्ति। जैसे कुम्हार घडे को पकाता है, घडा ज्यो-ज्यों पकता जाता है, त्यो-त्यो अपने निर्दिष्ट कार्य के लिये तय्यार होता जाता है, इसी प्रकार सविता संसार की हर वस्तु को पका रहा है, और पकते-पकते हर वस्तु अपने लक्ष्य की तरफ बढती चली जा रही है। 'सविता' का 'भर्ग' ही है जिससे हर वस्तु धीरे-धीरे पकती हुई भू -भुव -स्व.—Being, Becoming, Bliss—की प्रक्रियाओ मे से गुजर रही है। इसलिये गायत्री मन्त्र का अर्थ हुआ—हम सविता देव के उस भर्ग का ध्यान करते है, जो ससार की हर वस्तु को एक खास दिशा मे धीरे-धीरे पकाता हुआ ले जा रहा है। किस दिशा मे ? भू -भुव -स्व की दिशा मे, अस्ति-भाति-प्रीति की दिशा मे—Being, Becoming, Bliss—की दिशा मे ! सवितु. देवस्य भर्गो धीमहि—इसका यही अर्थ हुआ। बाकी रहा 'धियो यो न. प्रचोदयात्'—इसका अर्थ तो स्पष्ट ही है। सविता का जो 'भर्ग' संसार की हर वस्तु को एक निश्चित 'स्व.' की दिशा मे प्रवाहित कर रहा है, वही 'भर्ग' हमारी बुद्धि को भी ऐसी

प्रेरणा दे कि हम भी अपने को विकास की इसी प्रक्रिया मे से ले चले, हम अपने को ससार का प्रसव करने वाली सविता-शक्ति के साथ, उस प्रक्रिया के साथ जो हर वस्तु को धीरे-धीरे पकाती हुई निश्चित उद्देश्य तक पहुंचा रही है, ऐसे समन्वय मे ले आयें, ताकि हमारे जीवन के विकास की दिशा भी वही वन जाय, हम भी विश्व के एक अंग वन जांय, हम भी अपने-आपको धीरे-धीरे वैसे ही पकाने लगे जैसे हर वस्तु का सहज-पाक हो रहा है, जैसे वह गायत्री की व्याहृतियो मे प्रतिपादित एक खास प्रक्रिया में से गुज़र रही है। गायत्री मन्त्र मे 'सविता' और 'भर्ग' शब्द एक खास महत्त्व रखते है। 'सविता' का अर्थ जहां 'षूञ् प्रसवे' धातु से 'उत्पन्न करने वाला' यह होता है, वहां इसका अर्थ 'सूर्य' भी है---वह सूर्य जो हर वस्तु को पकाता है। 'सविता' के सूर्य अर्थ को सामने रखकर ही 'भर्ग' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ 'भ्रस्ज पाके' धातु से पकाना है। सूर्य हर वस्तु को पका रहा है, सविता भी---वह शक्ति जिसने ससार को पैदा किया---हर वस्तु को पका रहा है, यह पकना, यह क्रमिक-विकास ही 'भू -भुव.-स्वः' है। 'भू -भुव -स्व '---ये तीन अक्षर विश्व-नियन्ता प्रभु द्वारा निर्धारित विकास की एक निश्चित प्रक्रिया का वर्णन करते है। ब्रह्माड की, अर्थात् भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौः की यही प्रक्रिया हमारे पिड में भी चले---ब्रह्माड मे सूर्य (सविता) इस प्रक्रिया का प्रतिनिधि है, पिड मे बुद्धि (धी) इस प्रक्रिया की प्रतिनिधि है---यही गायत्री-मन्त्र का अर्थ है। तभी कहा कि ब्रह्माड का 'सविता' जो विश्व को भू -भुव -स्व मे से धीरे-धीरे गुज़ार रहा है, अस्ति-भाति-प्रीति मे से ले जा रहा है---Being, Becoming, Bliss की प्रक्रिया मे डालकर अपने 'भर्ग', अर्थात् पकाने की शक्ति से पका रहा है, वही हमारे पिड मे हमारी 'धी.', अर्थात् बुद्धि को ऐसी प्रेरणा दे, जिससे हमारे पिड में हमारी 'धी' वही काम करे, जो ब्रह्मांड मे 'सविता' करता है। 'सविता' जैसे विश्व को, बुद्धि वैसे मनुष्य को अस्ति, भाति, प्रीति की, भू -भुव.-स्व की, Being, Becoming, Bliss की प्रक्रिया मे से गुज़ार दे---यह गायत्री मन्त्र का अर्थ है।)

पंचम अध्याय—(पन्द्रहवां ब्राह्मण)
(ईशोपनिषद् के मन्त्रों का उद्धरण)

हिरण्मय चमक-दमक वाले ढकने से सत्य का मुख ढका हुआ है। हे पूषन्!—अपनी पुष्टि अर्थात् पोषण चाहने वाले उपासक! —अगर तू सत्य-धर्म को देखना चाहता है तो उस ढक्कन का, आवरण का अपवरण कर दे, उस ढक्कन को हटा दे, पर्दे को उठा दे।

हे पूषन्—पुष्टि देने वाले! एकर्षे—ऋषियों में एक—अनोखे! यम—नियमन करने वाले! सूर्य—प्रचण्ड प्रकाशमान! प्राजापत्य—प्रजाओं के पति! आप की रश्मियों का जो व्यूह चारों तरफ फैल रहा है उसे समेटिये। मैं आप की रश्मियों को नहीं, आपके निजी कल्याणतम तेजस्वी रूप को देखना चाहता हूं। अ-हा! वह जो कल्याणतम तेजस्वी पुरुष-रूप प्रकट हुआ वह कितना ज्योतिर्मय है। मैं भी वही हूं—मैं भी ज्योतिर्मय पुरुष हूं।

प्राण-वायु शरीर में रहता है, वह विश्व के अनिल अर्थात् विश्व के प्राण में लीन हो जाता है। वही अमर है। शरीर तो जब तक भस्म नहीं हो जाता तभी तक है। हे कर्म करने वाले जीव! 'क्रतु' (Future action) को— 'प्रयत्न' को, जो तूने आगे कर्म करना है उसे स्मरण कर, और 'कृत' (Past action)—जो तू अब तक कर्म कर चुका है, उसे स्मरण कर।

हे अग्ने! हे देव! तुम सब प्रकार के कर्मों को जानते हो। आप हमें उन्नति के लिये ऐसे मार्ग से ले चलो जो सुपथ हो। जो कुटिल पाप-मार्ग है, उसे हम से अन्तरात्मा का युद्ध कराकर पृथक् करो।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥ वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्। ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥१॥

हिरण्मयेन विधेम—इन चारों मन्त्रों का अर्थ (पृष्ठ २५–२८ पर) पूर्ववत्॥१॥

हम बार-बार तुझे नमस्कार करते है ॥१॥ (ईश-उपनिषद् मे १५, १६, १७, १८ मन्त्र यही है ।)

षष्ठ अध्याय––(पहला ब्राह्मण)

(प्राण तथा इन्द्रियो का विवाद)

यह कथा छान्दोग्य ५म प्रपाठक १म तथा २य खंड मे लगभग इन्ही शब्दो मे आ चुकी है, अतः यहा नही दी जा रही । जो शब्दो के हेर-फेर का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहे वे सस्कृत के दोनो स्थलो की तुलना करके पढे । हम तुलना के लिये नीचे मूल-पाठ दे रहे है, अर्थ नही ।

ॐ ॥ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां वुभूषति य एवं वेद ॥१॥

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानाम् भवति वाग्वै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां वुभूषति य एवं वेद ॥२॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥३॥

यो ह वै संपदं वेद सँ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै संपच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्ना. सँ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥४॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनं स्वाना भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥५॥

यो ह वै प्रजाति वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो प्रजातिः रेतो (वीर्य) वै प्रजाति. (प्रजनन–वश-वृद्धि) प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥६॥

ते हेमे प्राणा अहँ श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदँ शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ॥७॥

वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाऽकला अवदन्तो वाचा प्राणन्त. प्राणेन

पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाँसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥८॥

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा अन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाँसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह चक्षुः ॥९॥

श्रोत्रं होच्चक्राम तत्सवत्सर प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाँसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥१०॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वाँसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥११॥

रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्त· श्रोत्रेण विद्वाँसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेत· ॥१२॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीश-शंकून्संवृहेदेवँ हैवेमान्प्राणान्त्संववर्ह ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति ॥१३॥

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुर्यद्वा अहँ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किंचाश्वभ्य आकृमिभ्य आकीट-पतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नान्नं परिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं वेद तद्विद्वाँस श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्न कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥१४॥

ओम्—सर्वरक्षक, आदिगुरु भगवान् का स्मरण कर, यः ह वै कुर्वन्तो मन्यन्ते—इनका अर्थ पृ० ४८० से ४९१ तक पर देखें ॥१-१४ ॥

षष्ठ अध्याय—(दूसरा ब्राह्मण)

(श्वेतकेतु तथा राजा जैवलि प्रवाहण के ५ प्रश्न)

यह कथा छान्दोग्य ५म प्रपाठक ३य से १०म खड मे लगभग इन्ही शब्दों में कुछ हेर-फेर के साथ आ चुकी है, अत यहा नही दी जा रही। जो शब्दो के हेर-फेर का तुलनात्मक-अध्ययन करना चाहे वे सस्कृत के दोनो स्थलो की तुलना करके पढे। हम नीचे तुलना के लिये मूल-पाठ दे रहे है।

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेय. पञ्चालानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं तमुदीक्ष्याभ्युवाद कुमार ३ इति स भो इति प्रतिशुश्रावानुशिष्टो न्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥१॥

वेत्थ यथेमाः प्रजा. प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति नेति होवाच, वेत्थो यथेम लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति नेति हैवोवाच, वेत्थो यथासौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न संपूर्यता ३ इति नेति हैवोवाच, वेत्थो यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती ३ इति नेति हैवोवाच, वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वापि हि न ऋषेर्वचः श्रुतम्। द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति। नाहमत एकंचन वेदेति होवाच ॥२॥

अथैनं वसत्योपमन्त्रयांचक्रेऽनादृत्य वसतिं कुमार. प्रदुद्राव स आजगाम पितरं तं होवाचेति वाव किल नो भवान्पुरानुशिष्टानवोचदिति कथं सुमेध (बुद्धिमन्!) इति पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकंचन वेदेति कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार ॥३॥

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंच वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयांचकाराथ हास्मा अर्घ्यं चकार तं होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म इति ॥४॥

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यान्तु कुमारस्यान्ते वाच-मभाषथास्तां मे ब्रूहीति ॥५॥

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥६॥

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्योपात्तं गोअश्वानां दासीनां

प्रवाराणां परिधानस्य मा नो भवान् वहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्योऽभूदिति स वै गौतम तीर्थेन (तीर्थ=गुरु) इच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचाह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास ॥७॥

स होवाच यथा नस्त्वं गौतम मापराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिँश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्य वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥८॥

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धा जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा सभवति ॥९॥

पर्जन्यो वाऽग्निर्गौतम तस्य सवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमँराजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति ॥१०॥

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नँसंभवति ॥११॥

पुरुषो वा अग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः संभवति ॥१२॥

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्त. करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते ॥१३॥

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा. पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति ॥१४॥

ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाँसत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङडादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान् वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु परा परावतो वसन्ति तेषा न पुनरावृत्ति. ॥१५॥

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसभवन्ति धूमाद्रात्रिँरात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणादित्य एति मासेभ्य. पितृलोक पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं

षष्ठ अध्याय---(तीसरा ब्राह्मण)
(मन्थ-रहस्य)

यह वर्णन छान्दोग्य ५ प्रपाठक, २ खड, ४ मे भी पाया जाता है। वहा संक्षेप मे है, यहां विस्तार से है। इसमे कर्म-काड का वर्णन है।

जो यह कामना करे कि मुझे 'महत्त्व' प्राप्त हो, वह सूर्य के उत्तरायण-काल में शुक्ल-पक्ष के १२ दिन 'उपसद्-व्रत' करे---अर्थात् दुग्धाहार करे। फिर गूलर या कांसे के चमस अर्थात् पात्र में सब औषधियो और फलो को मिलाकर रख दे। फिर भूमि का परिसमूहन करे, उसे झाड़े-पोंछे, परिलेपन करे, वहां अग्नि का आधान करे, बैठने के लिये चारों ओर कुशा विछा दे। फिर ढके हुए घी का संस्कार करे, और किसी पुंल्लिगी नक्षत्र में 'मन्थ' को---अर्थात् ओषधियों,

---

भवन्ति ताँ्स्तत्र देवा यथा सोमँ्राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाँ्स्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् (डसने वाला साप, दुःखदायी) ॥१६॥

श्वेतकेतुः ह वै दन्दशूकम्---इनका अर्थ पृ० ४९१ से ५०८ तक पर देखें ॥१--१६॥

स यः कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कँ्से चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्यावृताज्यँ् सँ्स्कृत्य पुँ्सा नक्षत्रेण मन्थँ्संनीय जुहोति। यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सँ्राधनीमहँ् स्वाहा ॥१॥

सः य.---वह जो, कामयेत---कामना करे, चाहे, महत्---बडप्पन, महत्त्व को, प्राप्नुयाम् इति---प्राप्त करू (तो), उदग्+अयने---(सूर्य के) उत्तरायण होने पर, आपूर्यमाण-पक्षस्य---शुक्ल-पक्ष के, पुण्याहे---पुण्य (अनुकूल) दिन

फलों आदि को मिला कर जो-कुछ तय्यार किया गया था उसे--लेकर इन प्रार्थनाओं से आहुति दे--हे जातवेदस् ! जो देव, अर्थात् प्राकृतिक-शक्तियां तिरछा मार्ग ग्रहण करके मनुष्य की कामना का हनन करती है उन सबके लिये मैं अग्नि द्वारा उनका भाग देता हूं, वे तृप्त हो जांय, और तृप्त होकर मुझे सब कामनाओ से तृप्त करें। जो शक्ति मुझ से तिरछी हो गई है, जो 'अहं-विधरणी'--मैं ही सब कुछ कर सकती हूं--यह समझने लगी है, 'तां त्वा घृतस्य धारया यजे'--उसकी मैं घृत की धारा से पूजा करता हूं, वह मेरे प्रतिकूल होने के स्थान पर मेरे मनोरथो की सिद्धि करे ॥१॥ (प्रतिकूल शक्ति का विरोध करने से उसकी प्रतिकूलता और बढती है । महत्त्व प्राप्त करने के लिये प्रतिकूल शक्तियो का भी तर्पण करना होता है, यही इसका अभिप्राय है ।)

मे, **द्वादशाहम्**--(इससे पहिले) बारह दिन तक, **उपसद्-व्रती**--उपसद् (दुग्ध-भोजन) का व्रत करनेवाला, **भूत्वा**--होकर, **औदुम्बरे**--गूलर के, **कंसे**--कासी के, **चमसे वा**--या पात्र मे, **सर्व+औषधम्**--सारी (प्राप्य) ओषधिया, **फलानि**--फलो को, **इति**--इत्यादि को, **संभृत्य**--एकत्र कर, **परिसमुह्य**--(यज्ञवेदी की भूमि को) झाड-पोछ कर, **परिलिप्य**--लीपकर, **अग्निम्**--अग्नि को, **उप+सम्+आधाय**--स्थापित एव प्रदीप्त कर, **परिस्तीर्य**--कुश-आसन आदि बिछा कर, **आवृता+आज्यम्**--कटोरी (स्थाली) के या ढके घी को, **संस्कृत्य**--शुद्ध कर, **पुंसा**--पुलिङ्गी, **नक्षत्रेण**--नक्षत्र से (मे), **मन्थम्**--मन्थ (औषध-फल आदि के मिश्रण) को, **संनीय**--लाकर, पास रखकर, **जुहोति**--(घृत की) आहुति देवे। **यावन्त**--जितने, **देवाः**--देव (प्राकृतिक दिव्य शक्तिया), **त्वयि**--तुझ मे हैं, **जातवेद**--हे अग्नि ! **तिर्यञ्च**--तिरछे (प्रतिकूल) चलनेवाले, **घ्नन्ति**--नष्ट करते हैं, **पुरुषस्य**--मनुष्य के, **कामान्**--मनोरथो को, **तेभ्यः**--उनके लिए, **अहम्**--मैं, **भागधेयम्**--अश, भाग, **जुहोमि**--होमता हू, प्रदान करता हू, **ते**--वे, **मा**--मुझको, **तृप्ता**--तृप्त (प्रसन्न) हुए, **सर्वैः**--सब, **कामै**--मनोरथो से, **तर्पयन्तु**--तृप्त करे, पूर्ण करे, **स्वाहा**--यह सुन्दर त्याग व कथन है, **या**--जो, **तिरश्ची**--प्रतिकूल चलनेवाली, **निपद्यते**--हो जाती है, हो रही है, **अहम्**--मैं, **विधरणी**--विरुद्ध धारणा (विचार) वाली या धारण करनेवाली, (**अहम् विधरणी इति**--अहम्भाव को धारण करनेवाली, अपने को सब कुछ समझनेवाली), **ताम्**--उस, **त्वा**--तुझको, **घृतस्य**--घृत की, **धारया**--धारा से, **यजे**--यजन

अब 'मन्थ' मे प्राण की भावना करे। प्राण ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, इसलिये 'ज्येष्ठाय स्वाहा' - 'श्रेष्ठाय स्वाहा' कहकर, अग्नि में घी की आहुति देकर 'मन्थ' में घी की बूंदें चुआ दे। फिर 'प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहा' - 'वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा' - 'चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहा' - 'श्रोत्राय स्वाहा आयतनाय स्वाहा' - 'मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहा' - 'रेतसे स्वाहा'—इनका उच्चारण कर अग्नि मे घी की आहुति देकर 'मन्थ' में घी की बूंदें चुआ दे ॥२॥

फिर 'अग्नये स्वाहा - सोमाय स्वाहा'; 'भूः स्वाहा' - 'भुवः स्वाहा' - 'स्वः स्वाहा'; 'ब्रह्मणे स्वाहा' - 'क्षत्राय स्वाहा'; 'भूताय

(पूजन) करता हू, संराधनीम्—सम्यक् कार्य सिद्ध करनेवाली, अहम्—मैं (उसको करता हू), स्वाहा—यह मेरा त्याग व शुभ कथन एव निश्चय है ॥१॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रव-मवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा सपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति ॥२॥

'ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा' इति—इन मत्रो से, अग्नौ—अग्नि मे, हुत्वा—घृताहुति देकर, मन्थे—(समीप रखे) मन्थ (सर्वौषध-मिश्रण) मे, संस्रवम्—(चमस के) चूते घी को, अवनयति—गिरा देता (टपका देता) है, (ऐसे ही अगले छै (६) मन्त्रो मे उक्त विधि करे) ॥२॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रव-मवनयति भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति विश्वाय स्वाहे-त्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सँस्रवमवनयति ॥३॥

स्वाहा' - 'भविष्यते स्वाहा'; 'विश्वाय स्वाहा' - 'सर्वाय स्वाहा' - 'प्रजापतये स्वाहा' कहकर अग्नि में घी की आहुति देकर 'मन्थ' में घी की बूंदें चुआ दे ।।३।।

'मन्थ' में इस प्रकार 'प्राण' तथा 'विश्व-कल्याण' की भावना मानो भर कर उसे स्पर्श करे और कहे, हे 'मन्थ' ! तू वायु के समान भ्रमणशील है, अग्नि के समान जाज्वल्यमान है, ब्रह्म के समान पूर्ण है, आकाश के समान निष्कम्प है, जगत् की सभा का मानो सभापति है। हे मन्थ ! तू ही हिंकार करने वाला है, तू ही स्वय हिंकार है; तू ही गाने वाला है, तू ही गाया जाता है; तू ही ध्वनि है, तू ही प्रतिध्वनि है; तू ही जल में आग है—अर्थात् बादल में बिजली है; तू विभु है, प्रभु है; अन्न है, ज्योति है; निधन है, संवर्ग है—विनाश है, उत्पत्ति है ।।४।।

इस ही प्रकार 'अग्नये स्वाहा' से लेकर 'प्रजापतये स्वाहा' तक १३ मन्त्रो से, **अग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवम् अवनयति**—अग्नि मे हवन कर, मन्थ मे घी की बूंद टपका दे ।।३।।

नोट—'ज्येष्ठ' आदि शब्दो के अर्थ पहले लिखे व स्पष्ट किये जा चुके है।

अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येक-
सभमसि हिङ्कृतमसि हिङ्क्रियमाणमस्युद्गीथमस्युद्गीयमान-
मसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे संदीप्तमसि विभू-
रसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ।।४।।

अथ—इसके बाद, **एनम्**—इस (घृत-मिश्रित मन्थ) को, **अभिमृशति**—स्पर्श करता है, **भ्रमद्**—भ्रमणशील (वायु), **असि**—तू है, **ज्वलद् असि**—जलता हुआ (अग्नि) है, **पूर्णम् असि**—पूर्ण है, **प्रस्तब्धम् असि**—शान्त (निष्कम्प) है, **एकसभम् असि**—एक सभावाला (सभापति-मूर्धन्य) है, **हिंकृतम् असि**—हिंकृत (साम-गान) है, **हिंक्रियमाणम् असि**—हिंक्रियमाण (साम-गेय) है, **उद्गीथम् असि**—उद्गीथ है, **उद्गीयमानम् असि**—तू ही उद्गीयमान है, **श्रावितम् असि**—सुनाया हुआ (ध्वनि) भी तू है, **प्रत्याश्रावितम् असि**—प्रतिध्वनि (उत्तर) भी तू है, **आर्द्रे**—गीले (बादल) मे, **संदीप्तम् असि**—प्रदीप्त (विद्युत्) है, **विभूः असि**—विभु है, **प्रभूः असि**—प्रभु है, **अन्नम् असि**—तू अन्न है, **ज्योतिः असि**—प्रकाश है, **निधनम् असि**—समाप्ति तू है, **संवर्ग**—उत्पत्ति तू है, **इति**—इन मन्त्रो को स्पर्श करते हुए बोले या ध्यान करे ।।४।।

इस प्रकार 'मन्थ' में 'प्राण' की, 'विश्व-कल्याण' की तथा 'उच्च-से उच्च भावना' भर कर उसे हाथ में लेकर खड़ा हो जाये, और प्रार्थना करे---हे मन्थ! हम तेरे महान् 'आम' अर्थात् 'अम' को मानते हैं। तू 'अ म' है, मापा नहीं जा सकता। तू राजा है, ईशान है, अधिपति है---मुझे भी राजा, ईशान और अधिपति बना ॥५॥

यह कह कर 'मन्थ' का चार ग्रासों में सेवन करे। पहला ग्रास इस मधुमान् मन्त्र से भक्षण करे---'तत्सवितुर्वरेण्यम्। मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। भूः स्वाहा।' दूसरा ग्रास इस मधुमान् मन्त्र से भक्षण करे---'भर्गो देवस्य धीमहि। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता। भुवः स्वाहा।' तीसरा ग्रास इस मधुमान् मन्त्र से भक्षण करे---'धियो यो नः प्रचोदयात्। मधुमान्नो वनस्पतिः मधुमाँ अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो

अथैनमुद्यच्छत्यामंस्यामंहि ते महि स हि राजे-
शानोऽधिपतिः स मां राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥५॥

अथ---इसके बाद, एनम्---इस (मन्थ) को, उद्यच्छति---ऊपर उठाता है, आमंसि---हम पूर्णतया मानते (जानते) हैं कि, आमम्---अपरिमेयता, विशालता, विराट् रूप, हि---निश्चय से, ते---तेरी, महि---महान् है, सः हि---वह ही, राजा---राजा; ईशानः---प्रभु (समर्थ), ऐश्वर्य का स्वामी; अधिपतिः---रक्षक (पालक), सः---वह (तू), मा---मुझको, राजा---राजा, ईशानः---ऐश्वर्यशाली, अधिपतिम्---रक्षक स्वामी, करोतु---कर, बना, इति---इस मंत्र का जप करे ॥५॥

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यम्। मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। भूः स्वाहा। भर्गो देवस्य धीमहि। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। भुवः स्वाहा। धियो यो नः प्रचोदयात्। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ ३ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः। स्वः स्वाहेति। सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीरहमेवेदं सर्वं भूयासं भूर्भुवःस्वः स्वाहेत्यन्ततः आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणा-मेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वंशं जपति ॥६॥

अथ---इस के बाद, एनम्---इस (मन्थ) को, आचामति---(चार भाग कर) भक्षण करता है, 'तत् सवितुः वरेण्यम्---उस जगद् उत्पादक, सर्वप्रेरक 'ओम्'

भवन्तु नः । स्व: स्वाहा ।' चौथा ग्रास संपूर्ण सावित्री, संपूर्ण मधुमान् मन्त्रो और तीनो व्याहृतियो को इकट्ठा पढ़ कर भक्षण कर जाय । यह संकल्प करे कि जो-जो भावनाएं इस 'मन्थ' में डाली गई है, वे मानो मूर्त-रूप में इसमें मौजूद है, मै यह सब-कुछ हो जाऊं ! अन्त में 'भूर्भुवः स्वः स्वाहा' कहकर, आचमन करके, हाथ धोकर, अग्नि के पीछे, पूर्व की तरफ सिर करके सो जाय, प्रातःकाल उठकर आदित्य को सम्बोधन कर प्रार्थना करे--हे सूर्य ! तू दिशाओ में इकला कमल की न्याई खिल रहा है, मैं भी मनुष्यो मे इकला कमल की न्याई

के वरण करने योग्य, **मधु**—मधुर (सुखदायी), **वाता**—वायु, **ऋतायते**—ऋत (सत्य–वेदप्रतिपादित नियम) का पालन करनेवाले के लिए, **मधु**—सुख, **क्षरन्ति**—बरसाते हैं, देते है, **सिन्धवः**—समुद्र या नदिया, **माध्वी**—सुखदायी, मधुर, **न**—हमे, **सन्तु**—हो, **ओषधीः**—ओषधिया, **भू**—सत्-स्वरूप प्रभु, **स्वाहा**—शुभ कथन, दान (पूर्ण त्याग), **भर्गः**—तेज को, **देवस्य**—भगवान् के, **धीमहि**—ध्यान करें, धारण करें, **मधु**—मधुर (सुखमय), **नक्तम्**—रात, **उत**—और, तथा, **उषस**—उष काल (दिन), **मधुमत्**—सुखमय, **पार्थिवम्**—पृथिवी की, **रजः**—धूल, लोक, **मधु**—सुखदायी, **द्यौ**—द्यु-लोक, **अस्तु**—हो, **न**—हमारा, **पिता**—पालन-कर्ता, रक्षक, **भुवः**—चित्-स्वरूप प्रभु, **स्वाहा**—स्वाहा, **धियः**—बुद्धियो को, कर्मो को और वाणी को, **यः**—जो (सविता देव), **न**—हमारी, **प्रचोदयात्**—(कल्याण के लिए) प्रेरित करे, **मधुमान्**—मधु (सुख से) युक्त, **न**—हमे, **वनस्पति**—वन के वृक्ष, **मधुमान्**—सुख से युक्त, **अस्तु**—हो, **सूर्यः**—सूर्य, **माध्वी**—सुखदायी, मधु (मधुर दुग्ध) वाली, **गाव**—गौएँ, **भवन्तु**—हो, **न**—हमारे लिए, **स्व**—आनन्द-स्वरूप प्रभु, **स्वाहा**—स्वाहा, **इति**—ऐसे (इन तीन मत्रो को बोल कर तीन बार भक्षण करे), **सर्वाम् च**—(चौथी बार) पहले सारी, **सावित्रीम्**—सविता देवतावाली गायत्री का, **अनु+आह**—पाठ करे, बोले, **सर्वा. च**—और सारे, **मधुमती**—मधुमती ('मधु वाता ' आदि तीनो) मन्त्रो को, **अहम् एव**—मैं ही, **इदम् सर्वम्**—यह सब कुछ (मधुमय), **भूयासम्**—हो जाऊ, **भू: भुवः स्व स्वाहा**—भू भुव स्व स्वाहा, **इति**—स्वाहा-युक्त इन तीन व्याहृतियो को, **अन्तत**—अन्त मे (बोल कर), **आचम्य**—(मन्थ का) भक्षण कर, **पाणी**—हाथो को, **प्रक्षाल्य**—धोकर, **जघनेन**—पीछे (पश्चिम) की ओर, **अग्निम्**—अग्नि के, **प्राक्-शिरा**—पूर्व की ओर सिर वाला (सिर कर), **संविशति**—सो जाय, **प्रात.**—प्रात काल मे, **आदित्यम्**—सूर्य का, **उपतिष्ठते**—उपस्थान (उपासना–

खिल जाऊं ! फिर लौट कर, अग्नि के पीछे बैठ कर, जिस प्रकार गुरु-शिष्य परंपरा से यह विद्या आई है उस वंश का ध्यान करे, सोचे कि उनके प्रताप से यह विद्या मुझ तक पहुंची है ॥६॥

'मन्थ' के इस रहस्य को उद्दालक आरुणि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य को बतलाया, उसने मधुक पैङ्ग्य को, उसने चूल भागवित्ति को, उसने जानकि आयस्थूण को और उसने जाबाल सत्य-

---

ध्यान) करे (कि हे सूर्य), **दिशाम्**—दसों दिशाओं का, **एक-पुण्डरीकम्**—अद्वितीय शुभ्र कमल, **असि**—तू है, **अहम्**—मैं (भी), **मनुष्याणाम्**—मनुष्यों का (में), **एक-पुण्डरीकम्**—अद्वितीय शुभ्र कमल, **भूयासम्**—हो जाऊं, **इति**—ऐसे (उपस्थान कर), **यथा-इतम्**—जैसे आया था वैसे, **एत्य**—लौटकर जाकर, **जघनेन अग्निम्**—अग्नि के पीछे (पश्चिम) की ओर, **आसीनः**—बैठा हुआ, **वंशम्**—गुरु-शिष्य परम्परा का, **जपति**—जप करता है ॥६॥

तँ हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥७॥

तम् ह एतम्—उस इस 'मन्थ' (के रहस्य) को, **उद्दालकः**—उद्दालक ने, **आरुणिः**—अरुण के पुत्र, **वाजसनेयाय**—वाजसनेय, **याज्ञवल्क्याय**—याज्ञवल्क्य-नामी, **अन्तेवासिने**—शिष्य को, **उक्त्वा**—कह (उपदेश) कर, **उवाच**—कहा था, **अपि**—भी, **यः**—जो (कोई), **एनम्**—इस (मन्थ) को, **शुष्के**—सूखे, **स्थाणौ**—ठूठ पर, **निषिञ्चेत्**—सींच दे, डाल दे, **जायेरन्**—(तो उस ठूठ में) पैदा हो जाएं, **शाखाः**—शाखाएं, **प्ररोहेयु**—उग आयें, जम आयें, **पलाशानि**—पत्ते, **इति**—यह (मन्थ-विज्ञान का फल बताया था) ॥७॥

एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्या-
यान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनँ शुष्के स्थाणौ
निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥८॥

एतम् उ ह एव—और इस ही (मन्थ-विज्ञान) को, **वाजसनेय याज्ञवल्क्य**—वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने, **मधुकाय**—मधुकनामी, **पैङ्ग्याय**—पैङ्ग्य, **अन्तेवासिने**—शिष्य को, **उक्त्वा पलाशानि इति**—अर्थ पूर्ववत् ॥८॥

एतमु हैव मधुक पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥९॥

एतम् उ ह एव—और इस ही (मन्थ-विज्ञान) को, **मधुकः**—मधुक नामी ने, **पैङ्ग्य**—पैङ्ग्य, **चूलाय**—चूल नामक, **भागवित्तये**—भागवित्ति, **अन्तेवासिने**—शिष्य को, **उक्त्वा पलाशानि इति**—अर्थ पूर्ववत् ॥९॥

काम को बतलाया, और प्रत्येक ने अपने शिष्य को 'मन्थ-रहस्य' बतलाते हुए कहा कि यदि कोई पुरुष इस 'मन्थ' को सूखी छड़ी पर भी छिड़क दे, तो उसमें भी शाखाएं उत्पन्न हो जांय और पत्ते फूट निकलें। 'मन्थ' के इस रहस्य को अपने पुत्र अथवा शिष्य के अतिरिक्त किसी को न बतलाये ॥७-१२॥

'मन्थ-कर्म' में गूलर की चार वस्तुएं होती है—गूलर का स्रुवा, गूलर का चमस अर्थात् पात्र, गूलर की समिधा और गूलर की दो

एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयु. पलाशानीति ॥१०॥

एतम् उ ह एव—और इस ही (मन्थ-विज्ञान) को, चूलः भागवित्तिः—भागवित्ति चूल ने, जानकये—जनक के पुत्र, आयस्थूणाय—आयस्थूण नामक, अन्तेवासिने—शिष्य को, उक्त्वा पलाशानि इति—अर्थ पूर्ववत् ॥१०॥

एतमु हैव जानकिरायस्थूण. सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखा प्ररोहेयु पलाशानीति ॥११॥

एतम् उ ह एव—और इस ही (मन्थ-विज्ञान) को, जानकि आयस्थूण.—जनक के पुत्र आयस्थूण ने, सत्यकामाय—सत्यकाम नामी, जाबालाय—जवाला के पुत्र, अन्तेवासिने—शिप्य को, उक्त्वा पलाशानि इति—अर्थ पूर्ववत् ॥११॥

एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखा प्ररोहेयु पलाशानीति तमेत नापुत्राय वाऽनन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥१२॥

एतम् उ ह एव—और इस ही (मन्थ-विज्ञान) को, सत्यकाम. जाबाल.—जवाला के पुत्र सत्यकाम ने, अन्तेवासिभ्यः—अनेक शिप्यो को, उक्त्वा पलाशानि इति—अर्थ पूर्ववत्, तम्—उस, एनम्—इस (मन्थ-विज्ञान) को, न—नही, अपुत्राय वा—पुत्र से अतिरिक्त को, अनन्तेवासिने वा—या अपने पास रहनेवाले शिष्य से भिन्न को, ब्रूयात्—वतावे, उपदेश करे ॥१२॥

चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बर. स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान्दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥१३॥

चतुर्+औदुम्बर·—चार गूलर से वनी वस्तुओ वाला, भवति—(यह मन्थ-विधि) होता है, औदुम्बर—गूलर-काष्ठ का, स्रुव—स्रुवा, औदुम्बर—गूलर का वना, चमस—पात्र, औदुम्बर—गूलर का, इध्म—ईंधन,

उपमन्थनियां। ग्राम के दस धान होते हैं---व्रीहि और यव (चावल और जो), तिल और माष, अणु और प्रियंगु (बाजरा और कंगनी), गेहूं, मसूर, खल्व (मटर) और खलकुल (कुलथी)। इनको पीस कर दधि, मधु तथा घृत में मिला कर घृत से होम करे ॥१३॥

षष्ठ अध्याय--(चौथा ब्राह्मण)

(गर्भाधान)

'मन्थ-कर्म करने वाला 'पुत्र-कर्म' करे, सन्तानोत्पत्ति करे, ताकि उच्च-कोटि की सन्तान हो। इस ब्राह्मण मे आगे जो-कुछ लिखा है उसे कई लोग अश्लील समझते है। कइयो ने इस स्थल के अश्लील ही अर्थ किये है। परन्तु किसी स्थल का ठीक अर्थ तभी समझ मे आ सकता है जब उसका आगे-पीछे के स्थलो के साथ समन्वय किया जा सके। इस ब्राह्मण मे 'मन्थ-कर्म' का वर्णन है। 'मन्थ-कर्म' मे औषधियो तथा फलों के रसो को मिलाकर उसमे उच्च विचारो की भावना दी जाती है। फिर उसे पीकर यह भावना जागृत की जाती है कि जो भावनाए 'मन्थ' मे डाली गई है, वे पीने वाले मे आ जाये। 'मन्थ' पीने मात्र से तो ऊची भावनाए क्या आयेगी, परन्तु उच्च विचारो को जागृत करने का यह एक भौतिक तरीका है। फिर 'मन्थ-कर्म' करने वाला 'पुत्र-कर्म' करे, अर्थात् उसी-जैसे ऊचे विचारो वाली सन्तान उत्पन्न करने का प्रयत्न करे---यह इस चतुर्थ ब्राह्मण के प्रारम्भ मे लिखा है। इस ब्राह्मण के अन्त मे यह लिखा है कि इस प्रकार जिस माता के पुत्र हो, वह वीरवती है, उसने वीर पुत्र को जन्म दिया है, उस

समिधाए, **औदुम्बर्यौ**---गूलर की बनी, **उपमन्थन्यौ**---मथानिया, (इसमे) **दश**---दस, **ग्राम्याणि**---गाव के (कृषि से उत्पन्न), **धान्यानि**---अनाज, **भवन्ति**---प्रयुक्त होते हैं, **व्रीहि-यवा**---चावल और जो, **तिल-माषाः**---तिल और उडद, **अणु-प्रियङ्गव**---अणु-प्रियङ्गु (सवाई और कगनी), **गोधूमा च**---और गेहू, **मसूरा च**---और मसूर, **खल्वाः च**---मटर, **खलकुलाः च**---कुलथी, **तान्**---उनको, **पिष्टान्**---पिसे हुए (पीस कर), **दधनि**---दही मे, **मधुनि**---शहद मे (मीठे मे); **घृते**---घी मे, **उपसिञ्चति**---भिगो दे (मिला दे), (और) **आज्यस्य**---घी का, **जुहोति**---हवन करता है (घृत की आहुति दे) ॥१३॥

पुत्र के कान मे कहे--'वेद' तेरा नाम है। जो पुत्र हो वह 'अति-पिता' हो, 'अति-पितामह' हो, अर्थात् उच्च गुणो मे पिता से आगे निकल जाय, पितामह से भी आगे निकल जाय। आगे-पीछे के इन स्थलो को देखकर क्या इस ब्राह्मण मे कही अश्लीलता को स्थान रह जाता है ? मैक्समूलर ने इस स्थल को अश्लील समझ कर इसका अंग्रेजी मे अनुवाद न कर लैटिन मे अनुवाद किया था। परन्तु यह अश्लील स्थल नही, इसमे गर्भाधान के उच्च-कोटि के संस्कार का वर्णन है। उसे एक यज्ञ कहा है। इस विषय को उठाते हुए ऋषि कहते है--

महाभूतों का रस पृथिवी है, पृथिवी का रस जल है, जलों का रस ओषधि, ओषधियो का रस पुष्प, पुष्पो का रस फल, फलों का रस पुरुष, पुरुष का रस वीर्य है ॥१॥

प्रजापति ने ईक्षण किया, सोचा, वीर्य कितना सामर्थ्य-शाली है, इसे यह पुरुष यो ही न बिगाड़े, इसलिये इसकी प्रतिष्ठा बना दूं। उसने स्त्री को रचा। उसे रचकर भू-लोक में लाकर मानो उसकी उपासना की, अर्थात् सोचा कि बहुत अच्छी रचना हुई, इसलिये भू-

---

**एषां वै भूतानां पृथिवी रस. पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओष-
धीना पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुष. पुरुषस्य रेतः ॥१॥**

एषाम् वै—निश्चय ही इन, **भूतानाम्**—पच-भूतो का, **पृथिवी**—पृथिवी, **रसः**—सार है, **पृथिव्या**—पृथिवी के, **आप**—जल, **अपाम्**—जलो के, **ओषधयः**—ओषधिया, **ओषधीनाम्**—ओषधियो का, **पुष्पाणि**—फूल, **पुष्पाणाम्**—फूलो के, **फलानि**—फल, **फलानाम्**—फलो का (सार), **पुरुष.**—पुरुष (का शरीर), **पुरुषस्य**—शरीर का, **रेत.**—वीर्य (सार-भूत) है ॥१॥

**स ह प्रजापतिरीक्षाचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठा कल्पयानीति स स्त्रियं
ससृजे तां सृष्ट्वाऽध उपास्त तस्मात्स्त्रियमध उपासीत
स एत प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत् ॥२॥**

स. ह प्रजापतिः—और उस प्रजापति ने, **ईक्षांचक्रे**—देखा, विचार किया, **हन्त**—अरे, कि, **अस्मै**—इस (वीर्य) के लिए, **प्रतिष्ठाम्**—स्थिति का स्थान, **कल्पयानि**—बनाऊ, निश्चित करू, **इति**—ऐसे, **स**—उसने, **स्त्रियम्**—स्त्री को, **ससृजे**—बनाया, उत्पन्न किया, **ताम्**—उस (स्त्री) को, **सृष्ट्वा**—रच कर, **अध**—नीचे, **उपास्त**—बैठा, उपासना की, **तस्मात्**—इस कारण

लोक में स्त्री की उपासना करे, अर्थात् प्रभु की कृति की प्रशंसा करे। प्रजापति ने मानो अपने पवित्र वज्र-सदृश बल को पार लगा दिया, अर्थात् अपना पूरा बल लगाकर उसने स्त्री की रचना की—अपने संपूर्ण सामर्थ्य से स्त्री को रचा ॥२॥

स्त्री मानो एक पवित्र यज्ञ है। उसका जनन-स्थान ही वेदी है, लोम बर्हि है, यज्ञ में बिछाने का मृग-चर्म तथा अधिषवण ये मध्य में समिद्ध दोनों मुष्क हैं। जो इस प्रकार स्त्री में यज्ञ की कल्पना कर उसे यज्ञ के समान पवित्र समझ कर उसके साथ बरतता है वह स्त्रियों के सुकृत को पा लेता है, जो इस रहस्य को न जान कर उनसे बरतता है उसका सुकृत स्त्रियां पा लेती हैं ॥३॥

से, **स्त्रियम्**—स्त्री को (की), **अधः**—नीचे, **उपासीत**—उपासना करे, (**अधः उपासीत**—रति-क्रिया करे), **सः**—उसने, **एतम्**—इस, **प्राञ्चम्**—पूर्ण, प्रगतिशील, **ग्रावाणम्**—कठोर, वज्रसदृश को, **आत्मनः**—अपना, अपने से; **एव**—ही, **समुदपारयत्**—पार लगा दिया, **तेन**—उससे, **एताम्**—इसको, **अभ्यसृजत्**—रचा ॥२॥

> तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासां स्त्रीणां सुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्यस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते ॥३॥

तस्याः—उस (स्त्री) की, **वेदिः**—(पुत्रेष्टि) यज्ञ का स्थल, **उपस्थः**—स्त्री-योनि है, **लोमानि**—रोम, **बर्हिः**—कुशा, **चर्म-अधिषवणे**—मृग-चर्म और अधिषवण, **समिद्धः**—प्रदीप्त, **मध्यतः**—मध्य भाग में, **तौ**—वे दोनों, **मुष्कौ**—अण्ड-कोष, **सः**—वह, **यावान्**—जितना, **ह वै**—निश्चय से, **वाजपेयेन**—वाजपेय (यज्ञ) से, **यजमानस्य**—यज्ञ-कर्ता का, **लोकः**—स्थिति, फल-प्राप्ति, **भवति**—होता है, **तावान्**—उतना ही, **अस्य**—इसका, **लोकः**—स्थान, फल, **भवति**—होता है, **यः**—जो, **एवम्**—इस प्रकार, **विद्वान्**—जाननेवाला, **अधोपहासम्**—रति-कर्म, **चरति**—करता है, **आसाम्**—इन, **स्त्रीणाम्**—स्त्रियों के, **सुकृतम्**—सुकर्म को, पुण्य-फल को, **वृङ्क्ते**—पा लेता है, **अथ**—और, **यः**—जो, **इदम्**—इसको, **अविद्वान्**—न जानता (समझता) हुआ, **अधोपहासम्**—मैथुन-कार्य, **चरति**—करता है, **अस्य**—इस (मूर्ख) के, **स्त्रियः**—स्त्रियां, **सुकृतम्**—पुण्य को, **वृञ्जते**—हर लेती हैं ॥३॥

गृहस्थी का यही आचार-धर्म है, स्त्री को यज्ञ के समान पवित्र समझे। इस रहस्य को जानते हुए अरुण के पुत्र उद्दालक ने कहा था कि गृहस्थी का यही आचार-धर्म है, मुद्गल के पुत्र नाक और कुमार-हारित भी इसी को गृहस्थी का आचार-धर्म कहते थे। अनेक मनुष्य जो अपने को व्यर्थ में ब्राह्मण कहते है—वे इन्द्रिय-हीन, सुकृत-हीन होते है—इस लोक से चले जाते है, परन्तु उन्हें अन्त तक स्त्री को यज्ञ-रूप समझ कर उसके साथ बरताव करना नही आता। कई संयम-हीन व्यक्ति ऐसे होते है जिनका सोते या जागते वीर्य-स्खलन हो जाता है, अर्थात् जो स्त्री को यज्ञ के समान पवित्र न समझ कर उसे विषय का साधन समझते है और इसीलिये स्वप्न में बुरे विचारों के कारण उन्हें स्वप्न-दोष हो जाता है ॥४॥

जिसका वीर्य-नाश हो गया है, वह पश्चात्ताप करता हुआ अनामिका और अंगुष्ठ से छाती को, जहां 'हृदय' है, और भंवो को, जहां

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्-गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्कुमारहारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविद्वाँसोऽधोपहास चरन्तीति बहु वा इदँ सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति ॥४॥

एतद् ह स्म वै—इस ही बात को, **तद्+विद्वान्**—उस (सतति-यज्ञ) को जाननेवाले, **उद्दालक. आरुणिः**—अरुण के पुत्र उद्दालक ने, **आह (स्म)**—कहा था, **एतद् ह स्म वै**—इस ही रहस्य को, **तद्+विद्वान्**—उसके जाननेवाले, **नाकः मौद्गल्यः**—मुद्गलवशी नाक ने, **आह (स्म)**—कहा था, **एतद् ह स्म वै**—इस ही विज्ञान को, **तद्+विद्वान्**—उसके ज्ञाता, **कुमारहारित**—कुमारहारित ने, **आह (स्म)**—कहा था, **बहवः**—बहुत से, **मर्या.**—मनुष्य, **ब्राह्मणायनाः**—ब्राह्मणाभिमानी, **निरिन्द्रिया**—इन्द्रिय-शक्ति से विहीन, **विसुकृत.**—पुण्य से वचित, **अस्मात्**—इस, **लोकात्**—लोक से, **प्रयन्ति**—चले जाते है, **ये**—जो, **इदम्**—इसको, **अविद्वास.**—न जानते हुए, **अधोपहासम् चरन्ति**—रति-कर्म करते है, **इति**—यह (कहते थे), **बहु**—बहुत (वार), **वै**—ही, तो, **इदम्**—यह, **सुप्तस्य वा**—सोए हुए, **जाग्रत वा**—या जागते हुए (पुरुष) का, **रेत**—वीर्य, **स्कन्दति**—स्खलित हो जाता है ॥४॥

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेत पृथिवीमस्कान्त्सीद्य-दोषधीरप्यसरद्यदप. । इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुन-

'मस्तिष्क' है, जल से स्पर्श करे---हृदय और मस्तिष्क के असंयत होने ही से तो संयम टूटा है---और मन में जपे---मेरा आज वीर्य-स्खलन हुआ है, आगे से ऐसा न होगा, मै अपने वीर्य को फिर से अपने भीतर धारण करूं, 'पुनर्माम् ऐतु इन्द्रियम्', अर्थात् इन्द्रिय-बल मुझे फिर प्राप्त हो, मेरा तेज, मेरा सौभाग्य फिर मेरे पास लौट आये, अग्नि-धिष्ण्य देव फिर से मुझ स्थान-भ्रष्ट को यथा-स्थान कर दें ।५॥

स्नान करता हुआ जब जल में अपने प्रतिबिम्ब को देखे तब भी वीर्य-धारण की प्रार्थना-करता हुआ जपे---मुझे तेज, इन्द्रिय-बल, यश, धन और सुकृत प्राप्त हो । इस प्रकार वीर्य-रक्षा कर, अपने को बल-शाली बनाकर निर्मल, यशस्विनी स्त्री का उपमन्त्रण करे, उसे चाहे,

---

स्तेजः पुनर्भग । पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थान कल्पन्तामित्य-
नामिकाऽङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात् ॥५॥

तद्—तो, उसको, **अभिमृशेत्**—सहलावे, छुए, **अनु वा मन्त्रयेत** (**अनु-मंत्रयेत वा**)—या चिन्तन करे (कि क्यो ऐसा हुआ ?) या अगले मत्र का जप करे, **यत्**—जो, **मे**—मेरा, **अद्य**—आज, **रेतः**—वीर्य, **पृथिवीम्**—पृथिवी पर, **अस्कान्त्सीत्**—स्खलित हो कर गिरा है, **यद्**—जो, **ओषधीः**—ओषधियो को, **अपि**—भी, **असरत्**—चला, सरका है, **यद्**—जो, **अप**—जलो को, **इदम्**—यह, इस, **अहम्**—मैं, **तद्**—उस, **रेत**—वीर्य को, **आददे**—ग्रहण करता हू, पुन सचित करता हू (फिर नही स्खलित होने दूगा), **पुनः**—फिर, **माम्**—मुझको, **ऐतु**—प्राप्त हो, आवे, **इन्द्रियम्**—इन्द्रिय-सामर्थ्य, **पुन**—फिर, **तेज**—तेज, **पुन**—फिर, **भग**—सौभाग्य, ऐश्वर्य, **पुन**—फिर, **अग्निः**—शरीर-अग्नि, **धिष्ण्या**—धारण करने वाली (वुद्धि या समझ), **यथास्थानम्**—पूर्ववत् अपने-अपने स्थान पर, **कल्पन्ताम्**—होवे, **इति**—ऐसे जप कर (चिन्तन कर), **अनामिका+अङ्गुष्ठाभ्याम्**—अनामिका (उगली) और अगूठे मे, **आदाय**—ग्रहण कर, **अन्तरेण**—मध्य मे, **स्तनौ वा**—स्तनो (हृदय-प्रदेश) के, **भ्रुवौ वा**—भवों (मस्तिष्क) के, **निमृज्यात्**—प्रक्षालन करे, जल से मार्जन करे (हृदय और मस्तिष्क की शुद्धि करे) ॥५॥

अथ यद्युदक आत्मान पश्येत्तदभिमन्त्रयेत मयि तेज इन्द्रियं
यशो द्रविण सुकृतमिति श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणा यन्मलो-
द्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत ॥६॥

अथ—और, **यदि**—अगर, **उदके**—जल मे, **आत्मानम्**—अपने स्वरूप को, **पश्येत्**—देखे, **तत्**—तो, **अभिमन्त्रयेत**—(अगले मन्त्र का) जप करे,

उससे विवाह करे । स्त्री की श्री, अर्थात् शोभा इसी में है कि वह धुले हुए वस्त्र के समान निर्मल हो (या ऋतु के दिनो के मलिन वस्त्र उतार दे) और इसी प्रकार का निर्मल व्यक्ति उससे सन्तति-यज्ञ की मंत्रणा करे ।।६।।

विवाह के अनन्तर पत्नी पति को सहयोग न दे, तो उसे सुन्दर-सुन्दर वस्तुएं लाकर दे जिससे वह सन्तुष्ट होकर सहयोग दे, फिर भी सहयोग न दे तो यष्टि से वा पाणि से उसकी खूब ताड़ना करे, और कहे कि अपने इन्द्रिय-बल से और अपने यश से तेरा यश खींच लूंगा, तुझे यश-हीन बना दूंगा, इस प्रकार पत्नी अयशस्विनी हो जाती है, अपनी अलग न चलाकर पति के साथ सहयोग देने लगती है ।।७।।

अगर पत्नी सहयोग दे, तो उसे कहे कि अपने इन्द्रिय-बल से

मयि—मुझ मे, **तेज.**—तेज, **इन्द्रियम्**—इन्द्रिय-शक्ति (वीर्य), **यश.**—यश, **द्रविणम्**—धन-सपत्ति, **सुकृतम्**—पुण्य-कर्म, सदाचार (बने रहे), **इति**—इस (मत्र का जप करे), **श्री.**—लक्ष्मी, शोभा, कान्तिमती, **ह वै**—निश्चय ही, **एषा**—यह है, **यत्**—जो, **मलोद्वासा**—ऋतु-स्नाता है, **तस्माद्**—उस कारण से, **मलोद्वाससम्**—ऋतु-स्नाता को, **यशस्विनीम्**—(सदाचार मे) यश (प्रसिद्धि) वाली, **अभिक्रम्य**—पास जाकर, **उपमन्त्रयेत**—(सन्तति-यज्ञ के लिए) मत्रणा करे ।।६।।

सा चेत्तस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति ।।७।।

सा—वह, **चेद्**—यदि, **अस्मै**—इस (पति) को, **न**—नहीं, **दद्यात्**—(स्वीकृति) देवे, **कामम्**—चाहे, **एनाम्**—इसको, **अवक्रीणीयात्**—(भूषण आदि से) खरीदे (प्रलोभित कर अनुकूल करे), **सा चेत्**—वह अगर **अस्मै न एव दद्यात्**—फिर भी स्वीकृति न दे (तो), **कामम्**—चाहे, **एनाम्**—इसको, **यष्ट्या वा**—दण्ड से, **पाणिना वा**—या हाथ से, **उपहत्य**—मार कर, **अतिक्रामेद्**—(रति-कर्म का विचार) छोड दे (और डर दिखाये कि), **इन्द्रियेण**—इन्द्रिय-बल से, **ते**—तेरे, **यशसा**—यश से, **यश**—कीर्ति को, **आददे**—मैं लेता हू, छीन लेता हू, **इति**—ऐसे (शाप दे), **अयशा**—अपयशवाली, **एव**—ही, **भवति**—वह हो जाती है ।।७।।

सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनावेव भवत ।।८।।

और अपने यश से तुझे भी यशस्विनी बनाता हूं—इस प्रकार पति-पत्नी दोनों यशस्वी हो जाते हैं ॥८॥

अगर पति चाहे कि उसकी पत्नी उससे प्रसन्न रहे, तो पत्नी की इच्छा में ही अपनी इच्छा मिला दे, उसकी हां में हां मिला दे, उसके समीप बैठकर, उसे स्पर्श कर कहे—हे प्रेम के देवता! तू मेरे अंग-अंग से उत्पन्न हो रहा है, तू मेरे हृदय से फूट रहा है, तू मेरे अंगों का मानो रस है, तू मेरी स्त्री को मुझ पर मदान्वित कर दे, इसे ऐसा कर दे जैसे विष से बुझे हुए बाण से विद्ध मृगी व्याध के वश में हो जाती है ॥९॥

अगर पति चाहे कि उसकी स्त्री सन्तानोत्पत्ति के कार्य में न लग कर उसके साथ ब्रह्मचर्य-पूर्वक जीवन व्यतीत करे, तो पत्नी के साथ

सा चेद् अस्मै दद्यात्—अगर वह अपनी स्वीकृति इसे दे दे, इन्द्रियेण ते यशसा यशः—अपने इन्द्रिय-बल और यश से तुझ में यश को, आदधामि—धारण करता हूं (तुझे यशस्विनी बनाता हूं), इति—ऐसे (कहे), (तब वे दोनों) यशस्विनौ—कीर्ति-यशवाले, एव—ही, भवतः—हो जाते हैं ॥८॥

स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदंगादंगात्संभवसि हृदयादधिजायसे । स त्वमंगकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयीति ॥९॥

सः—वह मनुष्य, याम्—जिस (अपनी पत्नी) को, इच्छेत्—चाहे कि, कामयेत—(यह) चाहे (आकृष्ट हो, कामभाव को पूरा करे), मा—मुझ को, इति—ऐसे, तस्याम्—उसमें, अर्थम्—(अपने) अभिप्राय को, निष्ठाय—रख कर, निष्ठा से प्रगट कर, मुखेन—अपने मुख से, मुखम्—(पत्नी के) मुख को, संधाय—मिला कर, उपस्थम्—निकट को, अस्याः—इसके, अभिमृश्य—स्पर्श करके, अर्थात् अपनी स्त्री के निकट बैठ कर उसे स्पर्श करके, जपेत्—(अगले मन्त्र का पुत्र-प्राप्ति के लिए) जप करे, अंगात् अंगात्—प्रत्येक अंग (के सार रूप वीर्य) से, संभवसि—उत्पन्न होता है, हृदयात्—हृदय (की भावना) से, अधिजायसे—जन्म लेता है, सः—वह, त्वम्—तू, अंगकषाय—अंग का रस, असि—है, दिग्धविद्धाम्—विष बुझे बाण से बिंधी, इव—(हरिणी की) तरह, मादय—मस्त (पुत्र-आशा से अनुरक्त) कर दे, इमाम्—इसको, अमूम्—इसको, मयि—मुझ पर, इति—यह (मन्त्र जपे) ॥९॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधायाभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति ॥१०॥

ऐसा बर्ताव करे जिससे उसकी इच्छा पत्नी की इच्छा बन जाय, उसके मुख से निकली बात पत्नी की बात बन जाय। फिर दोनों प्राणापान की गति को साधें, अर्थात् प्राणायाम करे--(अभिप्राण्य अपान्यात्)--और एक दूसरे के प्रति इस भावना को जन्म दे कि हम अपनी शक्ति को एक-दूसरे की इन्द्रियो की शक्ति में सम्मिलित करते हैं--इस प्रकार वे दोनो अरेता हो जाते हैं, प्रजनन नहीं करते और ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हैं ॥१०॥

(कई लोगो का कहना है कि यहा पर परिवार-नियोजन अर्थात् सन्तानोत्पत्ति-निरोध (Family Planning) का उपाय बतलाया गया है। 'अभिप्राण्य अपान्यात्'--गहरा प्राण लेकर अपान वायु का प्रयोग करे। आयुर्वेद के अनुसार उपस्थेन्द्रिय मे अपान वायु रहती है। वीर्य का सिचन अपान वायु द्वारा होता है। अपान द्वारा वीर्य का सिंचन न होने दे--इस प्रकार स्त्री-सग करने पर भी गर्भ-धारण नही होता। इस प्रक्रिया को पाश्चात्य लेखक Cunnilingus कहते हैं जो अफ्रीका आदि कई देशो मे गर्भ-निरोध के लिये प्रचलित हैं। भारतीय-साहित्य मे भी इसी प्रकार की वज्रौली आदि क्रियाओ के विषय मे सुना जाता है। मैथुन होने पर भी वीर्यपात न होना--इन क्रियाओ का अभिप्राय है।)

अगर पति चाहे कि उसकी पत्नी सन्तानोत्पत्ति करे, तो उसके साथ अपनी इच्छा और वाणी को एक करके गर्भाधान करे--(अपान्य

अथ—और, **याम् इच्छेत्**—जिस अपनी पत्नी को चाहे, **न**—नही, **गर्भम्**—गर्भ को, **दधीत**—धारण करे, **इति**—ऐसे, **तस्याम्**—उसमे, **अर्थम् निष्ठाय**—अपने अभिप्राय को रख कर, **मुखेन मुखम् सधाय**—मुख मे मुख मिला कर, **अभिप्राण्य**—(पहले) गहरा सास लेकर, **अपान्यात्**—श्वास को छोड दे, निकाल दे, **इन्द्रियेण**—इन्द्रिय-बल रूप, **ते**—तेरे (अन्दर गये), **रेतसा**—वीर्य से, **रेत**—वीर्य को, **आददे**—लेता हू, खीचता हू, **इति**—ऐसा (बोलकर), **अरेता**—वीर्य से रहित, **एव**—ही, **भवति**—हो जाती है (वीर्याभाव मे सन्तान नही होती) ॥१०॥

अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥११॥

अभिप्राण्यात्)—दोनों के रेत एक होने से स्त्री गर्भवती हो जाती है ॥११॥

(दसवी कण्डिका मे जो कहा उससे उलटा ११वी कण्डिका मे कहा। दसवी मे कहा—'अभिप्राण्य अपान्यात्', ग्यारहवी कण्डिका मे कहा—'अपान्य अभिप्राण्यात्'—अर्थात् अपान वायु के संचार द्वारा वीर्य-सिचन कर प्राण को ले—इस प्रकार गर्भ-धारण हो जाता है, यह कुछ टीकाकारो का कथन है।)

अगर स्त्री का कोई जार हो, गुप्त-प्रेमी हो, उससे अगर पति द्वेष करे, तो कच्चे पात्र में अग्नि को रखे, शर-सदृश बर्हि को प्रति-लोम बिछा दे, और फिर उन्हें उठा-उठाकर उल्टी तरफ से घी में सिक्त करके अग्नि में हवन करे, और कहे—मेरी प्रदीप्त अग्नि में—यज्ञ-रूपा पत्नी में—तूने होम किया, इस कारण हे अमुक ! मै तेरे प्राण और अपान को खीच लेता हूं, तूने मेरी प्रदीप्त अग्नि में होम किया, इस कारण हे अमुक ! मै तेरे पुत्र और पशुओ को खीच लेता हूं, तूने मेरी प्रदीप्त-अग्नि में होम किया, इस कारण हे अमुक ! मै तेरे इष्ट और सुकृत को खींच लेता हूं, तूने मेरी प्रदीप्त अग्नि में होम किया, इस कारण हे अमुक ! मै तेरी आशा और प्रत्याशा को खीच

अथ याम् इच्छेत्—और जिसको चाहे कि, दधीत इति—यह (गर्भ) धारण करे, तस्याम् संधाय—अर्थ पूर्ववत्, अपान्य—साम निकाल कर, अभिप्राण्यात्—गहरा साम लेवे, इन्द्रियेण रेत—पूर्ववत्, आदधामि—आधान करता हू, इति—ऐसे, गर्भिणी एव—गर्भवती ही, भवति—हो जाती है ॥११॥

अथ यस्य जायायै जार स्यात्तं चेद्द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रति-लोमं शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेता. शरभृष्टीः प्रतिलोमा. सर्पिषाऽक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषी. प्राणापानौ त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूंस्त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसा-विति मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति स वा एप निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति यमेवंविद्ब्राह्मण. शपति तस्मा-देवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ॥१२॥

अथ—और यदि, यस्य—जिसकी, जायायै—स्त्री का, जारः—गुप्त-प्रेमी, स्यात्—हो, तम्—उसको, चेत्—अगर, द्विष्यात्—(पति) द्वेष करे

लेता हूं। इस रहस्य को जानने वाला ब्राह्मण जब शाप देता है, तो वह जार निरिन्द्रिय और सुकृत-हीन होकर इस लोक से चल देता है, इसलिये ऐसे श्रोत्रिय की स्त्री से कभी उपहास न करे क्योंकि ऐसा शत्रु भयंकर शत्रु होता है ॥१२॥

जिसकी स्त्री को ऋतु-धर्म प्राप्त हो वह तीन दिन तक कांसे के बर्तन में जल न पिये, और न तीन दिन तक कपड़े धोये, उसे कोई नीच, धर्म-हीन पुरुष या नीच एवं धर्म-हीन स्त्री स्पर्श न करे। तीन

(न चाहे) तो, **आमपात्रे**—कच्चे मट्टी के वर्तन मे, **अग्निम्**—अग्नि को, **उपसमाधाय**—स्थापित – प्रदीप्त कर, **प्रतिलोमम्**—उलटे रुख मे, **शरबर्हिः**—सरकण्डे के पत्र रूप कुशा को, **स्तीर्त्वा**—फैला (विछा) कर, **तस्मिन्**—उस (अग्नि) मे, **एताः**—इन, **शरभृष्टीः**—सरकण्डे की (अवजली) तीलियो को, **प्रतिलोमाः**—उल्टी ओर से, **सर्पिषा**—घी से, **अक्ताः**—चुपडी हुई, सिक्त, **जुहुयात्**—हवन करे (आगे के मत्र वोलकर), **मम**—मेरी, **समिद्धे**—प्रदीप्त, **अग्नौ**—अग्नि मे, **अहौषीः**—हवन किया है, **प्राण+अपानौ**—प्राण और अपान को, **ते**—तेरे, **आददे**—खीच लेता हू, **असौ**—यह (मैं–अपना नाम ग्रहण करे), **इति**—यह मत्र बोल कर, **पुत्रपशून**—पुत्र और पशुओ को, **इष्टा-सुकृते**—इष्ट (अभीष्ट या किये यज्ञ के फल) और पुण्य-कर्म के फल को, **आशा-पराकाशौ**—आशा और प्रतीक्षाओ (प्रत्याशाओ) को , **इति**—इन (चार मत्रो से), **सः वै एष**—वह यह व्यभिचारी, **निरिन्द्रियः**—इन्द्रिय-बल से रहित, **विसुकृतः**—पुण्य-फल से वचित, **अस्मात्**—इस, **लोकात्**—लोक से, **प्रैति**—चला जाता–मर जाता है, **यम्**—जिसको, **एवंविद्**—इस प्रकार (इस प्रक्रिया को) जाननेवाला, **ब्राह्मणः**—ब्राह्मण, **शपति**—शाप देता है, **तस्माद्**—अत , **एववित्+श्रोत्रियस्य**—इस रहस्य (प्रक्रिया) को जाननेवाले वेदज्ञ ब्राह्मण की, **दारेण**—पत्नी से, **न**—नही, **उपहासम्**—अश्लील हसी-मजाक, **इच्छेत्**—(करना) चाहे, **उत हि**—और क्योकि, **एवंवित्**—ऐसा ज्ञानी ब्राह्मण, **परः**—अत्यधिक पराया (शत्रु), **भवति**—हो जाता है ॥१२॥

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत्त्र्यहं कंसे न पिवेदहतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात्त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ॥१३॥

अथ—और, **यस्य**—जिसकी, **जायाम्**—भार्या-पत्नी को, **आर्तवम्**—ऋतु-काल, रज स्राव, **विन्देत्**—प्राप्त हो, होने लगे, **त्र्यहम्**—तीन दिन तक, **कंसे**—कासी के पात्र मे, **न**—नही, **पिवेत्**—पानी पीवे, **अहतवासाः**—वस्त्र न

रात बीत जाने पर वह स्त्री स्नान करे और चरु बनाने के लिये व्रीहि, अर्थात् धान को कूट कर तय्यार करे ॥१३॥

जो चाहे कि मेरा पुत्र शुक्ल-वर्ण हो, कम-से-कम एक वेद का ज्ञाता हो, पूरी आयु भोगे, तो दूध-चावल पकवा कर, घृत डाल कर पति-पत्नी दोनों खायें। ऐसा करने से वे दोनो ऐसा ही पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं ॥१४॥

जो चाहे कि मेरा पुत्र कपिल-वर्ण हो, पिंगलाक्ष हो, दो वेदो का ज्ञाता हो, पूरी आयु भोगे, तो चावल पका कर उसमें दही तथा घी डाल कर पति-पत्नी दोनों खायें। ऐसा करने से वे दोनों ऐसा ही पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं ॥१५॥

धोनेवाली रहे (स्नान न करे), न—नहीं, एनाम्—इस (रजस्वला) को, वृषलः—चाण्डाल (धर्म-लोपी नीच पुरुष), न—नहीं, वृषली—नीच (धर्म-भ्रष्ट) स्त्री, उपहन्यात्—स्पर्श करे, त्रिरात्र+अन्ते—तीन रात (दिन) के अन्त में (बीत जानेपर), आप्लुत्य—स्नान कर, व्रीहीन्—धानों को, अवघातयेत्—(पति) कुटवावे ॥१३॥

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१४॥

स. य.—वह जो, इच्छेत्—चाहे कि, पुत्र.—पुत्र (सन्तान), मे—मेरा, शुक्ल—गौर-वर्ण का (निर्मल चरित्रवाला), जायेत—उत्पन्न हो, वेदम्—एक वेद को, अनुब्रुवीत—अनुवचन करे, ज्ञाता हो, सर्वम्—सारी, पूर्ण, आयुः—आयु को, इयात्—प्राप्त हो, इति—ऐसे (चाहे), क्षीर-ओदनम्—दूध और चावल, पाचयित्वा—पकवाकर, सर्पिष्मन्तम्—घी वाले (घी डाल कर); अश्नीयाताम्—(पति-पत्नी) खावें, ईश्वरौ—समर्थ होते हैं, जनयितवै—(ऐसा पुत्र) उत्पन्न करने के लिए ॥१४॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१५॥

अथ यः इच्छेत्—और जो चाहे, पुत्र—पुत्र, मे—मेरा, कपिलः—कपिलवर्ण, पिङ्गल—पिंगलाक्ष (भूरी आंखोंवाला), जायेत—उत्पन्न हो, द्वौ—दो, वेदौ—वेदों को, अनुब्रुवीत—व्याख्याता (ज्ञाता) हो, सर्वम् आयुः इयात—पूर्ण आयु को प्राप्त करे, इति—ऐसा (चाहे), दधि+ओदनम्—दही और चावल, पाचयित्वा—पकाकर, सर्पिष्मन्तम्—घी से युक्त कर, अश्नीया-

जो चाहे कि मेरा पुत्र श्याम-वर्ण हो, लोहिताक्ष हो, तीन वेदों का ज्ञाता हो, पूरी आयु भोगे तो खाली पानी में चावल पका कर उसमें घी डाल कर पति-पत्नी दोनों खायें। ऐसा करने से वे दोनो ऐसा ही पुत्र उत्पन्न करने मे समर्थ होते हैं ॥१६॥

जो चाहे कि मेरी कन्या पंडिता हो, पूरी आयु भोगे, तो तिल तथा चावल पका कर, घी डाल कर पति-पत्नी खायें। ऐसा करने से दोनों ऐसी कन्या उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं ॥१७॥

जो चाहे कि मेरा पुत्र पंडित हो, प्रख्यात हो, सभा-सोसाइटियो में जाने वाला हो, प्रिय वाणी बोलने वाला हो, सब वेदो का ज्ञाता

ताम्—(पति-पत्नी) भोजन करे, **ईश्वरौ जनयितवै**—(वे दोनो ऐसा पुत्र) उत्पन्न करने मे समर्थ होगे ।१५।।

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायु-रियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१६॥

अथ यः इच्छेत् पुत्रः मे—और जो यह चाहे कि मेरा पुत्र, **श्याम**—सावला, **लोहिताक्षः**—लाल-लाल आखोवाला, **जायेत**—उत्पन्न हो, **त्रीन्**—तीन, **वेदान्**—वेदो को (का), **अनुब्रुवीत**—व्याख्याता (ज्ञाता) हो, **सर्वम् आयुः इयात्**—पूरी आयु प्राप्त करे, **इति**—ऐसा (चाहे), **उद+ओदनम्**—जल मे चावल, **पाचयित्वा**—पका कर, **सर्पिष्मन्तम्**—घृत से युक्त कर, **अश्नीयाताम्**—(पति-पत्नी) भोजन करे, **ईश्वरौ जनयितवै**—(वे दोनो ऐसा पुत्र) उत्पन्न करने के लिए समर्थ होते है ।।१६।।

अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदन पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१७॥

अथ य. इच्छेत्—और जो चाहे कि, **दुहिता**—पुत्री, **मे**—मेरी, **पण्डिता**—पडिता (विद्या-बुद्धि से सम्पन्न), **जायेत**—होवे, **सर्वम् आयु इयात्**—पूरी आयु प्राप्त करे, **इति**—ऐसे, **तिल+ओदनम्**—तिल और चावल, **पाचयित्वा**—पकाकर, **सर्पिष्मन्तम्**—घी से युक्त कर, **अश्नीयाताम्**—(पति-पत्नी दोनो) खावे, **ईश्वरौ जनयितवै**—(वे ऐसी पुत्री) उत्पन्न करने के लिए समर्थ होते हैं।।१७।।

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीत· समितिगम शुश्रूषिता वाच भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति मा ँसौदन पाच-यित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा ॥१८॥

अथ यः इच्छेत्—और जो चाहे (कि), **पुत्र मे**—मेरा पुत्र, **पण्डित.**—

हो, पूरी आयु भोगे, तो माष अर्थात् उड़द के साथ चावल पका कर पति-पत्नी दोनो खायें। ऐसा करने से वे दोनो ऐसा पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ होते है जो शरीर में बैल के समान और ज्ञान में ऋषियो के समान होता है ॥१८॥

(इस स्थल मे 'मासौदन' की जगह 'माषौदन' पाठ ठीक है क्योकि इस सारे प्रकरण मे चावल-घी-दही-तिल आदि का वर्णन है। दही, घी, चावल, तिल आदि के सिलसिले मे उड़द तो प्रकरण-सगत है, मास सर्वथा असगत है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद मे 'मास' का अर्थ ओषधि का कोमल गूदा होता है, जैसे अग्रेजी मे स्टोन का अर्थ फल की गुठली होता है। यहा पर चावल के साथ दो ओषधियो के गूदे (मास) को मिला कर खाने के लिये कहा

पण्डित (विद्या-बुद्धि मे सम्पन्न, चतुर), **विगीत**—प्रशसित, प्रख्यात, यशस्वी, **समितिगम**—सभा मे जानेवाला (सभा-कार्य मे कुशल), **शुश्रूषिताम्**—श्रवण करने योग्य, जिसको सब सुनना चाहे ऐसी, **वाचम्**—वाणी को, **भाषिता**—भाषण करनेवाला (अपूर्व-रमणीय बात का वक्ता), **जायेत**—उत्पन्न हो, **सर्वान्**—सारे (चारो), **वेदान् अनुब्रुवीत**—वेदो का व्याख्याता (ज्ञाता) हो; **सर्वम् आयु. इयात्**—सारी आयु को प्राप्त हो, **इति**—ऐसे (चाहे वह), **मांस+ओदनम्**—औषध के गूदे (कोमल भाग) और चावल को या (उचित पाठ-भेद मे) **माष+ओदनम्**—उडद और चावल को, **पाचयित्वा**—पकाकर, **सर्पिष्मन्तम्**—घी मे युक्त कर, **अश्नीयाताम्**—(पति-पत्नी) खावें, **ईश्वरौ जनयितवै**—(वे ऐसा-पुत्र) उत्पन्न करने मे समर्थ होते है, **औक्षेण वा**—(वह गूदा) या तो 'उक्षा'-(जीवक) नामक ओषधि का हो, **आर्षभेण वा**—या 'ऋषभ'-नामक ओषधि का हो ॥१८॥

विशेष—(१) इस प्रकरण की पूर्व-पीठिका मन्थ-रहस्य मे 'मास' के न कहे जाने, (२) तीन मत्रो मे अभीष्ट तीन प्रकार के पुत्रो के कथन के बाद अभीष्ट दुहिता के निर्देश करने के अनन्तर चौथे प्रकार के पुत्र की परिगणना द्वारा क्रम-विरोध होने, (३) उपनिषद् की वाक्य-रचना शैली (जिसका पालन पहिली चार कण्डिकाओ मे हुआ है) के विपरीत 'ईश्वरौ जनयितवै' के आगे 'औक्षेण वार्षभेण वा' पाठ होने, (४) पहले पारिभाषिक 'त्रयी-विद्या' या 'त्रीन् वेदान्' मे ही 'सर्वान् वेदान्' का अन्तर्भाव होने तथा (५) मास-भक्षण के वैदिक (श्रौत-स्मार्त) सत्र आर्य-मर्यादा के विरुद्ध होने तथा उपनिषदो मे अन्यत्र मास-भक्षण के प्रत्यक्ष निषिद्ध होने मे यह पाठ प्रक्षिप्त है—यह कई विद्वानो का मत है।

गया है—एक है 'उक्षा', दूसरी है 'ऋषभ'। आयुर्वेद के ग्रन्थ 'भावप्रकाश-निघण्टु' (हरीतक्यादि वर्ग) मे लिखा है —

'जीवकर्षभकौ बल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ।
मधुरौ पित्तदाहास्रकार्श्यवातक्षयापहौ ॥'—(श्लोक १२५)

जिस का अभिप्राय यह निकलता है कि अगर 'मासौदन' पाठ को ही ठीक माना जाय, जैसा कि हम नही मानते, तो भी इसका अर्थ आयुर्वेद की ओषधियो—'उक्षा' तथा 'ऋषभ'—से है, अन्यथा अगर इन शब्दो का बैल अर्थ किया जाय तब तो क्योकि 'उक्षा' तथा 'ऋषभ' दोनो का अर्थ बैल है, फिर दो शब्द देने की क्या आवश्यकता थी। अगर ये दो पृथक्-पृथक् ओषधिया हो तभी दो नाम देने सगत है।)

अब प्रातःकाल ही थाली में रखे हुए पाक तथा ढक कर रखे हुए घी को अच्छी प्रकार हिला कर थोड़ा-थोड़ा लेकर होम करे और आहुति देता हुआ कहे, यह आहुति अग्नि के लिये है, यह आहुति पति-पत्नी की सन्तानोत्पत्ति के लिये जो अनुमति है उसके लिये है, यह आहुति उस सविता देव के लिये है जिससे सत्य रूप प्रसव होता है।

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहाऽनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैना त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जाया पत्या सहेति ॥१९॥

अथ—और, **अभिप्रात**—प्रात काल होते, **एव**—ही, **स्थालीपाक-आवृत+आज्यम्**—स्थाली (पतीली) मे रक्खे सिद्ध अन्न और आवृत (ढके) घी को, **चेष्टित्वा**—हिलाकर, मिलाकर, **स्थालीपाकस्य**—सिद्ध अन्न का, **उपघातम्**—थोडा-थोडा कर, **जुहोति**—हवन करता है (अगले तीन मन्त्रो से), **अग्नये**—अग्नि के लिये, **स्वाहा**—यह त्याग (आहुति) है, **अनुमतये**—अनुमति (स्वीकृति) के लिए, **स्वाहा**—स्वाहा, **देवाय**—देव, **सवित्रे**—जगद्रचयिता प्रभु के लिये, **सत्यप्रसवाय**—सत्य को प्रेरित करनेवाले या प्रसव मे बाधा को दूर करनेवाले, **स्वाहा**—स्वाहा, **इति**—ऐसे (मत्रो से), **हुत्वा**—आहुति दे कर, **उद्धृत्य**—(स्थाली मे से) उठाकर (निकाल कर), **प्राश्नाति**—खाता है, **प्राश्य**—खाकर, **इतरस्या**—दूसरी (अपनी पत्नी) को, **प्रयच्छति**—(खाने के लिये) देता है, **प्रक्षाल्य**—धोकर, **पाणी**—हाथो को, **उदपात्रम्**—जल-पात्र

इस प्रकार हवन कर अवशिष्ट चरु को लेकर उसका भक्षण करे, खाकर कुछ पत्नी को दे। फिर हाथ धोकर, पात्र में जल भर कर पत्नी को तीन वार छींटे दे और कहे—हे विश्व की धन-स्वरूप पत्नी! पति के साथ मिल कर, अत्यन्त आगे बढ़ने वाली, अपने से भिन्न, अन्य सन्तान की इच्छा कर ॥१९॥

फिर गर्भाधान करे और पत्नी से कहे, मै 'अम' हूं, तू 'सा' है, अर्थात् मै 'प्राण' हूं, तू 'वाणी' है; तू 'सा' है, मै 'अम' हूं, अर्थात् तू 'वाणी' है, मै 'प्राण' हूं। मै 'साम' हूं, तू 'ऋक्' है; मै 'द्यौ' हूं, तू 'पृथिवी' है। हम दोनों मिल कर उद्योग करें, मिल कर वीर्य-स्थापन करें, और पुमान् पुत्र को प्राप्त करें ॥२०॥

अव अलग होकर कहे, पुत्रोत्पत्ति के लिये मानो द्यु और पृथिवी मिले थे, अव अलग होते हैं। पत्नी की इच्छा में ही अपनी इच्छा को

को, पूरयित्वा—भर कर, तेन—उस (जल) से, एनाम्—इस (पत्नी) को, त्रिः—तीन वार, अभ्युक्षति—छींटे देता है, उत्तिष्ठ—उठ, आगे बढ, अतः—यहा से, इस (स्थिति) से, विश्वावसो—विश्व को आवास (आश्रय) देने वाली या जगत् की सपत्तिरूपिणी, अन्याम्—दूसरी (स्थिति) को, इच्छ—चाहना कर, प्रपूर्व्याम्—सर्वथा पूर्ण, सम्—अच्छी प्रकार, जायाम्—सन्तति को, पत्या—(मुझ) पति के, सह—साथ, इति—इस (मत्र को वोलते हुए) ॥१९॥

अथैनामभिपद्यतेऽमोऽहमस्मि सा त्व् सा त्वमस्यमोऽहं
सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि
सं्रभावहै सह रेतो दधावहै पुं्से पुत्राय वित्तय इति ॥२०॥

अथ—तत्पश्चात्, एनाम्—इसको (की), अभिपद्यते—ओर (सोने के समय रात्रि मे) जाता है, पास पहुचता है, अमः—प्राण, अहम् अस्मि—मैं हू, सा—वाणी, त्वम्—तू है, सा त्वम् असि—तू वाणी है; अमः अहम्—प्राण मैं हू, साम—(गेय) सामगान, अहम् अस्मि—मै हू, ऋक्—छन्दोवद्ध ऋचा; त्वम्—तू है, द्यौ—द्युलोक, अहम्—मैं हू, पृथिवी—पृथिवी, त्वम्—तू है (इन नित्य जोडों के समान हम भी युगल हैं), तौ—वे (हम दोनो), एहि—आ, संरभावहै—मेल (मैथुन-कर्म) करें, सह—साथ, रेत—वीर्य को, दधावहै—(तुझ उसकी प्रतिष्ठा मे) आधान करे, पुंसे—पौंस्पयुक्त, पुत्राय—पुत्र रूप; वित्तये—प्राप्ति के लिए, इति—इस मत्र को वोले ॥२०॥

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय
मुखेन मुखं संधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा

स्थापित करे, उसके मुख से जो बात निकले वही अपने मुख से निकाले, उसका चित्त प्रसन्न रखे, तीन बार उस पर प्यार से अनुलोम हाथ फेरे और कहे, 'विष्णु' तेरी योनि को स्वस्थ बनाये, 'त्वष्टा' योनि मे बन रहे शिशु के भिन्न-भिन्न रूपो का मानो तराश-तराश कर निर्माण करे, 'प्रजापति' गर्भ को सीचे, 'धाता' गर्भ को धारण करे। हे शोभन-केशवाली! तू गर्भ धारण कर, हे अत्यन्त स्तुति के योग्य! तू गर्भ धारण कर, कमल की माला को धारण करने वाले 'अश्वि'-वैद्य तेरे गर्भ को बढ़ायें ॥२१॥

सुवर्ण की भांति देदीप्यमान पुरुष तथा स्त्री मानो दो अरणी है। अरणियो के मन्थन से जैसे अग्नि प्रदीप्त हो उठती है, वैसे इनके मन्थन से सन्तान-रूपी अग्नि उत्पन्न होती है। 'अश्वि'-वैद्यो की सहा-

---

रूपाणि पिंशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥२१॥

अथ—तब, अस्याः—इसकी, ऊरू—जघाओ को, विहापयति—अलग-अलग करता है (और बोलता है), विजिहीथाम्—अलग होवे, द्यावा-पृथिवी—द्युलोक और पृथिवीलोक, इति—ऐसे, तस्याम् सधाय—अर्थ पूर्ववत्, त्रिः—तीन वार, एनाम्—इसको (इस पर), अनुलोमाम्—रोमो के अनुसार (अनुकूल), अनुमार्ष्टि—हाथ फेरता है, विष्णुः—पालक भगवान्, योनिम्—योनि को, कल्पयतु—(वीर्य धारण मे) समर्थ करे, त्वष्टा—जगत् का निर्माता भगवान्, रूपाणि—रूपो को (अग-प्रत्यग को), पिंशतु—रचे, उज्ज्वल करे, आसिञ्चतु—सीचे, प्रजापतिः—प्रजा का पालक, धाता—धारण करने वाला, गर्भम्—गर्भ को, दधातु—धारण करे, ते—तेरे, गर्भम्—गर्भ को, धेहि—धारण कर, सिनीवालि—हे सुकेशि!, गर्भम् धेहि—गर्भ को धारण कर, पृथुष्टुके—बहुधा स्तुत (प्रशसित), गर्भम्—गर्भ को, ते—तेरे, अश्विनौ देवौ—अश्वि-देव, आधत्ताम्—आधान करे, पुष्करस्रजौ—कमल की माला धारण किये हुए ॥२१॥

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ।
त ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये।
यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।
वायुर्दिशा यथा गर्भ एव गर्भं दधामि तेऽसाविति ॥२२॥

हिरण्मयी—हितकर और रमणीय, अरणी—अरणी (काष्ठ),

यता से दसवें महीने में उत्पन्न होने के लिये उस गर्भ का हम आवा-हन करते हैं। जैसे पृथिवी के गर्भ मे 'अग्नि' है, जैसे द्यु के गर्भ में 'इन्द्र' है, जैसे दिशाओं के गर्भ में 'वायु' है, इसी प्रकार मैं तेरा गर्भ स्थापित करता हूं ॥२२॥

प्रसूता को जल के छींटे दे और कहे, जैसे वायु सरोवर को चारों तरफ से चलायमान कर देती है, वैसे तेरा गर्भ चलायमान होकर जरायु के साथ वाहर आ जाय। इन्द्र अर्थात् जीवात्मा का यही संसार में आने का मार्ग है, दस मास तक इस मार्ग में जरायु का अर्गल वना रहता है, हे इन्द्र! तू गर्भ और पीछे निकलने वाली अवरा के साथ निकल आ ॥२३॥

याभ्याम्—जिन दो से, **निर्मन्थताम्**—मथा (रगडा) था, **अश्विनौ**—अश्विनी-कुमारो (देव-वैद्यो) ने, **तम्**—उस, **ते**—तेरे, **गर्भम्**—गर्भ को, **हवामहे**—चाहना (प्रार्थना) करते है, **दशमे**—दसवे, **मासि**—मास मे, **सूतये**—प्रसव होने के लिए, **यथा**—जैसे, **अग्निगर्भा**—अग्नि को गर्भ मे (अपने अन्दर) धारण करने वाली, **पृथिवी**—पृथिवी है, **यथा**—जैसे, **द्यौः**—द्युलोक, **इन्द्रेण**—इन्द्र से, **गर्भिणी**—गर्भवाला है (द्यु-लोक के अन्दर इन्द्र विद्यमान है), **वायु**—वायु, **दिशाम्**—दिशाओ का, **यथा**—जैसे, **गर्भः**—गर्भ (मध्यवर्ती) है, **एवम्**—इस प्रकार, **गर्भम्**—गर्भ को, **दधामि**—आधान करता हू, **ते**—तेरे, **असौ**—यह (मैं अमुकनामा), **इति**—यह (मन्त्र बोले) ॥२२॥

> सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति, यथा वायु पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वत।
> एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा। इन्द्रस्यायं व्रज कृत
> सार्गल सपरिश्रय। तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावरां सहेति ॥२३॥

सोष्यन्तीम्—प्रसव होते समय इसको, **अद्भिः**—जलो से, **अभ्युक्षति**—सिंचित करता है (छींटे देता है), **यथा**—जैसे, **वायु**—वायु, **पुष्करिणीम्**—कमल-सरोवर को, **समिङ्गयति**—हिला देता है, लहरे पैदा कर देता है, **सर्वतः**—सब ओर, **एवा**—ऐसे, **ते**—तेरा, **गर्भ**—गर्भ, **एजतु**—चलायमान हो, **सह**—साथ, **अव+एतु**—बाहर आ जाय, **जरायुणा**—जरायु (जेर) से (के साथ), **इन्द्रस्य**—इन्द्र (गन्नति रूप जीव-आत्मा) का, **व्रज**—गोष्ठ (गो-बन्धन-स्थान), **कृत**—(कर्मानुसार) बनाया गया था, **स+अर्गल**—आगल (जरायु रूप अवरोध) से युक्त, **सपरिश्रय**—(उदर-रूप) घेरे के सहित, **तम्**—उस (व्रज) को; **इन्द्र**—हे जीवात्मन्, **निर्जहि**—सर्वथा छोड दे, तोड दे, **गर्भेण**—गर्भ से,

शिशु के उत्पन्न होने पर अग्नि का आधान करे, शिशु को गोद में ले, कांसे के पात्र में घृत-मिश्रित दधि को लेकर--इस 'पृषदाज्य' का अग्नि में होम करे और कहे, मैं अपने घर में सहस्रों वर्षों तक अपने नाम द्वारा समृद्ध होता हुआ पुष्टि प्राप्त करूं, मेरे वंश में प्रजा और पशु का कभी उच्छेद न हो। यह कह कर प्रथम आहुति दे। फिर कहे, हे पुत्र! मेरे भीतर जो प्राण हैं उन्हें मन द्वारा तुझ में समर्पित करता हूं। यह कह कर दूसरी आहुति दे। फिर कहे, जो-कुछ मैंने अधिक या न्यून कर्म किया है, उसे जानता हुआ 'स्विष्टकृत् अग्नि' स्विष्ट और सुहुत बनाये--स्विष्ट अर्थात् 'सु+इष्ट', सुन्दर यज्ञ और सुहुत अर्थात् 'सु+हुत' सुन्दर आहुति रूप बना दे ॥२४॥

सावराम्—अवरा (बन्धक नाल) के साथ, **सह**—साथ, **इति**—ऐसे (मत्र को बोले) ॥२३॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाक आधाय कँसे पृषदाज्यँ संनीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे। अस्योपसद्यां मा च्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा। मयि प्राणाँस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा। यत्कर्मणाऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्स्विष्टँ सुहुतं करोतु नः स्वाहेति ॥२४॥

जाते—शिशु के उत्पन्न हो जाने पर, **अग्निम्**—अग्नि को, **उपसमाधाय**—स्थापित एव प्रदीप्त कर, **अके**—(मा की) गोद मे, **आधाय**—रख कर, **कंसे**—कासी के पात्र मे, **पृषद्+आज्यम्**—दधि-मिश्रित घृत को, **संनीय**—लाकर, पास रख कर, **पृषद्+आज्यस्य**—दधि-मिश्रित घी की, **उपघातम्**—भाग कर, थोडा-थोडा कर, **जुहोति**—अग्नि मे आहुति देता है, **अस्मिन्**—इस, **सहस्रम्**—हजारो को, **पुष्यासम्**—पुष्ट करू, पालू, **एधमानः**—वढता हुआ, **स्वे**—अपने, **गृहे**—घर मे, **अस्य**—इस (शिशु) की, **उपसद्याम्**—उपस्थिति मे, **मा**—मत, **छैत्सीत्**—छिन्न-भिन्न (नष्ट) हो, **प्रजया च**—प्रजा (सतति) से, **पशुभिः च**—और पशुओ से, **स्वाहा**—यह प्रार्थना है, **मयि**—मुझमे (विद्यमान), **प्राणान्**—प्राणो (जीवन-सामर्थ्य) को, **त्वयि**—तुझ मे, **मनसा**—हृदय से, **जुहोमि**—डालता-सौंपता हू, **स्वाहा**—यह सत्य कथन है, **यत्**—जो कुछ, **कर्मणा**—कर्म (क्रिया-विधि) मे, **अति+अरीरिचम्**—(भूल से) अतिरिक्त (अधिक) किया है, **यद् वा**—और जो, **न्यूनम्**—कमी, **इह**—इस (विधान) मे, **अकरम्**—की है, **अग्नि**—अग्रणी-ज्ञान-स्वरूप भगवान्, **तत्**—उस (न्यून वा अधिक कर्म) को, **सु+इष्टकृत्**—ठीक

फिर शिशु के दायें कान के पास मुख करके वाक्-वाक्—इस प्रकार तीन बार उच्चारण करे, और दधि-मधु-घृत को मिला कर शुद्ध-सुवर्ण की शलाका से उसे चटाये, और कहे, मैं तुझ में 'भूः', तुझ में 'भुवः' और तुझ ही में 'स्वः' को धारण करता हूं, मैं 'भूः भुवः स्वः'—इन तीनों लोकों को तुझ में ही धारण करता हूं। 'भूस्ते दधामि' - 'भुवस्ते दधामि' - 'स्वस्ते दधामि' - 'भूर्भुवःस्वस्ते दधामि'—इन चार मन्त्रों से चार बार दधि-मधु-घृत को चटावे ॥२५॥

अब इसका नामकरण करे, और कहे, 'वेदोऽसि'—तू वेद-स्वरूप है, ज्ञान-स्वरूप है। यही इसका गुह्य नाम है, इसका चालू नाम पीछे रखा जाता है ॥२६॥

यज्ञ यजन करनेवाला, भला इष्ट (हित) करने वाला, विद्वान्—ज्ञाता, सु+इष्टम्—ठीक प्रकार यज्ञ किया हुआ, सु+हुतम्—ठीक प्रकार हवन किया हुआ, करोतु—करे, नः—हमारे, स्वाहा—यह शुभ कथन (प्रार्थना) है और सत्य शुभ वचन है, इति—ऐसे (मन्त्रों से आहुति दे) ॥२४॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथ दधि मधु घृतं संनीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति। भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवःस्वः सर्वं त्वयि दधामीति ॥२५॥

अथ—तत्पश्चात्, अस्य—इस (शिशु) के, दक्षिणम्—दाहिने, कर्णम्—कान के, अभिनिधाय—(पास मुख) रखकर, वाग्-वाग्—तुझे उत्तम वाणी प्राप्त हो, इति—ऐसे, त्रिः—तीन वार (उच्चारण करे), अथ—तत्पश्चात्; दधि—दही, मधु—शहद, घृतम्—घी, संनीय—भली प्रकार मिलाकर, अनन्तर्हितेन—शुद्ध, मैल रहित, जातरूपेण—सुवर्ण (शलाका) से, प्राशयति—खिलावे (चटावे), भूः—प्राण व सत्ता, ते—तुझ में, दधामि—धारण कराता हूं, भुवः—अपान व ज्ञान, ते दधामि—तुझे धारण कराता हूं; स्वः—व्यान व सुख-आनन्द, ते दधामि—तुझ में धारण कराता हूं, भूः भुवः स्वः—प्राण-अपान-व्यान व सत्-चित्-आनन्द, सर्वम्—सब को, त्वयि—तुझ में, दधामि—धारण कराता हूं, इति—ऐसे (इन चार मन्त्रों को बोल कर) ॥२५॥

अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति तदस्य तद्गुह्यमेव नाम भवति ॥२६॥

अथ—तत्पश्चात्, अस्य—इस (शिशु) का, नाम करोति—नाम रखता है, वेदः—वेद (ज्ञान रूप); असि—तू है, इति—ऐसे, तद्+अस्य—उस इस (शिशु) का, तद्—वह ('वेद' नाम), गुह्यम्—गुप्त (अप्रकट), एव—ही, नाम—नाम, संज्ञा, भवति—होता है ॥२६॥

फिर इसे माता को देकर उसका स्तन-पान कराये और कहे, हे सरस्वति ! जो तेरा शशय—'शं' अर्थात् सुख+उसका 'शय' अर्थात् स्थान—सुखकारी, जो मयोभूः अर्थात् आनन्दप्रद, जो रत्नों को, अनोखे बालकों को धारण करने वाला, जो वसु वाला और दूध देने वाला तेरा स्तन है, जिस स्तन से तू सब वरने योग्य पुत्र-पुत्रियो को पालती है, उसे इस शिशु के लिये आगे कर ॥२७॥

फिर माता को सम्बोधन करे, तू इडा है—स्तुति-योग्य है, तू मित्र के समान स्नेहमयी है, तू वरुण के समान न्याय-प्रिया है, 'वीरे वीरमजीजनत्'—तूने वीर पुरुष की वीर सन्तान को जन्म दिया है, तू वीरवती हो, और हमें भी वीर पुत्रों वाला बना। इस पुत्र को लोग कहें 'अति-पिता बताभूः, अति-पितामहो बताभूः'—यह पिता से आगे

अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करिति ॥२७॥

अथ—इसके वाद, **एनम्**—इस (शिशु) को, **मात्रे**—माता को, **प्रदाय**—देकर, **स्तनम्**—स्तन, **प्रयच्छति**—देता है, **यः**—जो, **ते**—तेरा, **स्तनः**—स्तन, **शशयः**—सुखकारी, **य**—जो, **मयोभूः**—आनन्द-प्रद, **य.**—जो, **रत्नधा**—रत्नो (रमणीय शिशुओ) का पालन करनेवाला, **वसुविद्**—वसु (आवास) देनेवाला, **य**—जो, **सुदत्रः**—भली प्रकार दान करनेवाला, **येन**—जिस (स्तन) से, **विश्वा**—सम्पूर्ण, **पुष्यसि**—पुष्ट करती है, **वार्याणि**—वरण करने योग्य, **सरस्वति**—हे सरस्वति !, **तम्**—उस (स्तन) को, **धातवे**—पिलाने के लिये, पालन करने के लिए, **कः**—कर, **इति**—इस मत्र को वोले ॥२७॥

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते, इडाऽसि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत्। सा त्व वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरदिति तं वा एतमाहुरतिपिता बताभूरतिपितामहो बताभूः परमा वत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति ॥२८॥

अथ—तत्पश्चात्, **अस्य**—इस (शिशु) की, **मातरम्**—माता को, **अभिमन्त्रयते**—सबोधन कर कहता है, **इडा**—स्तुति के योग्य, इडा (पृथिवी या प्रकृति) के समान, है, **मैत्रावरुणी**—मित्र और वरुण देवो के स्नेह और न्याय गुणो से युक्त है, **वीरे**—(मुझ) वीर मे, **वीरम्**—वीर (पुत्र) को, **अजीजनत्**—जन्म दिया है, **सा त्वम्**—वह तू, **वीरवती**—वीर पुत्र वाली, **भव**—हो, **या**—जिस तूने, **अस्मान्**—हमको, **वीरवतः**—वीर पुत्र वाला, **अकरत्**

निकल गया, पितामह से आगे निकल गया। इस रहस्य को जानने वाले ब्राह्मण के घर जो पुत्र उत्पन्न होता है वह श्री, यश और ब्रह्म-वर्चस की पराकाष्ठा को प्राप्त करता है ॥२८॥

षष्ठ अध्याय--(पांचवां ब्राह्मण)
(मातृ-सत्ताक-परिवार की वश-परंपरा)

यह विद्या किस गुरु-शिष्य-परपरा से आई इसका उल्लेख पहले बृहदारण्यक २य अध्याय ६ष्ठ ब्राह्मण तथा ४र्थ अध्याय ६ष्ठ ब्राह्मण मे दिया जा चुका है। यहा एक और परंपरा दी गई है जो पहली दोनो से भिन्न है और पिता के नाम पर चलने के स्थान पर माता के नाम पर चली है। पिता के नाम पर तो वश-परपरा हर जगह चलती है, माता के नाम पर चलना सिद्ध करता है कि माता का स्थान उस सस्कृति मे इतने ऊचे दर्जे का था कि उसके नाम से वश प्रसिद्ध हो सकता था। इस प्रकरण मे एक माता का नही, पचासो माताओ से ऋषि-मुनियों की वश-परपरा का उल्लेख है। समाज-शास्त्री माता के नाम से चलने वाली इस वश-परपरा के आधार पर कहते हैं कि सामाजिक-विकास मे एक ऐसा भी समय था जव परिवार मे पिता के स्थान पर माता का स्थान मुख्य था। इस समय को वे 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) कहते हैं। वर्तमान-काल मे भी केरल मे मातृ-सत्ताक-परिवार की प्रथा चल रही है जिसका धीरे-धीरे लोप हो रहा है। हम नीचे टिप्पणी मे मातृ-सत्ताक-परिवार की इस वश-परपरा को दे रहे है।

किया (बनाया) है, **इति**—ऐसे (कहे), **तम् वै एतम्**—(भविष्य मे) उस इस बालक को, **आहु**—कहे, **अति-पिता**—पिता से बढ कर, **वत**—निश्चय से, **अभू**—तू हुआ है, **अति-पितामहः**—दादा-बाबा से बढकर, **वत अभूः**—तू हुआ है, **परमाम्**—परम, **वत**—प्रसन्नता की बात है, **काष्ठाम्**—दिशा या छोर को, (**परमाम् काष्ठाम्**—पराकाष्ठा को, असीमता को), **प्रापत्**—प्राप्त हुआ, पहुचा, **श्रिया**—शोभा व लक्ष्मी से, **यशसा**—यश-कीर्ति से; **ब्रह्मवर्चसेन**—ब्रह्म (ज्ञान) तेज से, **य**—जो, **एवंविदः**—इस प्रकार जाननेवाले; **ब्राह्मणस्य**—ब्राह्मण का, **पुत्र**—पुत्र, **जायते**—उत्पन्न होता है, **इति**—ऐसे (सब लोग कहते हैं) ॥२८॥

अथ—और, वंशः—यह गुरु-शिष्य-परम्परा है —

	शिष्य		गुरु	
१	पौतिमाषी-पुत्र	ने	कात्यायनी-पुत्र	से
२	कात्यायनी-पुत्र	,,	गौतमी-पुत्र	,,
३	गौतमी-पुत्र	,,	भारद्वाजी-पुत्र	,,
४	भारद्वाजी-पुत्र	,,	पाराशरी-पुत्र	,,
५	पाराशरी-पुत्र	,,	औपस्वती-पुत्र	,,
६	औपस्वती-पुत्र	,,	पाराशरी-पुत्र	,,
७	पाराशरी-पुत्र	,,	कात्यायनी-पुत्र	,,
८	कात्यायनी-पुत्र	,,	कौशिकी-पुत्र	,,
९	कौशिकी-पुत्र	,,	आलम्बी-पुत्र एव वैयाघ्रपदी-पुत्र	,,
१०	वैयाघ्रपदी-पुत्र	,,	काण्वी-पुत्र और कापी-पुत्र	,,
११	कापी-पुत्र	,,	आत्रेयी-पुत्र	,,
१२	आत्रेयी-पुत्र	,,	गौतमी-पुत्र	,,
१३.	गौतमी-पुत्र	,,	भारद्वाजी-पुत्र	,,
१४	भारद्वाजी-पुत्र	,,	पाराशरी-पुत्र	,,
१५	पाराशरी-पुत्र	,,	वात्सी-पुत्र	,,
१६	वात्सी-पुत्र	,,	पाराशरी-पुत्र	,,
१७	पाराशरी-पुत्र	,,	वार्कारुणी-पुत्र	,,
१८	वार्कारुणी-पुत्र	,,	वार्कारुणी-पुत्र	,,
१९	वार्कारुणी-पुत्र	,,	आर्तभागी-पुत्र	,,
२०	आर्तभागी-पुत्र	,,	शौङ्गी-पुत्र	,,
२१	शौङ्गी-पुत्र	,,	साङ्कृती-पुत्र	,,
२२	साङ्कृती-पुत्र	,,	आलम्बायनी-पुत्र	,,
२३	आलम्बायनी-पुत्र	,,	आलम्बी-पुत्र	,,
२४	आलम्बी-पुत्र	,,	जायन्ती-पुत्र	,,
२५	जायन्ती-पुत्र	,,	माण्डूकायनी-पुत्र	,,
२६	माण्डूकायनी-पुत्र	,,	माण्डूकी-पुत्र	,,
२७	माण्डूकी-पुत्र	,,	शाण्डिली-पुत्र	,,
२८	शाण्डिली-पुत्र	,,	राथीतरी-पुत्र	,,
२९	राथीतरी-पुत्र	,,	भालुकी-पुत्र	,,
३०.	भालुकी-पुत्र	,,	(दो) क्रौञ्चिकी-पुत्रों	,,

	शिष्य		गुरु	
३१	(दो) कौञ्चिकी-पुत्रों	ने	वैदभृती-पुत्र	से
३२	वैदभृती-पुत्र	,,	कार्शकेयी-पुत्र	,,
३३	कार्शकेयी-पुत्र	,,	प्राचीनयोगी-पुत्र	,,
३४	प्राचीनयोगी-पुत्र	,,	साजीवी-पुत्र	,,
३५	साजीवी-पुत्र	,,	आसुरि के वासी (शिष्य) प्राश्नी-पुत्र	,,
३६	प्राश्नी-पुत्र	,,	आसुरायण	,,
३७	आसुरायण	,,	आसुरि	,,
३८	आसुरि	,,	याज्ञवल्क्य	,,
३९	याज्ञवल्क्य	,,	उद्दालक	,,
४०	उद्दालक	,	अरुण	,,
४१	अरुण	,,	उपवेशि	,,
४२	उपवेशि	,,	कुश्रि	,,
४३	कुश्रि	,,	वाजश्रवस्	,,
४४	वाजश्रवस्	,,	जिह्वावान् वाध्योग	,,
४५	जिह्वावान् वाध्योग	,,	वार्षगण असित	,,
४६	वार्षगण असित	,,	हरित कश्यप	,,
४७	हरित कश्यप	,,	शिल्प कश्यप	,,
४८	शिल्प कश्यप	,,	नैध्रुवि कश्यप	,,
४९	नैध्रुवि कश्यप	,,	वाच् (क्)	,,
५०	वाच् (क्)	,,	अम्भिणी	,,
५१	अम्भिणी	,,	आदित्य	,,

आदित्यानि—'आदित्य' नामक ऋषि से प्राप्त, **इमानि**—ये, **शुक्लानि**—शुक्ल (शुद्ध), **यजूंषि**—यजु (गद्यमय मन्त्र), **वाजसनेयेन**—वाजसनेय, **याज्ञवल्क्येन**—याज्ञवल्क्य ऋषि द्वारा, **आख्यायन्ते**—उपदेश दिये जाते है (व्याख्या किये गये है) ॥३॥ **समानम्**—समान ही, आ **सांजीवीपुत्रात्**—साजीवी-पुत्र तक (यह गुरु-शिष्य परम्परा समान है), आगे

शिष्य		गुरु		शिष्य		गुरु	
साजीवी-पुत्र	ने	माण्डूकायनि	से	वात्स्य	ने	कुश्रि	से
माण्डूकायनि	,,	माण्डव्य	,,	कुश्रि	,,	राजस्तम्बायन यज्ञवचस्	,,
माण्डव्य	,,	कौत्स	,,				
कौत्स	,,	माहित्थि	,,	राजस्तम्बायन यज्ञवचस्	,,	कावषेय तुर	,,
माहित्थि	,,	वामकक्षायण	,,	कावषेय तुर	,,	प्रजापति	,,
वामकक्षायण	,,	शाण्डिल्य	,,				
शाण्डिल्य	,,	वात्स्य	,,				

प्रजापति—प्रजापति ने, **ब्रह्मणः**—ब्रह्म (ब्रह्मा) से, **ब्रह्म**—ब्रह्म तो, **स्वयम्भु**—स्वयम् ज्ञानमय है (आदि गुरु है), **ब्रह्मणे**—उस ब्रह्म को; **नमः**—नमस्कार है ॥४॥

श्वेताश्वतर-उपनिषद्

प्रथम अध्याय

(ब्रह्माड का कारण—काल, स्वभाव, नियति आदि है क्या ?)

किसी समय ब्रह्म-वादी लोग एकत्रित होकर विचार करने लगे—सृष्टि का कारण क्या 'ब्रह्म' है, या कुछ और ? हम कहां से उत्पन्न हुए है ? किस से जीते है ? किसमे प्रतिष्ठित, अर्थात् स्थित है ? किसकी व्यवस्था में बंधे हुए हम सुख-दुःखों में बरतते है ? ॥१॥

वे विचार करने लगे, सृष्टि का कारण ब्रह्म नही, तो क्या है ? क्या 'काल' कारण है ? तभी क्या कोई वस्तु ग्रीष्म मे होती है, कोई शरद् में, कोई वर्षा में। अगर काल कारण नही, तो क्या 'स्वभाव' कारण है ? अग्नि का स्वभाव ताप है शीतलता नही, जल का स्वभाव शीतलता है ताप नही। क्या इसी प्रकार सृष्टि स्वभाव से बनी ? अगर स्वभाव भी कारण नही, तो क्या 'नियति' कारण है ? हम कुछ चाहते है, होता कुछ और है। लोग कहते है भाग्य को कौन मेट सकता है ? अगर नियति नहीं, तो क्या 'यदृच्छा' कारण है ? नियति से उल्टी यदृच्छा है। कोई नियत नियम नही, यों ही सब-कुछ हो रहा है ? ये भी नही, तो क्या 'पंच-

---

ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति।

ओम्—आदि गुरु, सर्वरक्षक भगवान् का स्मरण कर, **ब्रह्मवादिन**—ब्रह्म की चर्चा करनेवाले, **वदन्ति**—कहते है, परस्पर चर्चा करते हैं।

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठा।
अधिष्ठिता. केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥

किम्—क्या, **कारणम्**—(जगत् का) कारण, **ब्रह्म**—ब्रह्म है, **कुत.**—कहा से, किससे, क्यो, **स्म जाताः** (जाता. स्म)—हम पैदा हुए है, **जीवाम**—जिये (जीते है), **केन**—किस से, **क्व च**—और कहा (किसमे), **सप्रतिष्ठाः**—आधार व आश्रय (स्थिति) वाले है ?, **अधिष्ठिताः केन**—किसकी अध्यक्षता (देख-रेख) मे, **सुख+इतरेषु**—सुख-दु ख मे या सुख से भिन्न दु खो मे, **वर्तामहे**—रहते है, **ब्रह्मविदः**—ब्रह्मज्ञानी, **व्यवस्थाम्**—नियन्त्रण को ॥१॥

महाभूत' कारण है ? पंच-भूत नहीं, तो क्या 'योनि' कारण है, अर्थात् माता-पिता ही कारण हैं, पुत्र पिता से, वह अपने पिता से, यही परम्परा चली आ रही है ? ये भी नहीं, तो क्या 'पुरुष', अर्थात् यह 'आत्मा' कारण है ? ये सब अलग-अलग नहीं, तो क्या इन सबका 'संयोग' कारण है ? उत्तर देते हैं, नहीं, इनमें से कोई भी कारण नहीं। ये सब कारण 'चिन्त्य' हैं, विचार-कोटि के हैं, सन्देहास्पद हैं। क्यों ? 'अनात्मभावात्' ! क्योंकि इनमें आत्म-भाव नहीं है, ये स्वयं

ब्रह्म-वादी लोग ब्रह्म की चर्चा कर रहे हैं

जड़ है। तो फिर क्या पुरुष--अर्थात् 'आत्मा'--'जीवात्मा'--सृष्टि का कारण है, उसमें तो 'आत्म-भाव' है ?

इसका भी उत्तर देते है, नही, वह भी कारण नही, क्योंकि अगर जीवात्मा सृष्टि का कारण हो, तो उसे सुख-दु:ख कौन देगा। जीवात्मा को सुख-दु:ख तो होता है। वह स्वयं अपने को सुख-दु:ख देने के लिये सृष्टि की रचना क्यों करने लगा ? इस प्रकार ये आठों सृष्टि के कारण नहीं ॥२॥

(ब्रह्मांड का कारण 'ब्रह्म' है--'ब्रह्म-चक्र' का वर्णन)

तब वे ध्यान-योग के पीछे चले, और देखा। यह देखा कि उस देव की आत्म-शक्ति इतनी महान् है कि अपने गुणों की महानता के कारण ही वह आत्म-शक्ति निगूढ़ हो गई है, इतनी महान् है कि दीखती नहीं। वही देव 'काल' से लेकर 'आत्मा' तक जिन ८ का ऊपर उल्लेख किया गया है, इन सब कारणों का अकेला अधिष्ठाता है ॥३॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि. पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषा न त्वनात्मभावादात्माऽप्यनीशः सुखदु.खहेतो ॥२॥

कालः—काल, स्वभावः—अपना रूप (गुण), नियति—भाग्य (कर्म-फल), यदृच्छा—स्वच्छन्दता, स्वय हो जाना, भूतानि—पच भूत, योनिः—माता-पिता (मूल-कारण), पुरुष.—आत्मा (स्वयम्) या परमात्मा, इति—ये (कारण), चिन्त्यम्—विचारणीय है, सदेहास्पद है, सयोगः—सयोग, मेल, एषाम्—इनका, (संयोगः एषाम्—ये सब मिलकर कारण है ?), न तु—नही तो (ये कारण हो सकते है), अनात्म-भावात्—(इनमे) आत्म-भाव (ज्ञान-गति-बल) न होने से, आत्मा—जीवात्मा, अपि—भी, अनीश.—असमर्थ, अशक्त है, सुख-दुःखहेतोः—सुख-दु ख होने के कारण से ॥२॥

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्।
य. कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक. ॥३॥

ते—उन (ब्रह्मवादियो) ने, ध्यान-योग+अनुगता—ध्यान-योग (समाधि) मे अनुगत (लीन) होकर, अपश्यन्—देखा, जाना, देव+आत्म-शक्तिम्—दिव्य आत्मा (परमात्मा) की शक्ति (सामर्थ्य) को, स्व-गुणै—(उसके) अपने गुणो से, निगूढाम्—छिपी, आच्छादित, अव्यक्त, य—जो (देव), कारणानि—कारणो को, निखिलानि—सारे, तानि—उनको,

उन्होंने 'ब्रह्म-चक्र' को देखा। गीता में कहा है, 'भ्रामयन् सर्व-भूतानि यन्त्रारूढानि मायया'—वह मानो सब को यन्त्र पर चढ़ा कर घुमा रहा है। वह यन्त्र 'ब्रह्म-चक्र' है। 'चक्र' का अर्थ है, 'पहिया'।

पहिये की परिधि को 'नेमि' कहते है, इस 'नेमि' पर ही पहिया घूमता है। चक्र की 'एक' ही नेमि होती है, 'ब्रह्म-चक्र' की नेमि 'प्रकृति' है, 'प्रकृति' पर ही 'ब्रह्म-चक्र' चल रहा है।

पहिये पर लोहे का वृत्त, अर्थात् लपेट चढ़ा होता है, 'ब्रह्म-चक्र' पर सत्त्व-रज-तम के तीन वृत्त—तीन लपेटें चढ़ी है, अतः वह 'त्रिवृत' है।

पहिया गोल होता है, अतः किसी एक लकड़ी से तो बनता नहीं, १६ कुछ-कुछ कुबड़ी लकड़ियो को एक-दूसरी के साथ गांठने से गोलाकार बनता है, ब्रह्म-चक्र में इन १६ को विकार कहा है। सांख्य-कारिका में लिखा है, 'मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'। 'षोडशकस्तु विकारः'—'विकार १६ हैं', ये १६ 'ब्रह्म-चक्र' के 'अन्त' है, सिरे है, इनके आगे प्रकृति का विकार नही होता। पंच-महाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और मन—ये १६ विकार 'ब्रह्म-चक्र' के १६ सिरे है, टुकड़े है, जिन के जोड़ से 'ब्रह्म-चक्र' बना है।

काल+आत्मयुक्तानि—(प्रथम कारण) काल और (अन्तिम कारण) आत्मा से युक्त (आठो कारणो को), अधितिष्ठति—अधिष्ठाता (नियता) है, एक.—इकला ही, वह एक है ॥३॥

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥४॥

तम्—उस (ब्रह्म-चक्र) को, एकनेमिम्—एक नेमि (घेरा, परिधि) वाले, त्रि-वृतम्—तीन बार आच्छादित, षोडश+अन्तम्—सोलह अन्त (ओर-छोर) वाले, शत+अर्ध+अरम्—सौ के आधे (पचास) अरे वाले, विंशति-प्रत्यराभिः—बीस छोटे-छोटे अरो (खप्पचो) से युक्त, अष्टकैः—अष्टको से युक्त, षड्भिः—छै, विश्वरूप+एक-पाशम्—ससार के रूप रूपी एक ही पाश (बन्धन) वाला, त्रि-मार्गभेदम्—तीनो मार्गों को भेदने (पार करने) मे समर्थ, द्विनिमित्त+एकमोहम्—दो निमित्त वाले (से बने) वस्तुत मोह (अविद्या) रूपी एक निमित्त वाले (ब्रह्म-चक्र को समाधि मे देखा) ॥४॥

विशेष—इस मत्र का विशेष विवरण ऊपर भाष्य मे देखे।

पहिये के ५० अरे होते हैं। अरे वे लकड़ियां हैं, जो चक्र को दृढ़ बनाने के लिये चक्र और नाभि में लगी होती हैं। सांख्य-कारिका ने बुद्धि के ५० प्रकार कहे हैं--'एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्ति-तुष्टिसिद्धचाख्याः गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पंचाशत्'—अर्थात्, गुणों के न्यूनाधिक होने से 'प्रत्यय' अर्थात् 'बुद्धि' के ५० भेद हैं। वे हैं, 'विपर्यय', 'अशक्ति', 'तुष्टि' और 'सिद्धि'--ये चार, तथा इनके अवान्तर-भेद। इनके अवान्तर-भेदो का वर्णन करते हुए सांख्य-कारिका कहती है--'पंच विपर्ययभेदा भवत्यशक्तिश्च करण-वैकल्याद् अष्टा-विंशतिभेदा, तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः'--अर्थात्, 'विपर्यय' के ५, 'अशक्ति' के २८, 'तुष्टि' के ९, 'सिद्धि' के ८--इस प्रकार बुद्धि के ५० भेद हुए। ये ५० ही 'ब्रह्म-चक्र' के ५० अरे हैं।

'विपर्यय' के ५ भेद--'विपर्यय' के ५ भेद कौन-से हैं? 'विप-र्यय', अर्थात् 'अज्ञान' या 'अविद्या' के भेद सांख्य ने 'तम', 'मोह', 'महामोह', 'तामिस्र' और 'अन्धतामिस्र'--ये ५ कहे हैं। इनमें से 'तम' के ८, 'मोह' के ८, 'महामोह' के १०, 'तामिस्र' के १८ और 'अन्धतामिस्र' के १८ भेद कहे हैं।

आठ प्रकार का 'तम' क्या है? मन, बुद्धि, अहंकार तथा पंच-तन्मात्र—इन आठ को जो 'अनात्म' है, 'आत्मा' समझना आठ प्रकार का 'तम' है।

आठ प्रकार का 'मोह' क्या है? अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व--इन आठ सिद्धियो में रम जाना आठ प्रकार का 'मोह' है।

दस प्रकार का 'महामोह' क्या है? इस लोक में तथा परलोक में दस इन्द्रियों के दस विषयो के भोग की उत्कट कामना १० प्रकार का 'महामोह' है।

अठारह प्रकार का 'तामिस्र'-नामक अज्ञान क्या है? आठ सिद्धियो तथा दस इन्द्रियो के विषयो के भोग न प्राप्त होने पर एक-एक के लिये जो क्रोध उत्पन्न होता है वह १८ प्रकार का 'तामिस्र' है।

अठारह प्रकार का 'अन्ध-तामिस्र' क्या है? आठ सिद्धियो तथा दस इन्द्रियो के विषयों का आधा भोग मिले, और विघ्न-बाधाओ से

या मृत्यु से बीच में ही ये भोग नष्ट होते नज़र आने लगें, तब जो हाय-हाय मचाना है वह 'अन्ध-तामिस्र' है।

'अशक्ति' के २८ भेद—'अशक्ति' के २८ भेद कौन-से हैं ? दस इन्द्रियों में दस प्रकार की शक्ति न रहे, यह तो 'इन्द्रियों की अशक्ति' हुई। इन दस के अलावा १८ प्रकार की 'मन की अशक्ति' है। अभी हम ९ तुष्टियों का वर्णन करेंगे, ये तुष्टियां 'मन की शक्ति' की सूचक हैं, इनका न होना 'मन की अशक्ति' है। इन ९ तुष्टियों की कमी को दो-दो प्रकार से देखा जा सकता है जिससे तुष्टि की कमी के १८ भेद हो जाते हैं। १० प्रकार की इन्द्रियों की अशक्ति और १८ प्रकार की अतुष्टि मिल कर २८ 'अशक्तियां' हो जाती हैं। 'तुष्टि' के सम्बन्ध में दो-दो प्रकार यों होते हैं। कोई व्यक्ति धन के बिना सन्तुष्ट है, तो कोई धन मिलने पर उसे छोड़ सकता है। जो धन के बिना सन्तुष्ट है उसमें 'अभावात्मक-गुण' (Negative virtue) है, जो धन को छोड़ सकता है उसमें 'भावात्मक-गुण' (Positive virtue) है। इन दोनों प्रकार की तुष्टियों का न होना 'मन की अशक्ति' है जिसके १८ प्रकार कहे गये हैं।

'तुष्टि' के ९ भेद—'तुष्टि' के ९ भेद कौन-से हैं ? कोई व्यक्ति 'तत्त्व-ज्ञान' के कारण संतुष्ट है, कोई 'वैराग्य' के कारण, कोई 'रूढि' के कारण, कोई 'भाग्य' के कारण, कोई 'अहिंसा', 'सत्य', 'अस्तेय', 'ब्रह्मचर्य' तथा 'अपरिग्रह' को जीवन का ध्येय बना लेने के कारण। ये ९ तुष्टियां हैं।

'सिद्धि' के ८ भेद—'सिद्धि' के आठ भेद कौन-से हैं ? 'जन्म-सिद्धि', 'शब्द-सिद्धि', 'शास्त्र-सिद्धि', 'आध्यात्मिक-ज्ञान सिद्धि', 'आधिभौतिक-ज्ञान सिद्धि', 'आधिदैविक-ज्ञान सिद्धि', 'सत्संग-सिद्धि' तथा 'गुरु-सिद्धि'—ये आठ सिद्धियां हैं।

इस प्रकार ५ 'विपर्यय', २८ 'अशक्तियां', ९ 'तुष्टि' तथा ८ 'सिद्धि' मिल कर 'ब्रह्म-चक्र' के ५० अरे कहे गये हैं।

पहिये के २० प्रत्यरे—छोटे अरे—होते हैं। 'ब्रह्म-चक्र' में दस इन्द्रिया और दस उनके विषय—ये बीस प्रत्यरे हैं।

पहिये में ६ अष्टक होते हैं। 'ब्रह्म-चक्र' में 'प्रकृति-अष्टक', 'धातु-अष्टक', 'सिद्धि-अष्टक', 'मद-अष्टक', 'अशुभ-अष्टक', 'धर्म-अष्टक'—ये छः अष्टक हैं। 'प्रकृति-अष्टक' में अहंकार, बुद्धि, मन तथा पच-तन्मात्र आ जाते हैं। 'धातु-अष्टक' में त्वक्, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य आ जाते हैं। 'सिद्धि-अष्टक' में अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व आ जाते हैं। 'मद-अष्टक' मे तन-मद, धन-मद, जन-मद, बल-मद, ज्ञान-मद, बुद्धि-मद, कुल-मद, जाति-मद आ जाते हैं। 'अशुभ-अष्टक' में अशुभ सोचना, सुनना, देखना, बोलना, स्पर्श करना, कर्म करना, कराना, होने देना आ जाते हैं। 'धर्म-अष्टक' में नित्य-धर्म, निमित्त-धर्म, देश-धर्म, काल-धर्म, कुल-धर्म, जातीय-धर्म, आपद्-धर्म और अपवाद-धर्म आ जाते हैं। 'ब्रह्म-चक्र' में ये छः अष्टक हैं—आठ-आठ का छक्का है।

पहिया पाशों से बंधा होता है। 'ब्रह्म-चक्र' भी विश्व के रूप-रूपी पाश से बंधा हुआ है।

पहिया आगे, पीछे या इधर-उधर—इन तीन मार्गों का भेदन करता है। 'ब्रह्म-चक्र' भी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय-रूप तीनों मार्गों का भेदन करता है।

यह 'ब्रह्म-चक्र' शुभ तथा अशुभ इन दो निमित्तो से चल रहा है, परन्तु अस्ल में इस चक्र के निरन्तर चलने का कारण केवल एक है, और वह कारण है—'मोह' ॥४॥

(पिड की नदी के रूप मे कल्पना)

संसार, अर्थात् 'ब्रह्मांड' का 'ब्रह्म-चक्र' के रूप में दर्शन कर अब शरीर, अर्थात् 'पिड' की एक प्रचण्ड नदी से तुलना करते हैं। जैसे नदी का जल कई सोतो से फूटता है, वैसे शरीर-रूपी नदी की पांचों ज्ञानेन्द्रियां पांच सोते हैं, इनमें से ज्ञान-रूपी जल फूट कर निकल रहा है। जैसे नदी के सोतो की योनि, उनका कारण पहाड़ होता है,

---

पञ्चस्रोतोम्बु पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्धयादिमूलाम्।
पञ्चावर्ता पञ्चदु.खौघवेगां पञ्चाशद्भेदा पञ्चपर्वामधीम ॥५॥

उसी के बडे-छोटे होने से नदी उग्र तथा वक्र हो जाती है, वैसे पांचों इन्द्रियो के उत्पत्ति-स्थान पंच महाभूत है जिनके कारण यह नदी उग्र है, वेगवाली है, वक्र है, टेढ़े-मेढ़े मार्गों में बहती है। नदी मे

जीवन का प्रवाह नदी के प्रवाह की तरह वह रहा है

पञ्चस्रोत + अम्बुम्—पाच झरनो से वहनेवाले (ज्ञान-रूपी) जल वाली, पञ्चयोनि + उग्र-वक्राम्—पाच (स्रोतो के) उत्पत्ति-स्थान के कारण उग्र (भीषण) और वक्र (टेढी-मेढी), पञ्च-प्राण + ऊर्मिम्—पाच प्राण-रूपी लहरो वाली, पञ्च-वुद्धि + आदि-मूलाम्—पाच वुद्धिया ही जिसका आदि मूल (उत्पत्ति-स्थान) है, पञ्च + आवर्ताम्—पाच आवर्त्त (भवर, घुम्मरघेरी) वाली, पञ्च-

तरंगें उठा करती है, शरीर-रूपी नदी में पांचों प्राण ही तरंगें है। जैसे नदी अपने मूल से प्रारम्भ होती है, वैसे इस शरीर-रूपी नदी का आदि-मूल पंच-बुद्धि है—किसी की बुद्धि 'रूप' में है, किसी की 'रस' में, किसी की 'स्पर्श' में, किसी की 'शब्द' में, किसी की 'गन्ध' में। इन्हीं विषयों में बद्ध-मूल होने के कारण यह नदी बहती चली जा रही है। जैसे नदी में आवर्त होते है, भंवर होते है, वैसे शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इस नदी के भंवर है, जिनमें जीवात्मा डूबने लगता है। जैसे नदी में कभी-कभी प्रवाह उमड़ आता है, वैसे गर्व, जन्म, जरा, व्याधि, मरण—ये पांच दुःखों के प्रवाह है। जैसे नदी को तैरने के पचासो भेद होते है, रहस्य होते है, वैसे इस शरीर-रूपी नदी को तैरने के भी पचासों भेद है, पचासो तरीके है। जैसे नदी के जोड़ होते है, वैसे शरीर-रूपी नदी के भी अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश—ये पांच जोड़ है ॥५॥

सब जीव उसी महान् 'ब्रह्म-चक्र' में जीते है, उसी में स्थित है, उसी 'ब्रह्म-चक्र' में इस 'हंस' को, जीवात्मा को, कोई घुमा रहा है। अपने को इस चक्र के प्रेरक से पृथक् जान कर जो उसकी प्रीति का पात्र बन जाता है, वह 'अमृतत्व' को प्राप्त हो जाता है। 'चक्र' को चलता देखकर जैसे उस पर बैठा 'हंस' अपने को ही उस 'चक्र' का

दुःख+ओघ-वेगाम्—पाच प्रकार के दुखो के प्रवाह से वेगवती, **पञ्चाशद्-भेदाम्**—पचास भेदवाली, **पञ्चपर्वाम्**—पाच पर्व (जोड-ग्रन्थि) वाली (काया-नदी) को, **अधीमः**—अध्ययन (विचार) करते है ॥५॥

> **सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।**
> **पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥६॥**

सर्व+आजीवे—सव को जीवन देनेवाले (पालक), **सर्वसंस्थे**—सव को (अपने मे) धारण करनेवाले, **बृहन्ते**—वडे, **तस्मिन्**—उसमे, **हंसः**—जीवात्मा, **भ्राम्यते**—चक्कर काट रहा है, **ब्रह्म-चक्रे**—ब्रह्म-निर्मित सृष्टि-चक्र मे, **पृथक्**—इस (चक्र) से अलग, **आत्मानम्**—अपने (आत्मा) को, **प्रेरितारम्**—(इस चक्र के) प्रेरक (ब्रह्म) को, **च**—और, **मत्वा**—मनन कर, जानकर, **जुष्टः**—तृप्त एव शान्त हुआ, **ततः**—उसके वाद, **तेन**—उस (ज्ञान-मनन) से, **अमृतत्वम्**—अमरता को, **एति**—प्राप्त हो जाता है ॥६॥

चलाने वाला समझ बैठता है, वैसे इस 'ब्रह्म-चक्र' को चलता देख कर 'जीवात्मा' अपने को इसका चलाने वाला समझने लगता है। जो अपने को नहीं, परन्तु उसे सब का प्रेरक समझकर उसकी प्रीति में लग जाता है वह अमर हो जाता है ॥६॥

(ईश्वर, जीव, प्रकृति—इन तीन का वर्णन)

हम ने यह जो-कुछ गाया वह परम-ब्रह्म-चक्र का गीत गाया। इस ब्रह्म-चक्र में 'ईश्वर', 'जीव', 'प्रकृति' ये तीन अक्षर, अर्थात् अविनाशी तत्त्व सुप्रतिष्ठित है। ब्रह्मवित् लोग इन तीनो में अन्तर को, भेद को, जान कर, ब्रह्म में लीन होकर, उसी में तत्पर होकर, योनि से, अर्थात् जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं ॥७॥

प्रकृति को अभी 'अक्षर'—'अविनाशी'—कहा, परन्तु वह 'क्षर'—'विनाशी'—भी है। कारण-रूप में वह 'अक्षर' है, कार्य-रूप में, पृथिव्यादि-रूप में वह 'क्षर' है। उसका अक्षर-रूप 'अव्यक्त' है, क्षर-रूप 'व्यक्त' है, दीखता है। विश्व के इन क्षर-अक्षर, व्यक्त-अव्यक्त दोनो रूपों को 'ईश' पालता है। जीवात्मा 'अनीश' है, वह

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥७॥

उद्गीतम्—ऊचा (गम्भीर) गान (वर्णन) किया है, एतत्—यह, परमम्—श्रेष्ठ (इससे भी अधिक), तु—तो, ब्रह्म—ब्रह्म है, तस्मिन्—उस (ब्रह्म-चक्र) मे, त्रयम्—तीनो (ब्रह्म, जीव, प्रकृति), सुप्रतिष्ठ+अक्षरम् च—और (उस ब्रह्म मे) तीनो अक्षर (अनश्वर, अविनाशी) की भली प्रकार स्थिति है (उसमे स्थित हैं), अत्र—यहा, इनमे, अन्तरम्—भेद को, ब्रह्मविदः—ब्रह्मज्ञानी, विदित्वा—जान कर, लीनाः—लीन (मग्न) हुए, ब्रह्मणि—ब्रह्म मे, तत्पराः—उसमे रम कर, योनि-मुक्ताः—(जन्म-मरण रूप) कारण से मुक्त (हो जाते हैं) ॥७॥

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥८॥

संयुक्तम्—मिले हुए, एतत्—इस, क्षरम्—विनाशी कार्य-प्रकृति को, अक्षरम् च—और अविनाशी कारण-प्रकृति को, व्यक्त+अव्यक्तम्—दृश्य और अदृश्य, प्रकट और अप्रकट, भरते—धारण करता है, पालता है, विश्वम्—संसार को, ईशः—समर्थ ईश्वर, अनीशः—असमर्थ, च—और, आत्मा—जीव, बध्यते—जन्म-मरण के बन्धन मे पडता है, भोक्तृभावात्—पुण्य-

संसार के भोग में पड़ जाता है, और भोगों में पड़ जाने के कारण उन्हीं से बंध जाता है। जब जीवात्मा देव के दर्शन कर लेता है तब सब प्रकार के पाशों से, बन्धनों से मुक्त हो जाता है ॥८॥

दो 'अज' (अजन्मा) हैं—'ज्ञ' और 'अ ज्ञ'। 'ज्ञ' ईश है,'अ ज्ञ' अनीश है। इन दो 'अजों' के अतिरिक्त एक तीसरी 'अजा' (अजन्मा) है। दो 'अज' (ईश्वर और जीव) और एक 'अजा' (प्रकृति) है—यह अजा भोक्ता (जीव) के भोग के लिए है। आत्मा अनन्त है, विश्व-रूप है, अकर्ता है। जब तीन को—ईश (ईश्वर), अनीश (जीव), प्रकृति (प्रकृति)—प्राप्त कर लेता है—दो 'अज' और एक 'अजा'—तब 'ब्रह्म' को प्राप्त करता है ॥९॥

'प्रधान', अर्थात् प्रकृति 'क्षर' है, खर जाने वाली है; 'अमृत', अर्थात् ईश्वर 'अक्षर' है, 'हर' है, खरने वाला नहीं है, हरने वाला है। क्षर-रूपा प्रकृति तथा जीवात्मा—इन दोनों पर स्वामित्व उसी एक देव का—ईश्वर का है। उसी देव के ध्यान से, उसके साथ

अपुण्य के फल सुख-दु ख का भोक्ता होने के कारण, **ज्ञात्वा**—जान कर, **देवम्**—देव परमात्मा को, **मुच्यते**—छुट जाता है, **सर्वपाशै**—सब वन्धनो से ॥८॥

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥९॥

ज्ञ+अज्ञौ—ज्ञाता (ब्रह्म) और अज्ञानी (जीव), **द्वौ**—दोनो ही, **अजौ**—अजन्मा है, **ईश+अनीशौ**—समर्थ (ब्रह्म) और असमर्थ (जीव), **अजा**—जन्म से रहित (प्रकृति), **हि**—ही, **एका**—एक है, **भोक्तृ-भोग्य अर्थ-युक्ता**—भोक्ता (जीवात्मा) के भोग्य (भोगने योग्य सुख-दु ख) के प्रयोजन (सिद्धि) मे लगी हुई (तत्पर), **अनन्तः**—अनन्त, **च**—और, **आत्मा**—ब्रह्म, **विश्वरूपः**—ससार का विधाता (ससार मे व्याप्त), **हि**—ही, **अकर्त्ता**—वन्ध-कारण कर्म का न करनेवाला, **त्रयम्**—तीनो को, **यदा**—जव, **विन्दते**—पा लेता है, जान लेता है (तव), **ब्रह्म**—ब्रह्म, **मे**—मुझे, **तत्**—वह (प्राप्त हो जाता है), या **ब्रह्मम्** (आर्ष प्रयोग)—ब्रह्म को, **एतत्**—इस, यह (पा जाता है) ॥९॥

क्षरं प्रधानममृताक्षर हर क्षरात्मानावीशते देव एक. ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥१०॥

क्षरम्—'क्षर' (विनाशी) यह नाम, **प्रधानम्**—प्रकृति (का है);

अपने को जोड़ देने से, अपने को मिटा कर उसी में लीन हो जाने से सदा के लिये यह आत्मा 'विश्व-माया' से निवृत्त हो जाता है, माया के बन्धनों से छूट जाता है ।।१०।।

उस देव को जानकर सब पाश छूट जाते है, पाशों के, अविद्यादि क्लेशो के छूट जाने से जन्म-मृत्यु छूट जाते है । पहले पाश छूटना, फिर देह छूटना---ये दो अवस्थाएं हुई । अभी तक देह के कारण संसार के सुख प्राप्त होते थे परन्तु अब देह छूटने के बाद तृतीय-अवस्था आती है जब देव के ध्यान से ही विश्व के ऐश्वर्य को, सुख आदि को प्राप्त कर लेता है, 'केवल' हो जाता है, अर्थात् अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, 'आप्त-काम' हो जाता है, कोई कामना उसे प्राप्त नहीं---ऐसा नही होता ।।११।।

वह नित्य 'देव' कहीं दूर नहीं, आत्मा में ही स्थित है, उसी को जानना चाहिये । उसे जानने के बाद, उससे परे, जानने योग्य कुछ

अमृत+अक्षरम्---अमर अविनाशी, हरः---हर्ता, सहर्ता, क्षर+आत्मानौ ---प्रकृति और जीवात्मा दोनो को, ईशते---नियमित करता है, देवः---देव (ब्रह्म), एकः---एकाकी, तस्य---उस (देव ब्रह्म) के, अभिध्यानात्---ध्यान-चिन्तन करने से, योजनात्---योग (समाधि---चित्तवृत्ति-निरोध) करने से, तत्त्व-भावात्---उसमे लीन (तन्मय) हो जाने से, भूय.---फिर, तत्पश्चात्, अन्ते---अन्त मे, विश्वमायानिवृत्तिः---ससार की माया (के वन्धनो) से मुक्ति हो जाती है (स्वतन्त्र हो जाता है) ।।१०।।

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ।।११।।

ज्ञात्वा---जान कर, देवम्---ब्रह्म को, सर्वपाश+अपहानिः---सव (कर्म) वन्धनो का नाश, क्षीणै---क्षीण (नष्ट) हो जाने पर, क्लेशैः---(अविद्या आदि पाच) क्लेशो के, जन्म-मृत्यु-प्रहाणिः---जन्म-मरण (आवागमन) के चक्र का नाश (हो जाना है), तस्य---उस (ब्रह्म) के, अभिध्यानात्---ध्यान करने मे, तृतीयम्---तीमरा (लाभ---फल-प्राप्ति) यह है, देहभेदे---शरीर छूटने पर, विश्व+ऐश्वर्यम्---मव ऐश्वर्य की प्राप्ति (होकर), केवलः---(जीवात्मा) केवल (निर्द्वन्द्व---प्रकृति मे परे), आप्तकामः---पूर्ण-मनोरथ, सफल-मनोरथ (कामना से मुक्त) हो जाता है ।।१।।

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।।१२।।

भी नहीं रहता। जीव 'भोक्ता' है, प्रकृति 'भोग्य' है, ईश्वर 'प्रेरक' है--'भोक्ता', 'भोग्य' और 'प्रेरक'--यह त्रिविध ब्रह्म है--यह कह दिया तो 'सर्वं प्रोक्तम्'--सब-कुछ कह दिया। 'ब्रह्म', अर्थात् महानता के ये ही तो तीन रूप हैं ॥१२॥

जैसे अग्नि जब अपने कारण में चली जाती है तब उसकी मूर्ति तो नहीं दीख पड़ती परन्तु उसका नाश नहीं होता, इन्धन के रूप में उसका कोई-न-कोई लिंग बना रहता है जिससे वह फिर-फिर ग्रहण की जा सकती है, इसी प्रकार 'प्रणव', अर्थात् ओंकार के द्वारा 'देह' में जीव तथा ईश्वर दोनों को ग्रहण किया जा सकता है ॥१३॥

अपने 'देह' को नीचे की और 'प्रणव' को ऊपर की अरणि बना कर, 'ध्यान' की रगड़ के अभ्यास से, बार-बार करने से, छिपी हुई आग की भांति जीव तथा ईश्वर की ज्योति को देखे ॥१४॥

एतत्—इस (ब्रह्म) को, **ज्ञेयम्**—जानना चाहिये (यह जानने योग्य है), **नित्यम् एव**—सदा ही, **आत्म-सस्थम्**—आत्मा (जीवात्मा) मे स्थित (व्याप्त), **न**—नही, **अतः परम्**—इसके बाद या इससे बढकर, **वेदितव्यम्**—जानने योग्य (शेष रहता) है, **हि**—ही, **किंचित्**—कुछ भी, **भोक्ता**—जीवात्मा, **भोग्यम्**—(भोग्य) प्रकृति को, **प्रेरितारम्**—प्रेरणा देनेवाले (सविता) ब्रह्म को, **मत्वा**—(दोनों के स्वरूप को) जान कर, **सर्वम्**—सव कुछ, **प्रोक्तम्**—(ऊपर) कहे (निर्दिष्ट), **त्रिविधम्**—तीन प्रकार के फल को पाकर, **ब्रह्म मे तत्**—उस ब्रह्म मे लीन हो जाता है ॥१२॥

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥१३॥

वह्नेः—अग्नि की, **यथा**—जैसे, **योनिगतस्य**—योनि (उत्पत्ति-स्थान काष्ठ) मे उपस्थित, **मूर्तिः**—रूप, आकृति, **न दृश्यते**—नही दिखलाई देती, **न+एव च**—और न ही, **लिङ्गनाशः**—(उसकी उपस्थिति के) चिह्न का नाश (सभव है), **सः**—वह अग्नि, **भूयः एव**—फिर भी, **इन्धन-योनि-गृह्य**—(जलते) इन्धन (काष्ठ रूपी) उत्पत्ति-कारण मे ग्रहण (ज्ञात) की जा सकती है, **तद् वा**—तो वैसे, **उभयम्**—दोनो (जीवात्मा और ब्रह्म), **वै**—ही, भी, **प्रणवेन**—'ओम्' पद (के जप) से, **देहे**—इस शरीर मे (जाने जा सकते है) ॥१३॥

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥१४॥

जैसे तिलो में तेल, दही में घृत, स्रोतो में जल, अरणियों में अग्नि रहती है, और तिलो को पीड़ने से, दही को बिलोने से, स्रोतों को खोदने से, अरणियों को रगड़ने से ये प्रकट होते है, वैसे जीवात्मा में परमात्मा निहित है और वहीं उसका ग्रहण होता है, परन्तु वह दीखता 'सत्य' और 'तप' की रगड़ से है ।।१५।।

दूध के कण-कण में जैसे घृत व्याप्त है, इसी प्रकार सर्वव्यापी आत्मा को जान कर 'आत्म-विद्या' और 'तप' से उसे जान लेना ही 'परम-ब्रह्मोपनिषत्' है, 'परम-ब्रह्मोपनिषत्' है ।।१६।।

स्व-देहम्—अपने शरीर को, **अरणिम्**—'अरणी' नामक ईधन, **कृत्वा**—करके, **प्रणवम् च**—और ओंकार के जप को, **उत्तर+अरणिम्**—ऊपर की अरणी (के समान) करके, **ध्यान-निर्मथन+अभ्यासात्**—ध्यान रूपी रगडने के निरन्तर अभ्यास (पुन पुन आवृत्ति 'जप' से), **देवम्**—(आत्मा मे स्थित) देव (ब्रह्म) को, **पश्येत्**—साक्षात् करे, जाने, **निगूढवत्**—जो छिपा-सा स्थित है ।।१४।।

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिराप· स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ।।१५।।

तिलेषु—तिलो मे, **तैलम्**—तेल, **दधिनि**—दही मे, **इव**—तरह, **सर्पि·**—घी, **आप**—जल, **स्रोतःसु**—(भूमिगत) झरनो मे, **अरणीषु च**—और 'अरणी' नामक काष्ठो मे, **अग्निः**—आग, **एवम्**—इस प्रकार, **आत्मा**—ब्रह्म, **आत्मनि**—जीवात्मा मे, **गृह्यते**—ग्रहण किया जाता—जाना जाता है, **असौ**—यह, **सत्येन**—सत्य (सचाई, निष्ठा, श्रद्धा) से, **एनम्**—इस (ब्रह्म) को, **तपसा**—तप से, **य·**—जो, **अनु पश्यति**—देखता है (जानता है) ।।१५।।

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् । आत्मविद्या-
तपोमूल तद्ब्रह्मोपनिषत्परं तद्ब्रह्मोपनिषत्परमिति ।।१६।।

सर्वव्यापिनम्—सब (चर-अचर) मे व्याप्त, **आत्मानम्**—ब्रह्म को, **क्षीरे**—दूध मे, **सर्पि· इव**—घृत की तरह, **अर्पितम्**—उपस्थित (व्याप्त), **आत्मविद्यातपो-मूलम्**—आत्मज्ञान और तप ही जिसका मूल (आधार) है, **तद्**—उसको, **ब्रह्म+उपनिषत्**—ब्रह्म की उपासना (ज्ञान) ही, **परम्**—श्रेष्ठ है (अन्तिम स्थिति है), **तद् ब्रह्म+उपनिषत् परम्**—वह ही परम ब्रह्मोपनिषद् (ब्रह्म-ज्ञान) है, **इति**—ऐसे (ब्रह्मवादी चर्चा कर निश्चय पर पहुंचे) ।।१६।।

द्वितीय अध्याय

(योग द्वारा ब्रह्म-दर्शन)

पहले-पहल संसार के प्रसव करने वाले सविता ने संसार की बुद्धियो को मनन करने की जो प्रेरणा दी उस मनस्-तत्त्व का परिणाम यह हुआ कि अग्नि की ज्योति का चयन करके पृथिवी का भरण-पोषण-पालन हुआ। संसार की सभ्यता-सस्कृति का विकास विश्व की नियामक-शक्ति की प्रेरणा से अग्नि के आविष्कार से हुआ ॥१॥

जिस प्रकार सविता-देव का यह सृष्टि-रूप प्रसव-यज्ञ है, और उसमें वह सविता युक्त मन से शक्तिपूर्वक लगा हुआ है, इसी प्रकार हम भी स्वर्ग-रूपी यज्ञ की प्राप्ति के लिये मन-पूर्वक अपनी शक्ति से लग जांय ॥२॥

सम्पूर्ण-सृष्टि 'सुवः' की तरफ, सुख की तरफ जा रही है। लक्ष्य सुख ही है। इस सृष्टि मे जो द्यु-लोक है, जो देव है, जो महान्

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥१॥

विशेष—आगे के पाँच मन्त्र यजुर्वेद के ११वे अध्याय के प्रथम पाँच मन्त्र है। 'योग' से सम्बन्ध रखने के कारण उनका ऋषि ने यहा उल्लेख किया है, इसके लिए यजुर्वेद का आर्ष-भाष्य देखे।

युञ्जानः—लगाता हुआ, **प्रथमम्**—पहले, **मनः**—मन को, **तत्त्वाय**—तत्त्व-ज्ञान के लिए, या विस्तार (उन्नति) के लिए, **सविता**—जगद्-रचयिता, सर्व-प्रेरक, **धियः**—बुद्धियो को, **अग्नेः**—अग्नि (ज्ञानस्वरूप ब्रह्म) की, **ज्योतिः**—प्रकाश को, स्वरूप को, **निचाय्य**—चयन कर, **पृथिव्या**—पृथिवी से, पृथिवी का, **अधि+आभरत्**—पालन किया, ग्रहण किया ॥१॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितु सवे। सुवर्गेयाय शक्त्या ॥२॥

युक्तेन—युक्त, निरुद्ध, लगे हुए, **मनसा**—मन से, **वयम्**—हम, **देवस्य**—देव (ज्ञानमय), **सवितुः**—प्रेरक ब्रह्म की, **सवे**—प्रेरणा मे, रचना मे, **सुवर्गेयाय (स्वर्ग्याय)**—स्वर्ग (सुख) प्राप्ति के लिए, **शक्त्या**—अपनी पूर्ण सामर्थ्य से ॥२॥

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥३॥

युक्त्वाय—योग करके, लगाकर, **मनसा**—मन से, **देवान्**—देवो को,

ज्योति करने वाले नक्षत्र हैं—इन सबका 'धीः' और 'मनस्' के सयोग से सविता ही प्रसव करने वाला है ॥३॥

विप्र लोग, ज्ञानी लोग, अपने 'धीः' और 'मनस्' को, उस विप्र, महान् ज्ञानी, सर्वज्ञ भगवान् के 'धीः' और 'मनस्' के साथ जोड़ देते हैं, जिसने इकले ही हमारे कर्मों को जानते हुए 'होता' के रूप में यह सृष्टि-रूपी यज्ञ रचा। सविता-देव की यह कितनी महान् स्तुति है ॥४॥

(इस प्रकरण मे 'धी' और 'मनस्' मे भेद किया गया है। मन के दो रूप हैं—एक सकल्प-विकल्पात्मक जिसे 'मनस्' कहते हैं, दूसरा सकल्प-विकल्प-रहित, निश्चयात्मक, जिसे 'धी' कहते हैं। 'मन' तथा 'धी' अर्थात् 'बुद्धि' पर इसी उपनिषद् के ४र्थ अध्याय पर हमारा नोट देखे।)

पूर्व्य-ब्रह्म को, अर्थात् सृष्टि के प्रसव से पूर्व जो ब्रह्म था, उसे मैं नमस्कार करता हूं, मेरे मार्ग में कीर्ति ऐसे फैले जैसे किसी शूर-

---

सुवः यतः (स्व.+यत.)—स्वर्ग (परम आनन्द मोक्ष) को प्राप्त करनेवाले, धिया—बुद्धि से (ज्ञानपूर्वक), दिवम्—द्यु-लोक (मोक्ष) को, बृहत्—बडे, विशाल, ज्योतिः—प्रकाशस्वरूप ब्रह्म को, करिष्यतः—सिद्ध करते हुए, सविता—सर्व-स्रष्टा, सर्व प्रेरक, प्र सुवाति—प्रेरित करता है, उत्पन्न करता है, तान्—उनको ॥३॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुति. ॥४॥

युञ्जते—युक्त (निरुद्ध) करते है, मनः—मन को, उत—तथा, युञ्जते—युक्त करते (लगाते) है, धियः—वाणी, कर्म और बुद्धियों को, विप्रा—ब्राह्मण (ज्ञानी), विप्रस्य—जगत् को पालनेवाले, बृहतः—महान् से भी महान्, विपश्चित.—ज्ञानी, समझदार, होत्रा—होता (ब्रह्म) ने, वि दधे—रची है, की है, वयुनाविद्—कर्मों को जाननेवाले, एकः—एक (अद्वितीय) ब्रह्म ने, इत्—ही, मही—महती या पृथिवी, देवस्य सवितुः—सविता देव की, परिष्टुति.—पूर्ण स्तुति है (जगद्रचना उसके महत्त्व एव सत्ता को व्यक्त करती है) ॥४॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्य नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥५॥

वीर या विद्वान् के मार्ग में कीर्ति फैल जाती है। तुम जो दिव्य-धामो मे पहुंच चुके हो, हे सम्पूर्ण अमृत-पुत्रो, मेरी प्रार्थना को सुनो ॥५॥

जिस दिव्य-धाम में तुम हो, मेरा मन भी उस दिव्य-धाम में जा पहुंचे। ऐसा दिव्य-धाम जिसमे 'अग्नि' मथी जाती है, प्रचंड हो जाती है, 'वायु' जुड़ जाता है, प्रबल हो जाता है, और जिसमें 'सोम' का अतिरेक हो जाता है, अर्थात् सोम को जब निचोड़ा जाता है तो वह लबालब भर जाता है। सोम-याग में जैसे 'अग्नि', 'वायु' और 'सोम' की आवश्यकता है, वैसे समाधि के दिव्य-धाम-रूपी-याग में मथने पर 'परमात्म-ज्योति' प्रकट होती है, यही मानो 'अग्नि' है, 'प्राणायाम' के रूप में वायु प्रचंड हो जाती है, यही मानो 'वायु' है, और 'प्रसाद-भाव' लबालब भर जाता है, यही मानो 'सोम-रस' है ॥६॥

'सविता' ने सृष्टि का जो महान् प्रसव किया है उसे देखकर सृष्टि के पूर्व वर्तमान ब्रह्म के साथ प्रीति करे क्योकि उसी ब्रह्म ने

युजे—युक्त (निरुद्ध) करता हू, **वाम्**—तुम (दोनो मन और बुद्धि) को, **ब्रह्म**—ब्रह्म को (से), **पूर्व्यम्**—सृष्टि से भी पूर्व विद्यमान, परिपूर्ण, **नमोभिः**—नमन (आत्म-समर्पण) से, नमस्कारो से, **विश्लोकः**—विशिष्ट श्लोक (कीर्ति) वाला, **एतु**—प्राप्त हो (मिल जाये), **पथि**—मार्ग मे, **एव**—ही, **सूरेः**—ज्ञाता के, **शृण्वन्तु**—सुने, **विश्वे**—सारे, **अमृतस्य**—अमर ब्रह्म के, **पुत्राः**—पुत्र रूप जीवो!, **ये**—जो, **धामानि**—लोको को, उच्च स्थिति को, **दिव्यानि**—दिव्य, **आतस्थुः**—आस्थावाले हो, प्राप्त हो ॥५॥

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राभियुज्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र सजायते मन. ॥६॥

अग्निः—ज्ञान स्वरूप ब्रह्म, **यत्र**—जिस धाम (लोक, स्थिति) मे, **अभिमथ्यते**—मथा जाता, जाना जाता, प्रकट किया जाता है, **वायु**—प्राणस्वरूप ब्रह्म (से), **यत्र**—जिस स्थिति मे, **अभियुज्यते**—मेल (योग) किया जाता है, **सोमः**—शान्त रूप, जगत्स्रष्टा, **यत्र**—जहा, **अतिरिच्यते**—बढकर (प्राप्य) होता है, **तत्र**—उसमे, **संजायते**—सगत (युक्त) होता है, **मन.**—(मेरा) मन (भी) ॥६॥

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृण्वते न हि ते पूर्वमक्षिपत् ॥७॥

सविता के रूप में यह प्रसव किया है। अगर तू भी उसी के प्रसव में अपना स्थान बना ले—जैसे वह सृष्टि का प्रसव कर रहा है उस प्रसव के साथ-साथ तू अपना भी प्रसव होने दे, उसी पर अपने को छोड़ दे—तो तू प्रसव से पूर्व नहीं गिरेगा। जो भगवान् के रचे सृष्टि-क्रम के साथ अपने को नही जोड़ता, वह ऐसे ही गिर जाता है जैसे प्रसव से पूर्व बच्चा, उसका मानो गर्भपात हो जाता है ॥७॥

जैसे तैरते समय सिर, गर्दन, छाती उन्नत रखी जाती है, ऐसे ही शरीर के इन तीन भागो को उन्नत रखकर, इन्द्रियो को मन के अधीन और मन को हृदय में निविष्ट करके विद्वान् व्यक्ति 'ब्रह्म'-नाम रूपी नौका पर सवार होकर संसार-रूपी नदी के जितने पाप-रूपी भयावह स्रोत है सबको तर जाय ॥८॥

चेष्टाओ को वश में करके प्राण को भीतर रोके, उसका पीडन करे। जब प्राण भीतर न रुके, वह क्षीण होने लगे, तब नासिका से

सवित्रा—जगद्-रचयिता ब्रह्म से, **प्रसवेन**—सृष्टि-रचना से, **जुषेत**—सेवन करे, शान्त होवे, **ब्रह्म**—ब्रह्म को, **पूर्व्यम्**—जगद्-रचना से पूर्व भी वर्त-मान, **तत्र**—उसमें, **योनिम्**—स्थान, **कृण्वसे**—करता है, **न हि**—नहीं; **ते**—तेरा, **पूर्वम्**—पहले, **अक्षिपत्**—गिरता है ॥७॥

त्रिरुन्नत स्थाप्य समं शरीर हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥८॥

त्रि—तीनो को, तीन बार, **उन्नतम्**—ऊचा, ऊपर को, **स्थाप्य**—रख कर, **समम्**—समान, सीधा, **शरीरम्**—शरीर को, **हृदि**—हृदय मे; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियो को, **मनसा**—मन से (के साथ), **सनिवेश्य**—निविष्ट (स्थित) कर, **ब्रह्म+उडुपेन**—ब्रह्म (ओंकार) रूपी नौका से, **प्रतरेत**—पार कर जाये, **विद्वान्**—ज्ञानी, **स्रोतांसि**—जल-प्रवाहो को, **सर्वाणि**—सारे, **भया-वहानि**—भयजनक ॥८॥

प्राणान्प्रपीड्येह सयुक्तचेष्ट· क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्त· ॥९॥

प्राणान्—प्राणों (श्वास) को, **प्रपीड्य**—बलपूर्वक रोक कर, **इह**—यहाँ (इस स्थिति मे), **संयुक्तचेष्ट·**—चेष्टाओ (शारीरिक गतियो) को रोक कर, **क्षीणे प्राणे**—प्राण (श्वास) के क्षीण होने पर, **नासिकया**—नाक से, **उच्छ्व-सीत**—दीर्घ-सास बाहर कर दे, **दुष्ट+अश्व-युक्तम्**—दुष्ट घोडो से युक्त,

उसे बाहर निकाल दे । दुष्ट घोड़ों वाले रथ में जैसे घोड़ों को वश में किया जाता है, वैसे अप्रमादी होकर प्राणायाम के साधन से मन-रूपी घोड़े को वश में करे ॥९॥
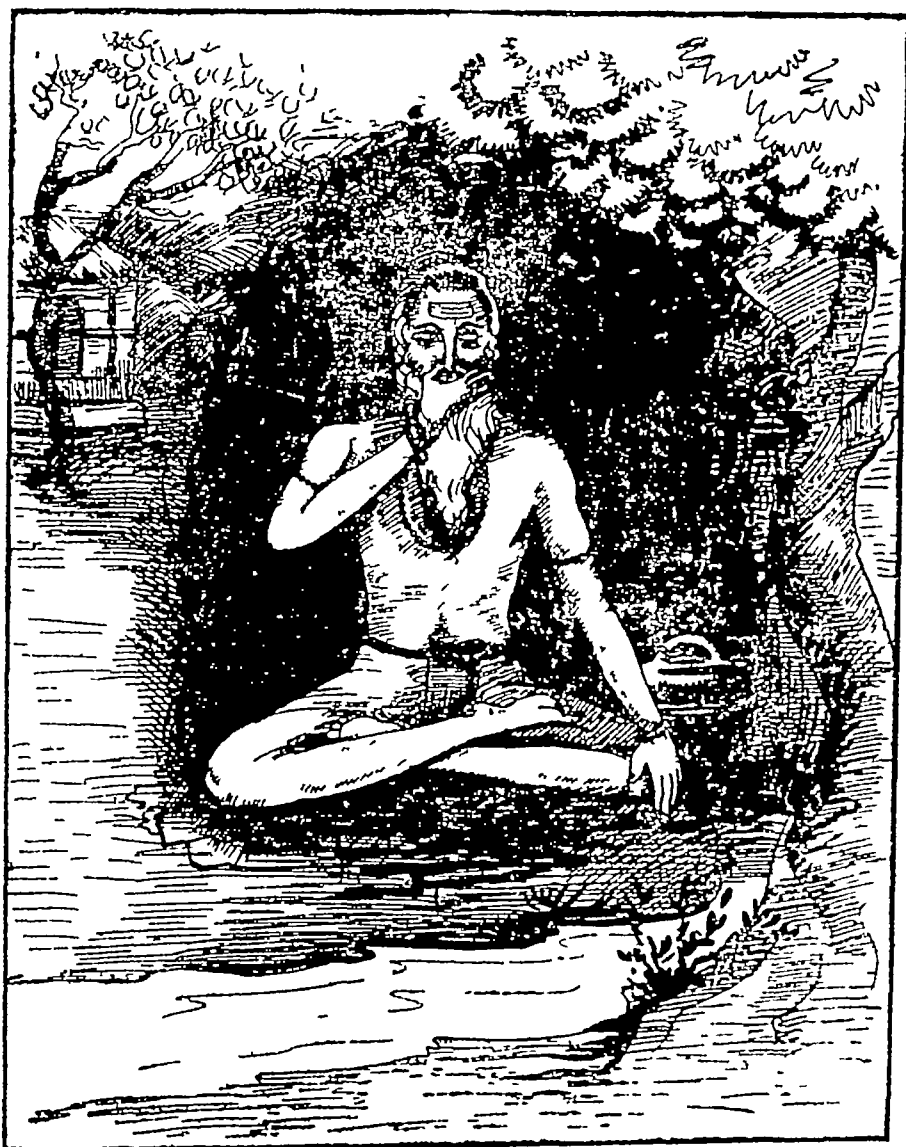
प्राणायाम शान्त तथा स्वच्छ स्थान पर करे

इव—समान, वाहम्—रथ को, (वाहम् इव—रथ के समान), एनम्—इस (चचल इन्द्रिय रूप अनियन्त्रित घोडो से युक्त), विद्वान्—ज्ञानी, मनः—मन को, धारयेत—धारण (स्थिर) करे, नियन्त्रित करे, अप्रमत्त.—प्रमाद न करता हुआ, सावधानता से ॥९॥

मन को वश में करने वाले प्राणायाम का यह प्रयोग ऐसे स्थान में करे जो सम हो, पवित्र हो, अग्नि, कंकड़-रेत से रहित हो, जो जल के कल-कल-रव तथा लतादि के आश्रय के कारण मनोनुकूल हो, जहां आंखो को कष्ट न हो, गुफा हो—जहां वायु के झोंके न चलें ॥१०॥

जब योगी ब्रह्म का ध्यान करता है, तो उसे शुरू-शुरू में भिन्न-भिन्न रूप दिखलाई देते है। कुहरा-सा, धूआं-सा, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, स्फटिक, चन्द्र—इनकी ज्योतियां दिखलाई देती है। योग में ब्रह्म-दर्शन से पहले-पहल ये रूप ब्रह्म को अभिव्यक्त करने के लिये होते है। ब्रह्म का इतना भारी प्रकाश है कि उसे सहने के लिये पहले ये प्रकाश दिखाई देते है ताकि योगी उस प्रकाश को झेल सके ॥११॥

योग का गुण, उसका फल कब प्रवृत्त होता है, कब मिलता है? जब पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश—ये पंचात्मक महाभूत उठ

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभि.।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥

समे—इकसारे, शुचौ—पवित्र, शर्करा-वह्नि-वालुका-विवर्जिते—धूल, आग (गर्मी) और रेत से रहित, शब्द-जलाशय+आदिभिः—(मधुर) शब्द और जलाशय (नदी-तालाब) आदि के द्वारा, मनो+अनुकूले—मन के अनुकूल (मनोहर), न तु—नही तो, चक्षु-पीडने—नेत्र को पीडा देनेवाले, गुहा-निवात+आश्रयणे—गुफा में या आंधी से शून्य स्थान मे, प्रयोजयेत्—(प्राणा-याम-विधि का) प्रयोग (अनुष्ठान) करे ॥१०॥

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुर.सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥

नीहार-धूम+अर्क+अनिल+अनलानाम्—कुहासा, धुआ, सूर्य, वायु और अग्नि के, खद्योत-विद्युत्-स्फटिक-शशीनाम्—जुगनु, बिजली, स्फटिक (बिलौरी पत्थर) मणि और चन्द्रमा के, एतानि—ये, रूपाणि—रूप (आभा), पुर.सराणि—आगे चलनेवाले, पहिले ही दिखाई देने वाले, ब्रह्मणि—ब्रह्म मे (ब्रह्म विषयक), अभिव्यक्तिकराणि—प्रगटता करनेवाले (आभास देनेवाले) होते है, योगे—चित्त-वृत्तियों के निरोध हो जाने की अवस्था मे ॥११॥

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥

खड़े होते है, जब योगी इन्हें सिद्ध कर लेता है। पांच भूतो को वश करने के अनन्तर योगी का शरीर योग की अग्नि से देदीप्यमान हो जाता है, उसे रोग नही सताता, उसे जरा और मृत्यु नही सताती, वह रोग-हीन, जरा-हीन, मृत्यु-हीन हो जाता है ॥१२॥

योग में प्रवृत्ति का पहला फल यह होता है कि योगी का शरीर हलका हो जाता है, नीरोग हो जाता है, विषयों की लालसा मिट जाती है, कान्ति बढ़ जाती है, स्वर मधुर हो जाता है, शरीर से सुगन्ध निकलता है, मल-मूत्र अल्प हो जाता है ॥१३॥

जैसे मिट्टी से लत-पत स्वर्ण-पिंड खूब धोने पर तेजोमय होकर चमकने लगता है, इसी प्रकार देह को कीच समझ जाने वाला जब उसके भीतर प्रकाशमान आत्म-तत्त्व को देख लेता है, तब संसार की 'अनेकता' मे से अपने को खींचकर, 'एक' हो जाता है, कृतार्थ और वीत-शोक हो जाता है ॥१४॥

पृथ्वी+अप्+तेजः+अनिल-खे—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश (के), **समुत्थिते**—भली प्रकार उभरने पर (सिद्ध हो जाने पर), **पञ्चात्मके**—पच-सख्यक, **योग-गुणे**—चित्तवृत्ति-निरोध के गुण (फल-लाभ) के, **प्रवृत्ते**—आरम्भ होने पर, **न**—नही, **तस्य**—उस (योगी) का (को), **रोगः**—रोग होता है, **न जरा**—न बुढापा, **न मृत्युः**—और ना ही मृत्यु (होते है), **प्राप्तस्य**—प्राप्त हुए, **योग+अग्निमयम्**—योगरूप अग्नि से युक्त, **शरीरम्**—शरीर को ॥१२॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥१३॥

लघुत्वम्—(शरीर का) हलकापन, **आरोग्यम्**—नीरोगता, **अलोलुपत्वम्**—लालसा का अभाव, **वर्णप्रसादम्**—शरीर के रग का निखरना, **स्वर-सौष्ठवम् च**—और स्वर मे सुधार (मधुरता), **गन्धः**—गन्ध, **शुभः**—अच्छी, **मूत्रपुरीषम्**—मल-मूत्र, **अल्पम्**—थोडा होना (ये सब), **योग-प्रवृत्तिम्**—योग के प्रारम्भ को, **प्रथमाम्**—पहिले, पूर्ववर्त्ती, **वदन्ति**—कहते है ॥१३॥

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधौतम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोक ॥१४॥

यथा एव—जैसे ही, **बिम्बम्**—स्वर्ण-पिण्ड, **मृदया**—मिट्टी से, **उपलिप्तम्**—लिपा हुआ, सना हुआ, **तेजोमयम्**—कान्ति युक्त, **भ्राजते**—चमकता

जैसे दीप से दूसरे पदार्थ देखे जाते हैं, ऐसे जब योगी आत्म-तत्त्व के प्रकाश से ब्रह्म-तत्त्व को सावधान होकर देख लेता है, तब सब तत्त्वों से अधिक शुद्ध, अज, ध्रुव, देव को जान कर सब बन्धनों से छूट जाता है ॥१५॥

वही देव सब दिशाओं-प्रदिशाओं में अनुव्याप्त है, वही सृष्टि के पूर्व प्रकट हुआ था, वही प्रत्येक पदार्थ के भीतर वर्तमान है। जो कुछ उत्पन्न हुआ, वह वही था, जो उत्पन्न होगा, वह भी वही होगा। जिधर देखो उधर उसी का मुख दिखलाई देता है—सब तरफ मानो अपने मुख को लेकर वह हमारे सामने आ खड़ा होता है—'जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है' ॥१६॥

है, तत्—वह (पिण्ड), **सुधौतम्**—भली प्रकार परिमार्जित (धोया हुआ), तद् उ—वैसे ही, **आत्मतत्त्वम्**—आत्मा के स्वरूप को, **प्रसमीक्ष्य**—देख कर, **देही**—देहधारी जीवात्मा, **एक**—एक, केवलीभूत, **कृतार्थः**—कृतकृत्य, सफलमनोरथ, **भवते**—हो जाता है, **वीतशोकः**—शोक (दुःख-चिन्ता) से रहित ॥१४॥

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१५॥

यदा—जब, **आत्मतत्त्वेन**—आत्म-भाव से, अपने आत्मा द्वारा, **तु**—तो, **ब्रह्मतत्त्वम्**—ब्रह्म के स्वरूप को, **दीपोपमेन**—दीपक (प्रकाशक) के समान, **इह**—यहाँ (इस जीवन में), **युक्तः**—योग-भावना में लीन, मनोजयी, **प्रपश्येत्**—साक्षात् करता है, **अजम्**—अजन्मा, **ध्रुवम्**—नित्य, **सर्वतत्त्वैः**—सब तत्त्वों (पदार्थों—स्वरूपों) से, **विशुद्धम्**—अधिक शुद्ध, अलिप्त, **ज्ञात्वा**—जान कर, **देवम्**—देव (ब्रह्म) को, **मुच्यते**—छूट जाता है, **सर्वपाशैः**—सब बन्धनों से ॥१५॥

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥१६॥

एषः ह—यह ही, **देवः**—देव (ब्रह्म), **प्रदिशः**—दिग्-दिगन्तरों में, **अनु**—अनुगत (व्याप्त) है, **सर्वाः**—सारी, **पूर्वः**—जगद्-रचना से पहले, **ह**—ही, **जातः**—विद्यमान (प्रकट) था, **स उ**—वह ही, **गर्भे**—(जगत् के) मध्य में, **अन्तः**—अन्दर है, **सः एव**—वह ही, **जातः**—उत्पन्न हुआ (प्रकट—प्रसिद्ध हुआ), **सः**—वह, **जनिष्यमाणः**—(भविष्य में भी) उत्पन्न (प्रकट—प्रसिद्ध) होगा, **प्रत्यङ् जनान्** (जनान् प्रत्यङ्)—प्रति व्यक्ति के अन्तरतम में,

जो भगवान् अग्नि में है, जलों में है, सम्पूर्ण भुवन में सब जगह पहुंचा हुआ है, जो ओषधियों में है, वनस्पतियों में है--उस देव को नमस्कार हो, नमस्कार हो ॥१७॥

तृतीय अध्याय
(भगवान् की स्तुति)

संसार के माया-जाल को बिछाने वाला--वही एक है, अपनी शक्तियो से वही इस माया-जाल का स्वामी है, अपनी शक्तियो से सब लोकों का भी वही स्वामी है। संसार के उद्भव और संभव में, उत्पत्ति और स्थिति में वही एक कार्य कर रहा है। जो यह जान जाते है, वे अमृत हो जाते है ॥१॥

रुद्र-रूप भगवान् एक ही है। 'दूसरा भी है'--यह कहने वाले टिक नहीं सकते। वही अपनी शक्तियो से इन लोकों का स्वामी

तिष्ठति—स्थित है, **सर्वतोमुख**—नाना मुखोवाला, सर्वसाक्षी ॥१६॥

(यजु०, ३२-४)

यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नम· ॥१७॥

यः—जो, **देवः**—ब्रह्म, **अग्नौ**—अग्नि मे, **यः**—जो, **अप्सु**—जलो मे, **यः**—जो, **विश्वम्**—सारे, **भुवनम्**—उत्पन्न लोकों मे, **आ विवेश**—रमा हुआ है, **यः ओषधीषु**—जों ओषधियो मे, **यः वनस्पतिषु**—जो वनस्पतिमात्र मे (रम रहा है), **तस्मै देवाय**—उस ब्रह्म-देव को, **नम. नम.**—वार-वार नमस्कार है ॥१७॥

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभि·।
य एवैक उद्भवे सभवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१॥

य. एकः—जो इकला, **जालवान्**—माया-रूप जालवाला, माया-पति, **ईशते**—शासन (नियमन) कर रहा है, स्वामी है, **ईशनीभिः**—शासिका शक्तियो (सामर्थ्य) से, **सर्वान् लोकान्**—सारे लोको को, **ईशते**—नियम मे चला रहा है, **ईशनीभि**—अपने सामर्थ्य से, **य. एव**—जो ही, **एकः**—एकाकी, अद्वितीय, **उद्भवे**—सव लोको की उत्पत्ति मे, **सभवे च**—और सम्भव (वने रहना, स्थिति, पालन) मे (समर्थ है), **ये**—जो, **एतद्**—इस (ब्रह्म) को, **विदुः**—जान लेते हैं, **अमृता**—अमर, मुक्त, **ते**—वे, **भवन्ति**—हो जाते हैं ॥१॥

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाल्लोकानीशत ईशनीभि।
प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सचुकोचान्तकाले ससृज्य विश्वा भुवनानि गोपा ॥२॥

है। सृष्टि का सर्जन करने के बाद वही इसकी रक्षा करता है, और अन्तकाल में वही इसे समेट लेता है। इस सृष्टि के रूप में वह हर-एक व्यक्ति के सामने मानो प्रत्यक्ष खड़ा है ॥२॥

उसके नेत्र सब जगह है, वह सब-कुछ देख रहा है; उसका मुख सब जगह है, परमाणु-परमाणु में उसके दर्शन होते है; उसकी भुजाएं सब जगह है, जहां चाहो उसकी अंगुली पकड़ सकते हो; उसके पांव सब जगह है, कौन-सी जगह है जहां वह नहीं पहुंचा हुआ ? जैसे कोई लोहार किसी वस्तु की रचना करता हुआ हाथों से धौकनी को धौंकता है, वैसे वह एक देव, द्यु और पृथिवी की मानो धौकनी धौक रहा है ॥३॥ (गीता मे प्रतिपादित विराट्-पुरुप-दर्शन ऐसा ही है।)

जो देवों का प्रभव तथा उद्भव करने वाला है, जो विश्व का स्वामी है, रुद्र-रूप है, महर्षि है, जिसने सृष्टि-रचना से पूर्व

एक—एक, हि—ही, रुद्रः—(कर्म-फलदाता) रुद्र (ब्रह्म), न—नही, द्वितीयाय—दूसरे (रुद्र) के लिए, तस्थुः—खडे हुए, टिके, (ज्ञानियो ने) आस्था रक्खी, यः—जो, इमान् लोकान् ईशते ईशनीभिः—अपनी शक्तियो से इन लोको का स्वामी है, प्रत्यङ् जनान् तिष्ठति—प्रत्येक व्यक्ति के अन्तरतम मे स्थित है, संचुकोच—सकोच (सहार-प्रलय) करता है, अन्तकाले—अन्त समय मे, संसृज्य—रच कर, विश्वा—सारे, भुवनानि—भुवनो (उत्पन्न जगत्) को, गोपा:—रक्षा करनेवाला (रुद्र) ब्रह्म ॥२॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति स पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥३॥

विश्वतः+चक्षुः—चारो ओर नेत्रवाला (सर्व-साक्षी), उत—तथा, विश्वत:-मुख:—चारो ओर मुखवाला (वेद-उपदेष्टा), विश्वतः-बाहुः—सब ओर भुजाओ वाला (सर्व-रक्षक), उत—तथा, विश्वतः-पात्—सब ओर पांववाला (जानेवाला—अन्तर्यामी), सम्—भली प्रकार, बाहुभ्या—(रक्षक) भुजाओ से, धमति—गति-शील है, धौक रहा है (पाल रहा है), सम् (धमति)—सगन करता है, पतत्रै:—पखो से, पावो से, द्यावाभूमी—द्यु-लोक और पृथिवी लोक को, जनयन्—पैदा करता हुआ, देव:—देव (रुद्र-ब्रह्म), एकः—अद्वितीय (सहाय-निरपेक्ष, केवली) ॥३॥ (यजु०, अध्याय १७, मन्त्र १९)

यो देवाना प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥४॥

'हिरण्यगर्भ' (Nebula) की रचना की, वह हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे ॥४॥

पर्वतों पर जो गम्भीर शान्ति विराज रही है उसका संचार करने वाले रुद्र ! तेरा जो शिव, अघोर तथा पाप-रहित रूप है, उस शान्तिमय रूप से हमारी तरफ आंख उठाकर देख, हमें भी उसी प्रकार की शान्ति का वर-दान प्रदान कर ॥५॥

हे रुद्र, तुम 'गिरिशन्त' हो, पर्वतों में स्तब्धता, शान्ति उत्पन्न करने वाले हो। जिस बाण को फेंकने के लिये तुम हाथ में लिये हुए हो उससे हे रुद्र, जैसे तुम वन-पर्वतों की रक्षा करते हो, गिरित्र हो, वैसे इस पुरुष की, और इस जगत् की भी रक्षा करो, इनका भी कल्याण करो ॥६॥

यः—जो, **देवानाम्**—देवो (विद्वान्, इन्द्रिय, दिव्य लोक आदि) का, **प्रभवः च**—रचयिता, **उद्भवः च**—उन्नति-कर्त्ता (पालक) है, **विश्व+अधिपः**—जगत् का स्वामी (रक्षक), **रुद्रः**—रुद्र, **महर्षिः**—महान् क्रान्तदर्शी (भविष्य-द्रष्टा), **हिरण्यगर्भम्**—हिरण्यगर्भ (सृष्टि के प्रथम प्रकृति-विकार) को, **जनयामास**—उत्पन्न किया, **पूर्वम्**—सब से पहिले, **सः**—वह (रुद्र), **नः**—हमे, **बुद्ध्या**—बुद्धि से, **शुभया**—शुभ (कल्याणकारिणी), **सयुनक्तु**—युक्त करे ॥४॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तनुवा शतमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥५॥

या—जो, **ते**—तेरा, **रुद्र**—हे रुद्र !, **शिवा**—कल्याणमय, वरेण्य, **तनूः**—शरीर (रूप-भर्ग) है, **अघोरा**—सौम्य, प्रसन्न, **अपापकाशिनी**—पापो से रहित, धर्म-प्रकाशक, **तया**—उस, **नः**—हमको, **तनुवा** (तन्वा)—स्वरूप से, **शतमया**—अत्यन्त शान्तिप्रद, **गिरिशन्त**—हे (दुर्गम) पर्वतो (स्थानों, अवस्थाओ) पर भी शान्ति का विस्तार करनेवाले, **अभिचाकशीहि**—(कृपा दृष्टि से) देख ॥५॥ (यजु०, १६—२)

यामिषुं गिरिशंत हस्ते विभर्ष्यस्तवे ॥
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिँसीः पुरुषं जगत् ॥६॥

याम्—जिस, **इषुम्**—(कर्म-विपाक रूप) वाण को, **गिरिशन्त**—हे पर्वतो पर शान्ति का विस्तार करनेवाले !, **हस्ते**—हाथ मे, **विभर्षि**—धारण कर रहे हो, **अस्तवे**—फेकने के लिए, **शिवाम्**—कल्याणकारी, **गिरित्र**—

'रुद्र'-रूप भगवान् के दर्शन करने के बाद 'ब्रह्म' के दर्शन होते हैं, वह अत्यन्त महान् है, हर स्थान में, हर भूत में वह छिपा हुआ है, अकेला सम्पूर्ण विश्व को घेरे हुए है, लपेटे हुए है, इसका स्वामी है, उसे जान कर योगी लोग अमृत हो जाते हैं ॥७॥

मैं उस महान् पुरुष को जानता हूं जो आदित्य की भांति चमक रहा है, अन्धकार से अत्यन्त दूर है। उसी को जान कर मृत्यु को लांघा जा सकता है, इस संसार से सदा के लिये प्रयाण करने के लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है ॥८॥

जिससे न कुछ परे है, न वरे है, जिससे न कुछ सूक्ष्मतर है, न महत्तर है, जैसे वृक्ष पृथिवी में जमा हुआ आकाश में सिर उठाये

पर्वतों के रक्षक, ताम्—उस (वाण) को, कुरु—(हितकर) करो, मा—मत, हिंसी—घात (अहित) करो, पुरुषम्—आत्मा को, जगत्—सृष्टि को ॥६॥ (यजु०, १६–३)

ततः परं ब्रह्म परं वृहन्त यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥७॥

ततः परम्—उसके पश्चात्, ब्रह्म—ब्रह्म को, परम्—परम (श्रेष्ठ), वृहन्तम्—वडे, महान्, यथानिकायम्—प्रति स्थान (शरीर) मे, सर्वभूतेषु—सब (चर-अचर) भूतों मे, गूढम्—छिपे हुए, अन्तर्लीन, विश्वस्य—जगत् के, एकम्—अद्वितीय, परिवेष्टितारम्—आवृत (आवासित) करनेवाले, ईशम्—समर्थ प्रभु को, तम्—उस, ज्ञात्वा—जान कर, अमृताः भवन्ति—अमर (मुक्त) हो जाते हैं ॥७॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥८॥

वेद—जानता हू, अहम्—मैं, एतम्—इस, पुरुषम्—पर-ब्रह्म को, महान्तम्—महान्, आदित्यवर्णम्—आदित्यवत् दीप्यमान, तमसः—तमोगुण या अन्धकार से, परस्तात्—परे है, रहित है, तम् एव—उसको ही, विदित्वा—जान कर, अति मृत्युम् एति (मृत्युम् अति एति)—मरण को लाघ जाता है, मृत्यु-मुख से छूटता है, न—नही, अन्यः—दूसरा (इससे भिन्न), पन्थाः—मार्ग (साधन), विद्यते—है, अयनाय—छुटकारे के लिए (पार जाने के लिए) ॥८॥ (यजु०, ३१–१८)

यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥९॥

खड़ा होता है, इसी प्रकार जो इकला जम कर सम्पूर्ण द्यु-लोक में खड़ा है, उस पुरुष ने इन सब को पूर्ण किया हुआ है—इस सब में वह मानो भरा पड़ा है ॥९॥

उस पुरुष से भी जो परे है, वह रूप-रहित है, दुःख-रहित है। उस ब्रह्म को जो जान जाते हैं, वे अमृत हो जाते हैं, और दूसरे लोग लौट-लौट कर दुःख को पाते हैं ॥१०॥

सब जगह उसका मुख है, सिर है, ग्रीवा है, सब प्राणियों की हृदय-रूपी गुफा में वह विराजमान है। वह भगवान् सर्वव्यापी है, इसलिये वह सब जगह पहुंचा हुआ है, शिव है ॥११॥

वह महान् पुरुष संसार का प्रभु है, सम्पूर्ण अस्तित्व का वह प्रवर्तक है। उसका ध्यान करने से जिस निर्मल आनन्द की प्राप्ति

यस्मात्—जिससे, **परम्**—परे, आगे, **न**—नही, **अपरम्**—वरे, नीचे-पीछे, **अस्ति**—है, **किंचिद्**—कुछ भी, **यस्मात्**—जिससे, **न**—नही, **अणीयः**—छोटा (सूक्ष्म), **न**—नही, **ज्यायः**—महान्, **अस्ति**—है, **कश्चित्**—कोई भी, **वृक्षः इव**—वृक्ष की तरह, **स्तब्धः**—जकडा, स्थिर, **दिवि**—द्यु-लोक मे, **तिष्ठति**—स्थित है, **तेन**—उस, **इदम्**—यह (जगत्), **पूर्णम्**—भरा हुआ (व्याप्त), **पुरुषेण**—प्रकृति के अधिष्ठाता परमात्मा द्वारा, **सर्वम्**—सब ॥९॥

ततो यदुत्तरतर तदरूपमनामयम् ।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति ॥१०॥

ततः—उस (जगत्) से, **यद्**—जो, **उत्तरतरम्**—अधिक उत्कृष्ट या परे है, **तद्**—वह, **अरूपम्**—रूप-रहित, **अनामयम्**—(जरा-मरण) व्याधि से मुक्त, **ये**—जो, **एतद्**—इस (ब्रह्म) को, **विदु**—जान लेते है, **अमृताः**—अमर (मुक्त), **ते**—वे (ज्ञानी), **भवन्ति**—हो जाते हैं, **अथ**—और, **इतरे**—दूसरे (अज्ञानी), **दुःखम् एव**—दुःख को ही, **अपि यन्ति**—प्राप्त करते है ॥१०॥

सर्वाननशिरोग्रीव. सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवास्तस्मात्सर्वगत. शिव ॥११॥

सर्व+आनन-शिरः+ग्रीवः—सर्वत्र मुख, सिर और ग्रीवा (गर्दन) वाला, **सर्वभूतगुहाशयः**—सब प्राणियो की हृदय-गुहा मे सोनेवाला (विद्यमान), **सर्वव्यापी**—सर्व-व्यापक, **सः**—वह, **भगवान्**—ऐश्वर्यशाली, **तस्मात्**—अतएव, **सर्वगत**—सब को प्राप्त, सर्वत्र पहुचा, **शिवः**—कल्याणकारी प्रभु ॥११॥

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः ।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्यय. ॥१२॥

होती है उसका वही स्वामी है। वह कभी न क्षीण होने वाली ज्योति है ॥१२॥

वह पुरुष, अंगुष्ठ-मात्र, आत्मा के भीतर, सदा मनुष्यों के हृदय में सन्निविष्ट है। हृदय से, बुद्धि से और मन से उसे पाया जाता है। जो यह जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं (पहुंचा पकड कर ही तो किसी को पकडा जाता है। अगुष्ठ-मात्र वह हृदय मे है, तो ध्यान से उसके अगूठे को पकड कर उसे पकड़ा जा सकता है।)॥१३॥

वह पुरुष सहस्र सिरो वाला, सहस्र आंखो वाला, सहस्र पांवों वाला है। वह हाथ से ब्रह्मांड को सब तरफ से छुये हुए है, फिर भी उसकी दसो उंगलियां दूर खड़ी है। घेरने से तो दसों उंगलियां भर जानी चाहियें, परन्तु यह ब्रह्मांड उसके लिए इतना तुच्छ है कि इसे घेर कर भी उसके दोनो हाथों की दसों उंगलियां मानो खाली रह जाती हैं ॥१४॥

महान्—महान्, **प्रभुः**—समर्थ, स्वामी, **वै**—निश्चय ही, **पुरुषः**—परमात्मा, **सत्त्वस्य**—सद्-भाव, सत्ता, महत्तत्त्व, बुद्धि का, **एषः**—यह, **प्रवर्तकः**—प्रेरयिता है, **सुनिर्मलाम्**—अति निर्मल, विशुद्ध, **इमाम्**—इस (मोक्ष-आनन्दरूप), **प्राप्तिम्**—प्राप्य-लक्ष्य का, **ईशानः**—स्वामी, **ज्योतिः**—प्रकाश-स्वरूप, **अव्ययः**—अविनाशी ॥१२॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१३॥

अंगुष्ठमात्रः—अगूठे के बराबर परिमाणवाला, **पुरुषः**—पर-ब्रह्म, **अन्तरात्मा**—जीवात्मा के अन्दर विद्यमान, **सदा**—सर्वदा, **जनानाम्**—उत्पन्न शरीरधारी) जीवों के, **हृदये**—हृदय मे, **संनिविष्टः**—प्रविष्ट, उपस्थित, विद्यमान है, **हृदा**—हृदय (भक्ति) मे, **मनीषा**—बुद्धि से, **मनसा**—मन (मनन-चिन्तन) मे, **अभिक्लृप्तः**—साध्य, प्राप्य, ज्ञेय, **ये एतद् विदुः**—जो इसको जान लेते है, **अमृताः ते भवन्ति**—वे अमर (मुक्त) हो जाते है ॥१३॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१४॥

सहस्रशीर्षा—हजारो सिरवाला, **पुरुषः**—(प्रकृति का अधिष्ठाता) परमात्मा, **सहस्राक्षः**—हजारो आंखवाला, **सहस्रपात्**—हजारो पांववाला, **सः**—वह, **भूमिम्**—पृथिवी को, **विश्वतः**—चारो ओर से, **वृत्वा**—घेर कर,

जो हुआ है, जो होगा, सब पुरुष में ही है। वह अमृत का स्वामी है, और जो अमृत नहीं है, अन्न से बढ़ता है, उसका भी वही स्वामी है ॥१५॥

सब ओर उसके हाथ-पैर हैं; सब ओर आंख, सिर, मुख हैं; सब ओर कान हैं; संसार में सबको घेर कर वह खड़ा है—फिर कहो कौन उससे बचकर किधर से निकल जायगा, कौन कैसे उससे छिप जायगा ? ॥१६॥

सब इन्द्रियों के गुण उसमें भास रहे हैं, परन्तु सभी इन्द्रियों से वह रहित है। सबका वह प्रभु है, स्वामी है, इसीलिये सभी के लिये वह महान् शरण है, आश्रय-स्थान है, सहारा है ॥१७॥

अत्यतिष्ठत्—दूर (परे) खडा है, **दश + अङ्गुलम्**—दस अगुल भर ॥१४॥
(यजु०, ३१–१)

पुरुष एवेदँ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति ॥१५॥

पुरुषे—परमात्मा मे, **एव**—ही, **इदम्**—यह, **सर्वम्**—सब कुछ, **यद्**—जो, **भूतम्**—उत्पन्न हुआ है, **यत् च**—और जो, **भव्यम्**—उत्पन्न होनेवाला है, **उत**—तथा, **अमृतत्वस्य**—अमर-पद (मोक्ष) का, **ईशानः**—स्वामी, प्रभु, **यद्**—जो, **अन्नेन**—अन्न से,, **अतिरोहति**—उत्पन्न होकर बढता है ॥१५॥ (यजु०, ३१–२)

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१६॥

सर्वतः पाणिपादम्—सब ओर हाथ-पाँववाला, **तद्**—वह (ब्रह्म), **सर्वतः + अक्षि-शिरः + मुखम्**—सब ओर आख, सिर और मुखवाला, **सर्वतः**—सब ओर, **श्रुतिमत्**—कानोवाला (श्रोता), **लोके**—ससार मे, **सर्वम्**—सब को, **आवृत्य**—घेर कर, **तिष्ठति**—ठहरता–रहता है ॥१६॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥१७॥

सर्व + इन्द्रिय-गुण + आभासम्—सब (पाचो) इन्द्रियो के गुणो (विषयो) का आभास (ज्ञान) करनेवाला, **सर्व + इन्द्रियविवर्जितम्**—सब इन्द्रिय (गोल्को) से रहित, **सर्वस्य**—सब के, **प्रभुम्**—स्वामी, **ईशानम्**—नियन्ता, **सर्वस्य**—सब का, **शरणम्**—आश्रय-स्थान, **बृहत्**—महान् (वह ब्रह्म) है ॥१७॥

देह के नौ द्वार हैं—सात ऊपर, दो नीचे। 'देही', अर्थात् जिसने देह को ही अपना सब-कुछ बना रखा है, वह तो इस नौ द्वारों वाली नगरी में रमा रहता है। जो 'परमहंस' है, हंस की तरह देह के बन्धनों से छूटकर उड़ना चाहता है, वह इस बन्धन से बाहर प्रकाशमान होता है, इस शरीर-रूपी बन्धन से ऊपर उठ जाता है। आत्मा के इन दोनों रूपों के अतिरिक्त परमात्मा का एक रूप है, जो 'वशी'-रूप है, वह स्थावर तथा जंगम लोकों का वश करने वाला रूप है ॥१८॥

वह बिना पांवों के शीघ्र गति करता है, बिना हाथों के झट से पकड़ लेता है, बिना आंखों के देखता, बिना कानों के सुनता है। जानने योग्य जो-कुछ भी है, उसे तो वह जानता है, परन्तु उसे जानने वाला कोई नहीं, उसी को आदिम-महान्-पुरुष कहते हैं ॥१९॥

वह अणु-से-अणु है, महान्-से-महान् है; वह आत्मा जीव-मात्र की हृदय-रूपी गुफा में छिपा हुआ है। वह कर्म नहीं करता, 'अक्रतु'

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥१८॥

नव-द्वारे—नौ दरवाजेवाले, पुरे—(शरीर रूप) नगर में, देही—देहधारी, हंसः—जीवात्मा, लेलायते—प्रकाशित होता है, प्रदीप्त होता है, बहिः—बाहर, वशी—वश में रखनेवाला, सर्वस्य—सारे, लोकस्य—लोक का, स्थावरस्य—स्थिर (अचर-अप्राणी) का, चरस्य च—और जंगम (प्राणी) का ॥१८॥

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥१९॥

अपाणिपादः—हाथ-पाँव से रहित (भी), जवनः—गतिशील, ग्रहीता—ग्रहण करने (पकड़ने) वाला, पश्यति—देखता है, अचक्षुः—नेत्रों से रहित, स—वह, शृणोति—सुनता है, अकर्णः—बिना कान के, सः—वह, वेत्ति—जानता है, वेद्यम्—ज्ञेय (जानने योग्य) को, न च तस्य अस्ति—और कोई नहीं है उसका; वेत्ता—जाननेवाला, तम्—उसको, आहुः—कहते (बताते) हैं, अग्र्यम्—आगे (प्रथम) विद्यमान, आदिम, पुरुषम्—प्रकृति का अधिष्ठाता परमात्मा, महान्तम्—महान् ॥१९॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहाया निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥२०॥

है । उस परमेश्वर की महिमा को वीत-शोक भक्त-गण उस विधाता के प्रसाद से ही, उसकी कृपा से ही, प्राप्त करते है ।।२०।।

मै इसे जानता हूं, यह अजर है, पुरातन है, सम्पूर्ण रूप मे आत्मा-ही-आत्मा है, सब जगह पहुंचा हुआ है, विभु है । ब्रह्मवादी लोग सदा उसका बखान किया करते है, उसका कभी जन्म नहीं होता, वह नित्य है—ऐसा उसका वर्णन किया जाता है ।।२१।।

चतुर्थ अध्याय

(दो अज, दो पक्षी, दो पुरुष के रूप मे
भोक्ता-भोग्य का वर्णन)

जो भगवान् स्वयं 'एक' है, 'अवर्ण' है, 'निराकार' है, किन्तु अपनी शक्ति के द्वारा जिसने 'अनेक', 'वर्ण' वाले, 'साकार' संसार

अणोः—अणु (सूक्ष्म) से, **अणीयान्**—सूक्ष्म, **महतः**—वडे से, **महीयान्**—वडा, महान्, **आत्मा**—परमात्मा, **गुहायाम्**—हृदय मे, **निहितः**—स्थापित, विद्यमान है, **अस्य**—इस, **जन्तोः**—जन्मधारी जीवात्मा के, **तम्**—उसको, **अक्रतुम्**—अकर्त्ता, **पश्यति**—साक्षात् करता है, **वीतशोकः**—दु ख से मुक्त, **धातुः**—धारण करनेवाले परमात्मा की, **प्रसादात्**—कृपा से, **महिमानम्**—महान्, महिमा को, **ईशम्**—नियामक ईश्वर को ।।२०।।

वेदाहमेतमजरं पुराण सर्वात्मान सर्वगतं विभुत्वात् ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ।।२१।।

वेद—जानता हू, **अहम्**—मै, **एतम्**—इसको, **अजरम्**—जरा (वुढापे) से रहित, **पुराणम्**—सनातन, **सर्व+आत्मानम्**—सव के आत्मा मे विद्यमान, सर्वात्मा, **सर्वगतम्**—सव मे व्याप्त, **विभुत्वात्**—विभु होने के कारण, **जन्मनिरोधम्**—जन्म-मरण-चक्र से छुटकारे को, **प्रवदन्ति**—वताते हैं, **यस्य**—जिसके (वह जन्म-मरण से मुक्त है), **ब्रह्मवादिनः**—ब्रह्म की चर्चा करनेवाले, वेदज्ञ, **हि**—ही, **प्रवदन्ति**—चर्चा करते, उपदेश करते है, **नित्यम्**—हमेशा, त्रि-काल मे ।।२१।।

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देव. स नो बुद्धया शुभया सयुनक्तु ।।१।।

यः—जो, **एक.**—अद्वितीय, सहाय-निरपेक्ष, **अवर्णः**—रग-रूप से रहित, निराकार, अवर्णनीय, **बहुधा**—अनेक प्रकार से, **शक्ति-योगात्**—सामर्थ्य के

को रचा है, जिसने प्रत्येक पदार्थ में कोई-न-कोई प्रयोजन रख दिया है, जो विश्व का आदि में संचयन तथा अन्त में विचयन करता है—विश्व के इस विशाल-भवन को मानो पहले खड़ा कर देता है, और फिर ढा देता है—वह देव हमें शुभ-बुद्धि से युक्त करे ॥१॥

वही देव अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही जल है, वही प्रजापति है ॥२॥

हे देव ! तू ही स्त्री है, तू ही पुरुष है, तू ही कुमार है, तू ही कुमारी है, तू ही वृद्ध होकर दंड से हमें ठग लेता है—हम तुझे इन भिन्न-भिन्न रूपों में अलग-अलग समझकर भरमा जाते हैं, पर अस्ल में सब तू-ही-तू है । तू जब सृष्टि के रूप में प्रकट होता है, तो स्वयं एक होता हुआ भी नाना-रूप हो जाता है ॥३॥

कारण, **वर्णान्**—वर्णों (रंग-रूप, आकृतियों) को, **अनेकान्**—अनेक, नानाविध, **निहितार्थः**—सप्रयोजन, सोद्देश्य, **दधाति**—धारण करता है, **वि च एति (च वि एति)**—और व्यय (संहार) करता है, **च**—और, **अन्ते**—अन्त में, प्रलय-काल में, **विश्वम्**—सर्व-जगत् को, **आदौ**—सृष्टि के आदि में, **स. देवः**—वह ही देव (था), **सः**—वह (ब्रह्म), **न.**—हमको, **बुद्धया शुभया संयुनक्तु**—शुभ बुद्धि से युक्त करे ॥१॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥२॥

तद्—वह (ब्रह्म), **एव**—ही, **अग्निः**—अग्नि, **तद्**—वह, **आदित्य**—आदित्य, **तद् वायुः**—वह ही वायु, **तद् उ**—वह ही, **चन्द्रमाः**—चन्द्रमा, **तद् एव**—वह ही, **शुक्रम्**—शुक्र, **तद्**—वह (परमात्मा), **ब्रह्म**—ब्रह्म, **तद्**—वह, **आप**—अप्, **तत्**—वह, **प्रजापति**—प्रजापति (अग्नि आदि नामों से वाच्य है, ये उसी के बोधक—वाचक हैं) ॥२॥ (यजु०, ३२-१)

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥३॥

त्वम्—तू, **स्त्री**—स्त्री है, **त्वम्**—तू, **पुमान्**—पुरुष, **असि**—है, **त्वम्**—तू, **कुमारः**—कुमार, **उत वा कुमारी**—तथा, अथवा कुमारी है । **त्वम्**—तू ही **जीर्णः**—वृद्ध हुआ **दण्डेन**—दण्ड (के सहारे) से, **वञ्चसि**—गति करता है, चलना-फिरना है, ठगता है, **त्वम्**—तू, **जातः**—उत्पन्न हुआ, **भवसि**—होता है, **विश्वतोमुखः**—सब ओर मुख वाला (बहिर्मुख) ॥३॥

नीले-हरे रंग के पक्षी तू ही है, तू ही मेघ है, तू ही ऋतुएं हैं, तू समुद्र है। तू स्वयं अनादि है, तू विभु-रूप में वर्तमान है, तुझसे ही सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुए हैं ॥४॥

लाल, सफेद, काले रंग की एक 'अजा' है, जो अपने ही रंग-रूप वाली अनेक प्रजाओं का सर्जन कर रही है। एक 'अज' है, जो उस 'अजा' के साथ प्रीति करता है, उसके साथ सो जाता है, एक दूसरा 'अज' है, जो भुक्त-भोगा 'अजा' को छोड़ देता है। 'अज' का अर्थ 'अ+ज'--जो पैदा नहीं होता, अजन्मा, अनादि है। तीन 'अ+ज', अर्थात् अनादि हैं, एक भोग्य=सत्त्व, रज, तम-रूपी 'अजा' प्रकृति, दूसरा भोगने वाला='अज' जीवात्मा, तीसरा न भोगने वाला 'अज' परमात्मा। जीवात्मा प्रकृति में रम जाता है, परमात्मा नहीं रमता ॥५॥

नीलः पतगो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥४॥

नीलः—नीला, **पतंगः**—पक्षी या पतगा, **हरितः**—हरे-रग का, **लोहिताक्षः**—लाल आँखवाला पक्षी (तू ही है), **तडिद्गर्भ**—विजली को अपने अन्दर रखनेवाला मेघ, **ऋतवः**—छै ऋतुए, **समुद्रा**—समुद्र, **अनादिमत्**—आदि (प्रारम्भ) से रहित, **त्वम्**—तू, **विभुत्वेन**—विशाल, महान् व्यापक रूप (भाव) से, **वर्तसे**—विद्यमान है (तू विभु है), **यतः**—जिमसे, **जातानि**—उत्पन्न हुए है, **भुवनानि**—चौदहो लोक, **विश्वा**—सारे ॥४॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमाना सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥५॥

अजाम्—अजन्मा, नित्य, **एकाम्**—मख्या मे एक, **लोहित-शुक्ल-कृष्णाम्**—लाल (रजोगुण), सफेद (सत्त्वगुण) और काले (तमोगुण) रूप से युक्त, **बह्वीः**—वहुत-सी, अनेक, **प्रजाः**—प्रजाओ (कार्य-सृष्टि) को, **सृजमानाम्**—रचना करती हुई, **सरूपाः**—अपने समान रूप (सत्त्व-रजस्-तमस्) वाली, **अजः**—अजन्मा (जीव), **हि**—ही, **एक**—एक, **जुषमाण**—सेवन (भोग) करता हुआ, **अनुशेते**—उसके साथ सोता (रमता) है, **जहाति**—छोड देता है, **एनाम्**—इसको, **भुक्तभोगाम्**—(जीव द्वारा) जिमका भोग भोगा जा रहा है, **अजः**—अजन्मा, **अन्यः**—दूसरा (परमात्मा) अथवा **अजः हि अन्य**—एक अजन्मा (वद्ध जीव) इसका भोग भोगता हुआ इसमे रम जाता है, दूसरा अजन्मा (मुक्त-जीव) इसको भोग कर इसे छोड देता है ॥५॥

(इस मन्त्र का यह भी अर्थ हो सकता है कि 'अजा'--प्रकृति --तो भोग्य है, परन्तु 'अज'--आत्मा--दो प्रकार के है--एक ऐसे जीव है, जो भोग मे ही रमे रहते है, उसे छोड़ते ही नही, दूसरे ऐसे जीव है, जो प्रकृति का भोग करके उसे छोड़ देते है, शान्त हो जाते है।)

सुन्दर पंखों वाले, सदा साथ रहने वाले, एक-दूसरे के मित्र दो पक्षी है, दोनो एक ही वृक्ष का आलिगन कर रहे है। दोनों में से एक पक्षी पिप्पल के स्वादु फल को मजे में खाता है, दूसरा न खाता हुआ देखता मात्र है। परमात्मा-जीवात्मा दो पक्षी है, प्रकृति अथवा शरीर वृक्ष है, जीवात्मा कर्म-फल का भोग करता है, परमात्मा साक्षी-रूप रहता है ॥६॥

(इस मन्त्र का यह भी अर्थ हो सकता है कि ससार मे जीव दो प्रकार के है--एक भोग मे रमे हुए, दूसरे वे जिन्होने भोगो से अपने को अलग कर लिया है। मुडक ३।१ मे भी यह भाव है।)

एक ही वृक्ष पर पुरुष फल भोगने में निमग्न हो जाता है, भोगता-भोगता असमर्थ हो जाता है, मोह में पड़कर शोक करने

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥६॥

द्वा—दो, **सुपर्णा**—सुन्दर पखवाले, सुन्दर गति (ज्ञान) वाले (चित्स्वरूप), **सयुजा**—(व्याप्य-व्यापक भाव से) साथ रहनेवाले (परस्पर सम्बद्ध), **सखाया**—समान ख्याति (सत्-चित् रूप गुण) वाले, **समानम्**—एक ही, **वृक्षम्**—विनाशी (कार्य-प्रकृति रूप) वृक्ष को, **परिषस्वजाते**—आलिगन कर रहे है, उनसे चिपट रहे है, **तयो**—उन दोनो मे से, **अन्य**—एक (जीवात्मा) **पिप्पलम्**—पीपली फल (भोग) को, **स्वादु**—स्वाद वाले या स्वाद ले-लेकर (मग्न हो-हो कर), **अत्ति**—खाता (भोगता) है, **अनश्नन्**—न खाता हुआ, न रमता हुआ, **अन्य**—दूसरा (ब्रह्म), **अभिचाकशीति**—देखता (साक्षी बना) रहता है ॥६॥ (ऋग्०, १–१६४–२०)

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥७॥

समाने वृक्षे—एक ही (प्रकृति-रूप) वृक्ष पर, **पुरुषः**—(भोक्ता) जीवात्मा, **अनीशया**—असामर्थ्य के कारण, प्रकृति-वश होने के कारण,

लगता है; उसी वृक्ष पर जब दूसरे को, ईश्वर को देखता है, और यह देखता है कि उसकी सेवा हो रही है, आराधना हो रही है, तो उसकी महिमा को देखकर वीत-शोक हो जाता है। वृक्ष यहां ब्रह्मांड में 'प्रकृति' तथा पिंड में 'शरीर' को कहा है। पुरुष फल-भोग में रमा हुआ अपने को असमर्थ कर लेता है, ईश्वर की शक्ति अखंड रहती है ॥७॥

(इस मन्त्र का यह भी अर्थ हो सकता है कि ससार मे पुरुप दो प्रकार के है--एक वे जो ससार के भोगो मे फसकर अपनी शक्ति क्षीण कर लेते है, दूसरे वे जो भोगो मे न फसकर अपनी शक्ति बनाये रखते है। क्षीण-शक्ति जब शक्तिमान् को देखता है तो सजग हो जाता है।)

सब ऋचाएं परम-व्योम में वर्तमान अक्षर-ब्रह्म का प्रतिपादन करती है, उस ब्रह्म का जिसमें सब देव निवास करते है। ऋचाएं जिसका प्रतिपादन करती है उस ब्रह्म को जो नही जानता, वह ऋचाओं से क्या करेगा, जो उसे जानते है, वे ही शान्त होकर बैठ सकते है ॥८॥

शोचति—शोक करता (दुःखी होता) है, **मुह्यमानः**—मोह (अपने स्वरूप के प्रति अज्ञान और प्रकृति के प्रति मोह-ममता) करता हुआ, **जुष्टम्**—शान्त, प्रसन्न, सेवित, **यदा**—जब, **पश्यति**—देखता है, जान लेता है, **अन्यम्**—दूसरे (ब्रह्म) को, **ईशम्**—समर्थ (प्रकृति-जयी), **अस्य**—इस (ईश) की, **महिमानम्**—महिमा को, **इति**—तो, अत , **वीतशोकः**—शोक-मुक्त (हो जाता है) ॥७॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥८॥

ऋचः—ऋचाये (वेद-वाक्य), **अक्षरे**—अविनाशी, **परमे**—परम, **वि+ओमन्**—आकाशवद् व्यापक एव परम रक्षक 'ओम्'-ब्रह्म मे (स्थित है—उसका वर्णन करती हैं), **यस्मिन्**—जिस (ब्रह्म) मे, **देवाः**—दिव्य भौतिक पदार्थ एव ज्ञानी विद्वान् आत्मा, **विश्वे**—सारे, **अधि निषेदुः**—अध्यासीन, आधारवाले, आश्रित हैं, **यः**—जो, **तम्**—उस (आधार-ब्रह्म) को, **न वेद**—नही ज़ान पाता (सका); **किम्**—क्या, **ऋचा**—ऋचा (वेद-वाक्य के ज्ञान) से, **करिष्यति**—करेगा (फल पायेगा), **ये**—जिन्होने, **इद्**—ही, **तद्**—

छन्द, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भव्य, वेद और हम--इस सम्पूर्ण विश्व को माया वाला मायावी सृजता है। इसके मुकाबिले में एक दूसरा है, जो इसी माया-जाल में फंसा पड़ा है ॥९॥

प्रकृति ही 'माया' है, महेश्वर ही 'मायावी' है, यह सम्पूर्ण-जगत् उस मायावी के अवयवो से, अंगो से व्याप्त है—उसका प्रत्येक अंग सब जगह मौजूद है ॥१०॥

(भगवान् के स्वरूप का वर्णन)

जो इकला संसार के प्रत्येक कारण का अधिष्ठाता है, जिसमें यह संपूर्ण विश्व 'संचित' हो जाता है और 'विचित' हो जाता है, सिमिट जाता है और बिखर जाता है, उस शक्तिमान्, वरद तथा

उसको, विदु:—जान लिया, ते—वे, इमे—ये (ज्ञानी) समासते—शान्ति पाते हैं, आश्वस्त होते हैं ॥८॥ (ऋग्०, १-१६४-२९)

छन्दांसि यज्ञा. क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥९॥

छन्दासि—छन्द (वेद), यज्ञा.—(नित्य-नैमित्तिक) यज्ञ, क्रतवः—अन्य कर्म, व्रतानि—व्रत, भूतम्—उत्पन्न, भव्यम्—आगे उत्पन्न होनेवाला, यत् च—और जिसको भी, वेदा—वेद, वदन्ति—बताते (व्याख्या करते) है, अस्मान्—हमको, या (अस्मात्—इससे), मायी—माया-पति (महेश्वर), सृजते—रचता है, विश्वम्—संसार को, एतत्—इस, तस्मिन् च—और उस (विश्व) मे, अन्य.—एक, मायया—माया (जाल-पाश) से, संनिरुद्धः—कैदी, बन्दी है ॥९॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१०॥

मायाम् तु—माया तो, प्रकृतिम्—प्रकृति को, विद्यात्—जाने (माया प्रकृति का नाम है), मायिनम्—माया-पति, तु—तो, महेश्वरम्—परमात्मा को (जाने), तस्य—उसके, अवयवभूतै—अगभूत (प्रकृति-पाशो) से, तु—तो, व्याप्तम्—व्याप्त, आकीर्ण है, सर्वम्—सारा, इदम्—यह, जगत्—जगम विश्व ॥१०॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥११॥

य—जो, योनिम्-योनिम्—प्रत्येक योनि (उत्पत्ति-कारण, जन्म-जाति) का, अधितिष्ठति—अधिष्ठाता (नियामक) है, एक—अद्वितीय, यस्मिन्

स्तुत्य देव का जब ठीक-ठीक निश्चय हो जाता है, उस पर जब ठीक-ठीक विश्वास जम जाता है, तब भक्त अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है ॥११॥

जिससे देव 'उद्भूत' होते हैं, प्रकट होते हैं, और 'प्रभूत' होते हैं, प्रभावशाली होते हैं, जो रुद्र है, महर्षि है, विश्व का 'अधिप' है, सब ओर से पालन करने हारा है—वह देव हमें शुभ-बुद्धि से युक्त करे। वह देखो सृष्टि के प्रारंभ में जाज्वल्यमान हिरण्यगर्भ उत्पन्न हो रहा है, उसे जिसने उत्पन्न किया, वह देव हमें शुभ-बुद्धि से युक्त करे ॥१२॥

जो देवों का अधिपति है, जिसमें लोक अधिश्रित हैं, जो इस दोपाये और चौपाये का स्वामी है, उस सुख-स्वरूप देव की हम 'हवि' से पूजा करते हैं। जो-कुछ अपना कहा जा सकता है, उसे ब्रह्मार्पण कर देना 'हवि' है। अपना सब-कुछ उसके चरणों में अर्पित करते हैं ॥१३॥

—जिसमे, **इदम्**—यह, **सम् च (एति) (सम् एति च)**—और समेत (सगठित, सचित) होता है, **वि च एति**—और वीत (नष्ट–प्रलीन) हो जाता है, **सर्वम्**—सब कुछ जगत्, **तम्**—उस, **ईशानम्**—स्वामी, प्रभु, **वरदम्**—वर (कल्याण) देनेवाले, **देवम्**—भगवान् को; **ईडचम्**—उपासनीय, **निचाय्य**—निश्चय (ज्ञान) करके, **इमाम्**—इस, **शान्तिम्**—शान्ति (दुःख के अभाव) को, **अत्यन्तम्**—अत्यधिक, **एति**—पा लेता है ॥११॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्धचा शुभया संयुनक्तु ॥१२॥

यः देवानाम् **हिरण्यगर्भम्**—अर्थ पूर्ववत् (पृ० १०००), **पश्यत**—देखो, **जायमानम्**—उत्पन्न होते हुए, **स.** **सयुनक्तु**—अर्थ पूर्ववत् ॥१२॥

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिता।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१३॥

य.—जो, **देवानाम्**—दिव्य पदार्थों और विद्वानो का, **अधिप**—स्वामी, शासक एव रक्षक है, **यस्मिन्**—जिसमे, **लोका.**—लोक (भुवन), **अधिश्रिता.**—आश्रय पा रहे है, **यः**—जो, **ईशे**—नियामक है, **अस्य**—इस, **द्विपद**—दो पाव वाले प्राणियो का, **चतुष्पद.**—चार पाँव वाले प्राणियो का, **कस्मै**—

संसार के बीच जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म वस्तु है, उस सब का वह अनेक रूप से स्रष्टा है। वह इकला सम्पूर्ण विश्व को ढांपे हुए है, लपेटे हुए है। उस शिव को जान कर अत्यन्त शान्ति प्राप्त होती है ॥१४॥

वही समय पर भुवन का रक्षक है, विश्व का अधिपति है, सब भूतों में छिपा हुआ है। जिसकी आराधना में ब्रह्मर्षि और देवता लगे हुए है, उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु के पाशों को काटता है ॥१५॥

वर्तन में घी के ऊपर जो तरल घी रहता है, उसे 'मण्ड' कहते हैं। जो शिव-स्वरूप ब्रह्म घृत से परे 'मण्ड' की भांति अति सूक्ष्म है,

---

उस सुख-स्वरूप, सुखप्रद, देवाय—भगवान् के लिए, हविषा—स्वत्व-त्याग द्वारा, भक्तिद्वारा, विधेम—(पूजा) करते हैं ॥१३॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥१४॥

सूक्ष्म+अतिसूक्ष्मम्—सूक्ष्म से भी अधिक सूक्ष्म, कलिलस्य—गहन संसार के, मध्ये—बीच में; विश्वस्य—सब जगत् के, स्रष्टारम्—रचयिता को, अनेक-रूपम्—नाना रूप वाले, विश्वस्य—जगत् के, एकम्—एकमेव, परिवेष्टितारम्—आवृत (घेरा) करनेवाले, ज्ञात्वा—जानकर; शिवम्—कल्याणकारी शिव (परमात्मा) को; शान्तिम्—शान्ति को, अत्यन्तम्—अत्यधिक; एति—पा लेता है ॥१४॥

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥१५॥

सः एव—वह ही, काले—समय पर; भुवनस्य—लोक-सृष्टि का, गोप्ता—रक्षक, पालक; विश्व+अधिपः—सब का स्वामी; सर्व-भूतेषु—सब भूतों में, गूढः—छिपा हुआ, लीन, व्यापक, यस्मिन्—जिसमें, युक्ताः—(योग-साधना द्वारा) लगे हुए हैं, ब्रह्मर्षयः—ब्रह्मज्ञानी ऋषि, देवताः च—और देव-गण, तम्—उस को, एवम्—इस प्रकार, ज्ञात्वा—जान कर, मृत्यु-पाशान्—जन्म-मरण के बन्धनों को, छिनत्ति—काट देता है ॥१५॥

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१६॥

घृतात्—घी से, परम्—ऊपर (उत्कृष्ट), मण्डम् इव—तरल घी की तरह, अतिसूक्ष्मम्—बहुत सूक्ष्म, ज्ञात्वा—जान कर, शिवम्—शिव (पर-ब्रह्म) को, सर्वभूतेषु—सब भूतों में, गूढम्—छिपे हुए, व्याप्त, विश्वस्य एकम्

जो सब भूतों में छिपा हुआ है, जो सम्पूर्ण विश्व को इकला लपेटे हुए है, उस देव को जानकर मनुष्य सब पाशों से मुक्त हो जाता है ॥१६॥

यह देव महान् आत्मा है, 'विश्वकर्मा' है, विश्व का रचने वाला है, सदा मनुष्यो के हृदय में सन्निविष्ट है। वह हृदय से, बुद्धि से, मन से पाया जाता है। हृदय से उसकी चाहना हो, बुद्धि से उसकी खोज हो, मन से उसका ध्यान हो, तभी वह हाथ आता है। जो यह जानते है, वे अमृत हो जाते है ॥१७॥

('बुद्धि' और 'मन' को यहा अलग-अलग कहा है। तैत्तिरीय उपनिषद् मे जहा 'कोशो' का वर्णन है, वहा भी 'विज्ञानमय-कोश' और 'मनोमय-कोश'---ये दो 'कोश' कहे गये है। इन दोनो का निर्माण 'विज्ञान-तत्त्व' तथा 'मनस्-तत्त्व' से हुआ है। 'विज्ञान-तत्त्व' ही 'बुद्धि' है, मनस्-तत्त्व ही 'मन' है---ये दोनो उपनिषद् की परिभाषा मे 'तत्त्व' (Substances) है। 'मनस्-तत्त्व' निम्न-तत्त्व है, 'बुद्धि-तत्त्व' अथवा 'विज्ञान-तत्त्व' उच्च-तत्त्व है। कठोपनिषद् मे मी 'बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च'---इसमे 'बुद्धि' तथा 'मन' मे भेद किया गया है। निम्न-स्तर (Lower plane) मे जो 'मन' है, उच्च-स्तर (Higher plane) मे वह 'विज्ञान' अर्थात् 'बुद्धि' है। श्वेताश्वतर के द्वितीय अध्याय के प्रारभ मे भी 'धी' और 'मन' मे भेद किया गया है। 'अन्त करण-चतुष्टय' मे 'मन'-'बुद्धि'-'चित्त'-'अहकार'---ये चार अन्त करण माने गये है---इससे भी स्पष्ट है कि 'मन' तथा 'बुद्धि' मे भेद है। 'मन' के विकास के बाद 'बुद्धि', बुद्धि के विकास के बाद 'चित्त'

परिवेष्टितारम्—जगत् के एकमेव आवरण करनेवाले, **ज्ञात्वा**—जान कर, **देवम्**—भगवान् को, **मुच्यते**—छुट जाता है, **सर्वपाशैः**—सब बन्धनो से ॥१६॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१७॥

एषः देव.—यह ही देव (भगवान्), **विश्वकर्मा**—विश्व का रचयिता, नाना कर्म वाला, **महात्मा**—परमात्मा, **सदा**—सर्वदा, **जनानाम्**—उत्पन्न प्राणियो के; **हृदये**—हृदय-गुहा मे, **सनिविष्ट**—विद्यमान है, **हृदा भवन्ति**—अर्थ पूर्ववत् ॥१७॥

और चित्त के विकास के बाद 'अहंकार' प्रकट होता है। 'मन' अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है, उसी की 'अहकार' अत्यन्त स्थूल अवस्था है, दूसरे दो अवान्तर रूप है।)

जब 'तम' का अभाव हो जाता है, अज्ञान हट जाता है, तब जो ज्ञान का प्रकाश उदित होता है, उसकी तुलना न दिन के प्रकाश से है, न रात्रि के प्रकाश से। परमात्मा का वह दिव्य-रूप न सत् है, न असत् है, वह उसका केवल शिव-रूप है, वह 'अक्षर', अर्थात् अविनाशी-रूप है, वह सविता का वरेण्य-रूप है, भगवान् के उसी रूप से पुरातन प्रज्ञा का, सनातन ज्ञान का अवतरण होता है ॥१८॥

उसे कोई ऊपर से, इधर-उधर से, बीच से नहीं पकड़ सकता। जिस का नाम 'महद्-यश' है, उसकी 'प्रतिमा' नहीं है, उसकी तुलना किसी वस्तु से नहीं की जा सकती ॥१९॥

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासञ्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥१८॥

यदा—जब, अतमः—तमोगुण एव अविद्या का अभाव (होता है), तत्—तो, तब, न—नही, दिवा—दिन, न रात्रिः—न ही रात, न—नही, सन्—सत्तावाला, भावात्मक; न—नही, च—और, असन्—सत्ता से शून्य, अभावात्मक, शिव—शिव, एव—ही, केवलः—केवल, एकाकी, तद्—वह, अक्षरम्—अविनाशी है; तद्—वह ही; सवितुः—जगत् के प्रेरक व स्रष्टा का; वरेण्यम्—वरण करने योग्य, ग्राह्य (भर्ग—तेज) है; प्रज्ञा—बुद्धि (वेद-रूप प्रकृष्ट ज्ञान), च—और, तस्मात्—उससे, प्रसृता—फैली है; पुराणी—पुरातन, सनातन ॥१८॥

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥१९॥

न—नही, एनम्—इस (शिव) को; ऊर्ध्वम्—ऊपर, तिर्यञ्चम्—इधर-उधर, न मध्ये—न बीच मे; परिजग्रभत्—(कोई) पकड सका है, छू सका है, न—नही, तस्य—उसकी, प्रतिमा—उपमा, तुलना; अस्ति—है, यस्य—जिसका; नाम—संज्ञा, प्रसिद्धि; महद्-यशः—'महद्यश' (बड़े यशवाला) है ॥१९॥ (यजु०, अ० ३२, मंत्र २–३)

उसका कोई 'रूप' नहीं है जो आंखों के सामने ठहरे, और न आंखों से उसे कोई देख पाता है। वह हृदय में स्थित है, इसलिये जो 'हृदय से' और 'मन से'—उसे इस प्रकार जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं ॥२०॥

'तू अजन्मा है'—ऐसा कहता हुआ कोई धर्म-भीरु पुरुष ही भगवान् की शरण में आता है। हे रुद्र ! तेरा जो 'दक्षिण-मुख' है, 'वाम' नही 'दक्षिण', बायां नहीं दायां, अर्थात् तेरा जो क्रियाशील स्वरूप है, उससे मेरी नित्य पालना कर ॥२१॥

हे रुद्र ! हमारे नव-जात शिशुओ पर, बालकों पर, युवाओं पर, गौओं पर, घोड़ों पर प्रहार मत कर; हमारे आभा से युक्त वीरों का वध मत कर, हम हवि लेकर सदा तेरा आह्वान करते हैं ॥२२॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२०॥

न—नही, **संदृशे**—देखने के लिए, **तिष्ठति**—ठहरता–सामने आता है, **रूपम्**—आकृति, वर्ण, स्वरूप, **अस्य**—इसका, **न**—नही, **चक्षुषा**—आँख से, **पश्यति**—देख सकता है, **कश्चन**—कोई भी, **एनम्**—इसको, **हृदा**—हृदय (भक्ति-भाव) से, **हृदिस्थम्**—हृदय-गुहा मे स्थित, **मनसा**—(निरुद्ध) मन से; **ये**—जो, **एनम्**—इसको; **एवम्**—इस प्रकार; **विदुः**—जानते है, **अमृताः ते भवन्ति**—वे अमर (मुक्त) हो जाते है ॥२०॥

अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मा पाहि नित्यम् ॥२१॥

अजातः—न उत्पन्न (अज–अजन्मा), **इति एवम्**—इस रूप मे; **कश्चिद्**—कोई, **भीरुः**—(पाप-कर्म फल से) डरनेवाला, धर्म-भीरु, **प्रपद्यते**—(तेरी शरण मे) प्राप्त होता है, **रुद्र**—हे रुद्र, **यत्**—जो, **ते**—तेरा, **दक्षिणम्**—दक्षता (उत्साह, चतुराई, उदारता) वाला, दाया; **मुखम्**—मुख (आशीर्वाद) है, **तेन**—उससे, **माम्**—मुझको, **पाहि**—सुरक्षित रख, **नित्यम्**—सदा ॥२१॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥२२॥

मा—मत, **नः**—हमारे, **तोके**—शिशु पर, **तनये**—पुत्र पर, **मा**—मत, **नः**—हमारी, **आयुषि**—(पूर्ण) आयु पर, **मा**—मत, **नः**—हमारी, **गोषु**—गौओ पर, **मा नः**—मत हमारे, **अश्वेषु**—अश्वो पर, **रीरिषः**—हिंसा (घात)

पंचम अध्याय
(ब्रह्म तथा जीव का वर्णन)

जीवात्मा तथा प्रकृति दोनों अक्षर है, अनन्त है, ब्रह्मपर है--'ब्रह्मपर', अर्थात् ब्रह्म में पर, अर्थात् लगे हुए है, ब्रह्म को--महानता को--हर समय ढूंढ रहे है, जहां उन्हें बृहत्ता, महानता दीखती है, उसी तरफ जीव तथा प्रकृति की गति है। दोनों में 'विद्या' तथा 'अविद्या' गहराई तक पहुंची हुई है। 'विद्या' तथा 'अविद्या' में से 'अविद्या' 'क्षर' है, 'खर जाने वाली' है, 'विद्या' 'अक्षर' है, 'न खरने वाली', अर्थात् 'अमृत' है। अविद्या तथा प्रकृति का मेल तो समझ पड़ता है, परन्तु 'क्षर'-अविद्या के साथ 'अक्षर'-जीवात्मा का क्या मेल ? क्यों जीवात्मा अविद्या में रमा रहता है ? क्यों नहीं निकल जाता ? 'विद्या' तथा 'अविद्या' पर जो निगरानी कर रहा है, वह 'जीवात्मा' से अन्य 'परमात्मा' है, जैसे वह अविद्या से अलग है, वैसे जीवात्मा भी अविद्या से अलग निकल सकता है ॥१॥

कर, वीरान्—वीर पुत्रो (पुरुषो) को, मा नः—नही हमारे; रुद्र—हे रुद्र, भामिनः—आभावाले, क्रुद्ध हुए, जोश मे आये हुए (वीर-युवको को), वधीः—घात (चोट) कर, हविष्मन्त.—यज्ञ-अनुष्ठान करते हुए, आत्म-समर्पण करते हुए, सदम्—सदा, इत्—ही, त्वा—तुझको, हवामहे—हम पुकारते है, स्तुति-प्रार्थना करते है ॥२२॥ (यजु०, १६–१५)

> द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
> क्षरं त्वविद्या ह्यमृत तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्य ॥१॥

द्वे—दोनो, अक्षरे—अविनाशी, नित्य, ब्रह्मपरे—ब्रह्म मे लीन, तु—तो, अनन्ते—अन्तहीन (भी) है, विद्या-अविद्या—ज्ञान और अज्ञान (श्रेय और प्रेय मार्ग), निहिते—विद्यमान है, यत्र—जिन (दोनो) मे, गूढे—छिपे हुए, न जाने हुए, (इनमे) क्षरम्—विनाशी, अस्थायी, तु—तो, अविद्या—अज्ञान (प्रेयो रूप), हि—निश्चय ही, अमृतम्—अमर, अविनाशी, नित्य, तु—तो, विद्या—ज्ञान (श्रेयो रूप), विद्या+अविद्ये—इन विद्या (चित् आत्मा) और अविद्या (ज्ञान से रहित प्रकृति) को, ज्ञान-अज्ञान या श्रेयोरूप-प्रेयोरूप को, ईशते—नियम मे रखता है, इनका 'ईश' (स्वामी) है, यः तु—जो तो; स—वह, अन्य—(इनसे भिन्न) अन्य (ब्रह्म) है ॥१॥

(इस उपनिषद्-वाक्य का यह अर्थ भी किया जा सकता है कि विद्या तथा अविद्या---ज्ञान तथा कर्म---आध्यात्मिक-दृष्टि तथा आधिभौतिक-दृष्टि---Spiritualism and Materialism---ये दोनो उस अक्षर, अनन्त, परब्रह्म मे गूढ निहित है, उसी से ये दोनो उत्पन्न होती है। इन दोनो मे से अविद्या क्षर है, विद्या अक्षर है, अमृत है। विद्या तथा अविद्या का स्वामी वह ब्रह्म इन दोनो से अलग है।)

जो इकला संसार की एक-एक 'योनि', अर्थात् एक-एक कारण तथा सब 'योनियों', अर्थात् सब 'कारणों' का अधिष्ठाता है, जो सब रूपों, अर्थात् 'कार्यों' का अधिष्ठाता है---अर्थात्, जो संसार के सब कारण तथा कार्य का प्रवर्तक है---जो पूर्वकाल में उत्पन्न हुए कपिल ऋषि को, अर्थात् किसी भी प्राचीन-विचारक को वैसे ही ज्ञान से भर देता है जैसे आज के किसी विचारक को, उस जायमान-ब्रह्म को, अर्थात् ऐसे ब्रह्म को जो हर-समय अपने को किसी-न-किसी रूप में जायमान कर रहा है, प्रकट कर रहा है, ऐसे ब्रह्म को उपासक देखे ॥२॥

जैसे हरिण आदि के पकड़ने के लिये कोई जाल को फैला दे, उसमें जीव-जन्तु आ-आकर पकड़े जाते है, वैसे प्रत्येक जीव

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥२॥

यः---जो, **योनिम्-योनिम्**---प्रत्येक उत्पादक कारण को (का), **अधितिष्ठति**---अधिष्ठाता (नियन्ता) है, **एकः**---इकला, अद्वितीय, **विश्वानि**---सारे, **रूपाणि**---रूपो (आकृतिधारियों) को, **योनीः च**---और योनियो (भिन्न-भिन्न जातियो) को, **सर्वाः**---सारी, **ऋषिम्**---क्रान्तदर्शी, **प्रसूतम्**---(भगवान् से) प्रेरित या पहले उत्पन्न, **कपिलम्**---साख्य-दर्शन (चेतन-अचेतन भेद के निर्देशक) के रचयिता 'कपिल' मुनि को, **यः**---जो, **तम्**---उसको, **अग्रे**---पहले, **ज्ञानैः**---ज्ञान द्वारा, **बिभर्ति**---पुष्ट करता, धारण कराता है, **जायमानम् च**---और (इस प्रकार) प्रकट होते हुए (ब्रह्म) को, **पश्येत्**---साक्षात् करे ॥२॥

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा यतयस्तथेश सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥३॥

एक+एकम्---एक-एक (नानाविध), **जालम्**---(जाति-आयु-भोग-

के कर्मानुसार अनेक प्रकार से, अर्थात् मानव-देह, पशु-देह आदि के रूप में योनियों के जाल को यह देव इस संसार-रूपी क्षेत्र में फैला देता है, और जब जीव कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों के इन जालों में फंस जाते है तब उनके कर्म फलानुसार वह देव इसी संसार-क्षेत्र में उन्हें पकड़ कर उनका जाल में फंसे शिकार की तरह संहार कर देता है। हे यतियो ! इसी प्रकार वह महात्मा जगदीश सृष्टि को बार-बार रचता है, और इस पर शासन करता है ।।३।।

जैसे सूर्य ऊपर, नीचे, तिरछे—सब दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ स्वयं भी प्रकाशमान है, इसी प्रकार वह देव, वरणीय भगवान् संसार की योनियो के स्वभावों का इकला अधिष्ठाता है। सूर्य अपने प्रकाश से अन्नादि को पकाता है, प्रत्येक अन्न का जो स्वभाव है उसी के अनुसार वह पकता है—आम अपने स्वभाव से पक कर आम बन जाता है, अनार नहीं, और अनार अपने स्वभाव से पक कर अनार बन जाता है, आम नहीं, इसी प्रकार भगवान् ही, जैसे सूर्य खेतियों को पकाता है, वैसे सब योनियो को अपने-अपने स्वभाव के अनुसार परिपक्व कर रहा है ।।४।।

रूपी) बन्धन को, बहुधा—(कर्म-अनुसार) अनेक रूपो मे, विकुर्वम्—फैलाता हुआ (कर्म-फल देता हुआ); अस्मिन्—इस, क्षेत्रे—क्षेत्र (सृष्टि-रचना) मे, संहरति—प्रलय मे समेट लेता है, एषः देवः—यह देव (ब्रह्म), भूयः—फिर (प्रलयकाल के पश्चात्), सृष्ट्वा—रचकर, यतय.—हे सयमी आत्माओ !, तथा—वैसे, और, ईशः—स्वामी (ब्रह्म), सर्व+आधिपत्यम्—सब पर शासन (नियत्रण), कुरुते—करता है, महात्मा—परमात्मा ।।३।।

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान्।
एव स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ।।४।।

सर्वा दिश—सब दिशाओं को, ऊर्ध्वम्—ऊपर की ओर; अधः च—और नीचे की ओर, तिर्यक्—इधर-उधर, दायें-बायें; प्रकाशयन्—प्रकाशमय करता हुआ, भ्राजते—(स्वयं भी) चमक रहा होता है, यद् उ—जो तो, अनड्वान्—सूर्य, एवम्—इस ही प्रकार, स—वह, देव.—देव, भगवान्—ऐश्वर्यशाली, वरेण्य.—वरणीय, योनि-स्वभावान्—प्रत्येक योनि (कारण या जाति) और उनके स्वभावों का, अधितिष्ठति—अधिष्ठाता (नियन्ता) है, एक—इकला ही ।।४।।

वह 'विश्वयोनिः' है—सबका कारण है, प्रत्येक वस्तु को अपने स्वभाव के अनुसार पका देता है, जो भी परिपाक के योग्य वस्तु है उसको वही परिणत करता है, अपने निष्कर्ष तक पहुंचाता है। वह इकला ही इस सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठाता है। संसार के 'द्रव्यों' का ही नहीं, सब 'गुणों' का भी वह इकला ही विनियोग करता है। प्रत्येक पदार्थ 'द्रव्य' (Quantity) है, यह द्रव्य जिस काम आता है वह इसका 'गुण' (Quality) है। संसार के सभी द्रव्यों तथा गुणों का वही अधिष्ठाता है ।।५।।

ब्रह्म-ज्ञान वेदों मे तथा वेदों के रहस्य का प्रतिपादन करने वाली उपनिषदों में छिपा हुआ है। ब्रह्म-ज्ञान के उस उत्पत्ति-स्थान को ब्रह्म-ज्ञानी ही जानता है। पहले जो देव और ऋषि हुए हैं, वे उस ब्रह्म-ज्ञान को जानते थे, वे उसे जानकर 'तन्मय' हो गये, 'अमृत' हो गये ।।६।।

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणाश्च सर्वान्विनियोजयेद्य. ।।५।।

यत् च—और जो, **स्वभावम्**—स्व-भाव (स्व-रूप) को अथवा निज स्वभाव से ही, **पचति**—पकाता है (तदनुसार फल देता है), **विश्वयोनिः**—सब का कारण, सब का आधार, **पाच्यान्+च**—और पकाने योग्य (पदार्थों) को, **सर्वान्**—सारे, **परिणामयेत्**—परिणाम (फल) देता है, **यः**—जो, **सर्वम् एतद् विश्वम्**—इस सारे जगत् को, **अधितिष्ठति**—नियम मे रखता है, **एकः**—एक ही, **गुणान्+च**—और सत्त्व आदि प्रकृति के गुणो या शौर्य आदि गुणो को, **सर्वान्**—सारे, **विनियोजयेत्**—विनियोग (स्थापना) करता है, **यः**—जो ।।५।।

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदयते ब्रह्मयोनिम्।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ।।६।।

तद्—वह (ब्रह्म-ज्ञान), **वेद-गुह्य+उपनिषत्सु**—वेदो मे, गुह्य (गुरु के आदेश-उपदेश) मे और उपनिषदो मे, या वेद के गुह्य-रहस्य का उपदेश करनेवाली उपनिषदो मे, **गूढम्**—छिपा है (उनमे वर्णित है), **तद्**—उस, **ब्रह्मा**—चारो वेदो का ज्ञाता, **वेदयते**—ज्ञान कराता है, **ब्रह्म-योनिम्**—वेद के आदि उपदेश करनेवाले (का), **ये**—जो, जिन, **पूर्वदेवा**—पहले देवो (विद्वानो) ने, **ऋषयः च**—और मन्त्र-द्रष्टा ऋषियो ने, **तद्**—उस (ब्रह्म-योनि—आदि गुरु या ब्रह्म-ज्ञान) को, **विदु.**—जान लिया था, **ते**—वे, **तन्मया.**—

अब जीवात्मा का वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं---गुण प्रकृति के हैं, परन्तु जीव उन गुणों का सम्बन्ध अपने साथ जोड़ लेता है; जीव फल के लिये कर्म करता है और जैसे कर्म करता है उसी का फल भोगता है; जीव सब तरह के रूप---देह---धारण कर लेता है; सत्त्व-रज-तम---इन तीन गुणों वाला और उत्तम-मध्यम-अधम---इन तीन मार्गों में जाने वाला यह जीव है; यह जीव प्राणों का स्वामी होकर अपने कर्मों के अनुसार विचरण करता फिरता है ।।७।।

जैसे परमात्मा को उपनिषदों में 'अंगुष्ठमात्र' कहा है, वैसे जीवात्मा को भी हृदय-प्रदेश में विद्यमान होने से ऋषि ने 'अंगुष्ठ-मात्र' कह दिया है। जीवात्मा 'अंगुष्ठमात्र' है, परन्तु 'संकल्प' (मन) और 'अहंकार' (बुद्धि) से युक्त होने के कारण उसका सूर्य के तुल्य विशाल रूप है। 'अंगुष्ठमात्र' कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वह अंगूठे के बराबर है, इसलिये फिर कहते हैं, वह 'आराग्रमात्र' है---सुई की नोक के बराबर है---अत्यन्त सूक्ष्म है, परन्तु फिर भी उस

उसमें लीन (रमे) हुए, अमृताः---अमर (मुक्त), वै---निश्चय ही, बभूवुः---हो गये ।।६।।

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ।।७।।

गुणान्वयः---(सत्त्व-रज-तम) गुणो मे सम्बद्ध (आसक्त) हुआ, यः---जो (जीव), फलकर्मकर्ता---फल (सुख-दुःख रूप भोग) देनेवाले कर्मों का करनेवाला है, कृतस्य---किये हुए, तस्य---उस (कर्म) का, एव---ही, स.---वह (जीव), च---और, उपभोक्ता---भोग करनेवाला है, स.---वह, विश्वरूप.---(कर्मानुसार) अनेक रूपो (योनियो) वाला होता है, त्रिगुण.---तीन गुणो का अभिमानी, त्रि-वर्त्मा---तीन (उत्तम-मध्यम-अधम) मार्ग (वर्ताव) वाला; प्राण+अधिप---प्राणो (शरीर) का स्वामी (पुरुष), संचरति---(भिन्न-भिन्न योनियो मे) फिरता-भटकता है, स्वकर्मभि---अपने कर्मों के कारण ।।७।।

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप. संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ।।८।।

अंगुष्ठमात्र---अगूठे के परिमाण वाला (हृदय-वासी), रवि-तुल्यरूप.---सूर्य के समान रूप वाला (जड शरीर मे चेतना देनेवाला), संकल्प+अहकार-समन्वित---संकल्प (मन) और अहकार (बुद्धि) से युक्त, यः---जो है,

'अपर' को—जीवात्मा को—बुद्धि के और आत्मा के गुणों से देखा जाता है ॥८॥

परन्तु 'आराग्रमात्र' कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वह वास्तव में सुई की नोक के ही बराबर है, इसलिये ऋषि फिर कहते हैं कि अगर बाल के अगले हिस्से के सौ भाग किये जांय, फिर उन सौ में से एक के सौ हिस्से किये जांय, तो उतना भाग जीव का समझना चाहिये, परन्तु इतना सूक्ष्म-रूप होते हुए भी जीवात्मा अनन्त सामर्थ्य वाला कल्पित किया जाता है ॥९॥

जीवात्मा न स्त्री-लिंगी है, न पुंल्लिगी, न नपुंसक-लिंगी। ये लिंग शरीर के हैं, जिस-जिस शरीर को यह ग्रहण करता है उस-उस के लिंग के साथ युक्त हो जाता है ॥१०॥

बुद्धेः—बुद्धि या ज्ञान के, **गुणेन**—गुण से, **आत्म-गुणेन च**—और अपने (चिद्-रूप) गुण से, **एव**—ही, **आर+अग्रमात्रः**—सुई की नोक के समान सूक्ष्म, **हि**—ही, **अपरः**—(शरीर) मे जिससे पर (उत्कृष्ट) कोई नही ऐसा आत्मा, **अपि**—भी, **दृष्टः**—देखा जा सकता है ॥८॥

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥९॥

बाल+अग्र-शतभागस्य—बाल के अग्रभाग के सौवे भाग का, **शतधा**—(जिसको फिर) सौ वार (टुकडे), **कल्पितस्य**—किये हुए का, **च**—और, **भागः**—एक हिस्सा (बाल के अग्रभाग का १०००वे भाग के परिमाण वाला—अति सूक्ष्म), **जीव**—जीवात्मा, **स**—वह, **विज्ञेय**—जानना चाहिये, **सः च**—और वह ही (सूक्ष्मातिसूक्ष्म), **आनन्त्याय**—अनन्त पद (मोक्ष) के लिए या अनन्त कर्म व शक्ति के लिए, **कल्पते**—समर्थ है ॥९॥

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसक।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥१०॥

न एव स्त्री—न तो स्त्री (लिंगी) है, **न पुमान्**—न पुरुष (पुलिंगी), **एषः**—यह (जीवात्मा), **न च एव**—और न ही, **अयम्**—यह, **नपुसक**—नपुसक है, **यद्-यद्**—जिस-जिस, **शरीरम्**—भोग-शरीर को, **आदत्ते**—ग्रहण करता है, **तेन तेन**—उस-उस से, **स**—वह, **रक्ष्यते**—रक्खा जाता है, रक्षा किया जाता है ॥१०॥

उत्पन्न होने के अनन्तर उसकी वृद्धि कैसे होती है ? अन्न तथा जल-सिंचन से उसका शरीर बढ़ता है, 'संकल्प'-'स्पर्श'-'दृष्टि' के मोह से उसके मन का प्रपंच बढ़ता है। यह देही--जीवात्मा--क्रम से कर्मानुसार रूपों को--देहों को--भिन्न-भिन्न स्थानों में प्राप्त होता है ॥११॥

('सकल्प'-'स्पर्श'-'दृष्टि' के मोह से मन का प्रपच कैसे वढता है ? 'सकल्प' का सम्वन्ध मन से है, 'स्पर्श' और 'दृष्टि' का सम्वन्ध मन की साधन त्वचा तथा आंख से है। त्वचा तथा आख दोनो एक-दूसरे का काम करती है। आंख न हो तो छूकर काम होता है। अत. अस्ल मे मन के प्रपच का विकास 'सकल्प' तथा 'दृष्टि' से है। मन की आख 'सकल्प' है, शरीर की आख 'स्पर्श' तथा 'दृष्टि' है। यथार्थ-दृष्टि हो जाय, तव तो मुक्ति हो जाती है, दृष्टि मे मोह आ पडे, तभी ससार का चक्र चलता है। इसलिये ऋषि ने कहा कि शरीर का विकास तो अन्न तथा जल से होना है, परन्तु मन का प्रपच तव चलता है जव यथार्थ-दृष्टि नही रहती, जव सकल्प, स्पर्श तथा दृष्टि का मोह मनुष्य को घेर लेता है। यथार्थ-दृष्टि उत्पन्न हो जाने से मनुष्य मन के वन्धन से छूट जाता है।)

देहधारी जीवात्मा अपने शुभ-अशुभ गुणों से स्थूल तथा सूक्ष्म अनेक रूपों को चुन लेता है। देह के साथ आत्मा का संयोग किस

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासांवुवृष्टचा चात्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ॥११॥

संकल्पन-स्पर्शन-दृष्टि-मोहै—सकल्प-विकल्प, स्पर्श, देखना और मोह (अज्ञान-मूढता) से, **ग्रास+अम्वुवृष्ट्या**—ग्रास (अन्न) और जल-वर्षा से, **च**—और, **आत्म-विवृद्धि-जन्म**—(जीवात्मा के) आत्मा (शरीर तथा मन) की वृद्धि और उत्पत्ति (होती है), **कर्म+अनुगानि**—कर्मों के अनुसार, **अनुक्रमेण**—वारी-वारी से, **देही**—देहधारी (जीव-प्राणी), **स्थानेषु**—(भिन्न-भिन्न शरीररूपी) स्थानों (स्थितियों) मे, **रूपाणि**—अनेक रूपों को, **अभिसंप्रपद्यते**—प्राप्त होना है ॥११॥

स्थूलानि सूक्ष्माणि वहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां सयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥१२॥

कारण हुआ ? इसका उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं कि आत्मा में अपनी क्रिया के, अर्थात् कर्मों के जो गुण हैं, और क्रिया के अतिरिक्त अपने जो दूसरे गुण हैं, उनके कारण यह 'अपर', अर्थात् परमात्मा से भिन्न जो जीवात्मा है वह शरीर के साथ संयोग का हेतु बन जाता है ॥१२॥

इस परिवर्तनशील संसार के बीच जो अनादि है, अनन्त है, विश्व का स्रष्टा है, अनेक-रूप है, इकला विश्व का परिवेष्टन कर रहा है—विश्व को घेरे हुए है—उस देव को जानकर यह जीव सब पाशों से मुक्त हो जाता है ॥१३॥

वह शिव-रूप भगवान् 'भावना' से, अर्थात् श्रद्धा से ग्रहण किया जाता है; उसका कोई 'नीड' नहीं, आश्रय-स्थान नहीं, वही सबका आश्रय है; वह संसार का भाव भी कर देता है, अभाव भी कर देता

स्थूलानि—स्थूल (मोटे), **सूक्ष्माणि**—सूक्ष्म, **बहूनि च**—और वहुत से, **एव**—ही, **रूपाणि**—रूपो (आकृतियो–शरीरो) को, **देही**—जीव-प्राणी, **स्वगुणैः**—अपने गुणो (सुकृत–पापमय) से, **वृणोति**—वरण (स्वीकार) करता है; **क्रिया-गुणैः**—कर्मों के गुण (साधन) से, **आत्म-गुणैः च**—और आत्मा के (निज–औदार्य आदि या इच्छा-द्वेष आदि छै) गुणो के कारण, **तेषाम्**—उन (शरीरो) के; **संयोग-हेतुः**—सयोग (प्राप्ति–वरण) का कारण, **अपरः**—पर (सर्व-श्रेष्ठ परमात्मा) से भिन्न जीवात्मा, **अपि**—भी, **दृष्टः**—देखा जाता (समझा जाता) है ॥१२॥

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

अनादि+अनन्तम्—अनादि और अनन्त, **कलिलस्य**—अति गहन, **मध्ये**—बीच मे; **विश्वस्य**—जगत् के, **स्रष्टारम्**—(उस जगत् के) रचयिता को, **अनेकरूपम्**—नाना रूपवाले, **विश्वस्य**—जगत् के, **एकम्**—अद्वितीय, **परिवेष्टितारम्**—आवरण करनेवाले, **ज्ञात्वा**—जानकर, **देवम्**—परमात्मदेव को, **मुच्यते**—छुट जाता है, **सर्वपाशैः**—सब बन्धनो से ॥१३॥

भावग्राह्यमनीड्याख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥१४॥

भावग्राह्यम्—भाव (भावना, श्रद्धा, भक्ति) से ग्रहण (ज्ञान) करने योग्य, **अनीड्य+आख्यम्**—'नीड' आश्रय की अपेक्षा न रखनेवाले अत 'अनीड्य' नाम

है; वह कलाओं से युक्त सृष्टि को रचने वाला है। उसे जो जान जाते हैं, वे उस देव की आराधना में अपने शरीर को आहुति के रूप में दे देते हैं ॥१४॥

षष्ठ अध्याय

(सृष्टि का सचालन 'कर्म' से और कर्म का संचालन 'भाव' से हो रहा है)

श्वेताश्वतर-उपनिषद् के प्रथम अध्याय में ब्रह्म-वादी लोग विचार करने के लिये एकत्रित हुए थे, और सोचने लगे थे कि सृष्टि का कारण क्या है ? उसी विचार-धारा को फिर से उठाकर ऋषि कहते हैं—कई विद्वान् भ्रम में पड़कर सृष्टि का कारण 'स्वभाव', और कई 'काल' को बतलाते हैं, परन्तु अस्ल में यह तो उस देव की महिमा है जिससे यह 'ब्रह्म-चक्र' घुमाया जा रहा है ॥१॥

जिससे यह ब्रह्मांड सदा आवृत रहता है, घिरा रहता है, जो सर्वज्ञ है, जो काल का भी काल है, जो गुणी है, जो सर्ववित् है, उसी

वाले, भाव+अभावकरम्—जगत् का भाव (रचना) और अभाव (सहार-प्रलय) करनेवाले, शिवम्—कल्याणकारी, कला-सर्गकरम्—कला (सौन्दर्य-विधान या यायातथ्य) से सृष्टि रचना करनेवाले या कलाओ (पूर्व-वर्णित प्राण-आदि १६ कलाओ के प्रपच) की रचना करनेवाले, देवम्—देव (भगवान्) को, ये—जो, विदुः—जान लेते हैं, ते—वे, जहुः—त्याग देते हैं, तनुम्—शरीर (जन्म-मरण) को ॥१५॥

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तयान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥१॥

स्वभावम्—(सृष्टि का कारण) स्वभाव को, एके—कई-एक, कवयः—कवि (ज्ञानी), वदन्ति—कहते (बताते हैं), कालम्—समय को, तया—और, अन्ये—दूसरे (विचारक कवि), परिमुह्यमाना—मोह (अज्ञान-भ्रम) मे पड़े हुए, देवस्य—परमात्म-देव की, एषः—यह, महिमा—महिमा ही, तु—तो, लोके—जगत् मे (विराजमान-ईशान) है, येन—जिस (महिमा) ने, इदम्—यह, भ्राम्यते—घुमाया जाता है; ब्रह्म-चक्रम्—ब्रह्म का (सृष्टि का) चक्र ॥१॥

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥२॥

के प्रभुत्व से 'कर्म' का विवर्त हो रहा है। बिना 'कर्म' के सृष्टि नहीं चल सकती, परन्तु 'कर्म' स्वयं जड़ है, अतः इसका संचालन वही कर रहा है। जो विद्वान् यह कहते हैं कि पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश--ये 'भूत' सृष्टि का संचालन कर रहे हैं, वे ऐसी बात कह देते हैं जो चिन्तनीय है, ठीक नहीं है ॥२॥

वह 'कर्म' का संचालन करके फिर स्वयं उसमें से निवृत्त हो जाता है। हां, सृष्टि-संचालन के लिये 'तत्त्व' का 'तत्त्व' के साथ 'संयोग' (Combination of Elements or Principles) वह कर देता है। इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय में 'काल-स्वभाव-नियति-यदृच्छा-भूत-योनि-संयोग-आत्मा'--ये आठ कारण कहे गये थे। ये आठ कारण ही आठ 'तत्त्व' हैं। 'काल' से लेकर 'आत्मा के सूक्ष्म-गुणों' तक जो ये आठ तत्त्व हैं इनमें से एक, दो, तीन या आठों तत्त्वों के संयोग से वह देव 'कर्म' का संचालन करता है, ये स्वतन्त्र कुछ नहीं कर सकते ॥३॥

येन—जिसके द्वारा, **आवृतम्**—आच्छादित, घिरा, **नित्यम्**—हमेशा, **इदम् हि सर्वम्**—यह सब (कार्य-जगत्), **ज्ञः**—ज्ञाता, **कालकारः**—काल को प्रगट करनेवाला, **गुणी**—(दया-ज्ञान आदि) गुणों से युक्त, **सर्वविद्**—सब का जाननेवाला (सर्वज्ञ), **यः**—जो, **तेन**—उससे (के द्वारा), **ईशितम्**—अधिष्ठित (अध्यक्षता में), **कर्म**—जगद्-रचना रूप कार्य, **विवर्तते**—परिणत हो रहा है, **ह**—निश्चय से, **पृथ्वी+अप्+तेजः+अनिल-खानि**—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश (का जगत्-कारण होना तो), **चिन्त्यम्**—विचारणीय (सदिग्ध-भ्रममात्र) है ॥२॥

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्या त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥३॥

तत्—उस, **कर्म**—(जगद्रचना रूप) कर्म को, **कृत्वा**—करके, **विनि-वर्त्य**—स्वयम् पृथक् रहकर, **भूय**—फिर, **तत्त्वस्य**—एक कारण-तत्त्व का, **तत्त्वेन**—दूसरे कारण-तत्त्व से, **समेत्य**—सगत कर, **योगम्**—मेल, **एकेन**—एक (तत्त्व) से, **द्वाभ्याम्**—दो (तत्त्वों) से, **त्रिभि**—तीन (तत्त्वों) से, **अष्टभिः वा**—या (काल आदि) आठों (तत्त्वों) से, **कालेन**—काल से (उचित समय पर), **च एव**—और ही, **आत्म-गुणै**—अपने (ज्ञान-बल-क्रिया) गुणों से, **च**—और, **सूक्ष्मै**—सूक्ष्म (अदृश्य) ॥३॥

'कर्म' तो जड़ है, उसका आरम्भ कौन करता है ? वही देव सृष्टि के प्रारम्भ में सत्त्व, रज, तम—तीन गुणों से युक्त 'कर्म' को अपने मार्ग में प्रवृत्त कर देता है। परन्तु 'कर्म' भी कुछ नहीं कर सकता अगर उसमें 'भाव' न हो। 'कर्म' (Action) शरीर है, 'भाव' (Intention) उसकी आत्मा है। मनुष्य हाथ चलाता है, यह 'कर्म' है। यह 'कर्म' शुभ अथवा अशुभ तभी हो सकता है, अगर इसमें क्रोध अथवा प्रेम का 'भाव' हो। देव ने सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणो से युक्त कर्मों को प्रवृत्त किया, परन्तु साथ ही कर्मों के साथ सब 'भावों' को भी विनियुक्त कर दिया। अगर 'भाव' का, मन की सकाम-भावना का अभाव हो जाय, वह हट जाय, तो कृत-कर्म का, किये हुए 'कर्म' का नाश हो जाता है। 'भाव' न रहे, तो कर्म होने पर भी मानो कर्म नहीं होता, क्योंकि 'कर्म' का 'कर्मपना' उसमें निहित 'भाव' पर ही आश्रित है। इस प्रकार जब 'भाव' के, अर्थात् कामना के नाश से कर्म का क्षय हो जाय, तो वह देव संसार के रचना करने वाले तत्त्वों से अलग हो जाता है ।।४।।

(हम बुरा काम करते है। क्यो ? एक व्यक्ति ने हमे गाली दी। उसे क्रोध आया था, उसकी गाली सुनकर हमारा क्रोध भी भभक उठा। हमने गाली का जवाब गाली मे दिया। मामला बढ गया। डडे चल पडे, कत्ल हो गया। यह सब क्यो हुआ ? 'क्रोध' से हुआ। यह क्रोध ही तो 'भाव' है, 'कामना' है। 'भाव' न होता, तो 'कर्म' का जो लम्बा-चौड़ा सिलसिला चल पडा वह

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाश. कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ।।४।।

आरभ्य—प्रारम्भ कर; कर्माणि—कर्मों (जगद्-रचना) को, गुण+अन्वितानि—गुणों (सत्त्व-रजस्-तमस्) से युक्त, भावान्—भावो (काम-क्रोध आदि) को, च—और, विनियोजयेत्—युक्त (एकत्र) करता है, यः—जो, तेषाम्—उन (भावों) के, अभावे—न रहने पर, कृतकर्मनाश—कर्मों का नाश (सहार) करनेवाला, कर्मक्षये—कर्म (सृष्टि) के क्षय (प्रलय) होने पर, याति—(हो) जाता है, सः—वह, (रचयिता), तत्त्वतः—(आठों) तत्त्वों से या वस्तुत , अन्यः—पृथक्, दूसरा ।।४।।

न चलता। अस्ली चीज 'कर्म' नही, 'भाव' है--यह 'भाव' ही 'कर्म' मे जान डालता है। 'कर्म' के बन्धन से छूटने का उपाय 'भाव' से छूट जाना, 'कामना' को छोड़ देना है। इसी को गीता मे 'निष्काम-कर्म' कहा है। 'कर्म' जीव को तभी तक बाध सकता है जब तक उसमे 'भाव' या 'कामना' है। काम-क्रोध-लोभ-मोह--यही तो 'भाव' है। 'भावो' के वश मे होकर जीव अन्धा हो जाता है, और जो-कुछ नही करना चाहिये कर डालता है। इसी से कर्म-चक्र चलता है। भावो से अलग हो जाने पर वह कर्म तो करता है, परन्तु क्योकि उन कर्मो मे 'भाव' नही होता, अत वे कर्म बन्धन का कारण नही बनते। इस विषय को हमने 'वैदिक-सस्कृति के मूल-तत्त्व' ग्रन्थ मे अधिक स्पष्ट किया है।)

('कर्म' तथा 'भाव' का भी वही स्वामी है)

इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय में कहा था कि क्या 'काल-स्वभाव-नियति-यदृच्छा-भूत-योनि-आत्मा' इनका 'संयोग' सृष्टि का कारण है ? ऋषि कहते है, इनके संयोग का कारण 'कर्म' ही हो सकता है, परन्तु वह देव 'कर्म' का भी कारण है, वह कारणों का कारण है, 'आदि' वही है, वह तीनों कालों से परे है। वह 'अकल' है, परन्तु अकल होता हुआ भी वह 'विश्वरूप' है, 'भवभूत' है, विश्व तथा भव के रूप में प्रकट हो रहा है। ऐसे स्तुति-योग्य देव की, जो चित्त में स्थित है, पहले उपासना करे ॥५॥

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥५॥

आदिः—(सब तत्त्वो से) पूर्व वर्त्तमान, **सः**—वह, **सयोगनिमित्तहेतुः**—(तत्त्वो के) सयोग (मेल) रूप निमित्त (जगद्-रचना के कारण) का हेतु (मूल कारण), **पर.**—परे, अतीत, **त्रिकालात्**—तीनो कालो से, **अकलः**—कलाओ (अवयवो) से शून्य, **अपि**—भी, **दृष्टः**—देखा (जाना) जाता है, **तम्**—उस, **विश्वरूपम्**—नाना रूप वाले, **भवभूतम्**—भव (जगन्निर्माता) हुए, **ईड्यम्**—स्तुति के योग्य, **देवम्**—भगवान् की, **स्वचित्तस्थम्**—अपने चित्त (हृदय मे वर्त्तमान आत्मा) मे स्थित, **उपास्य**—उपासना करके, **पूर्वम्**—पहले ॥५॥

वह प्रकृति-रूपी 'वृक्ष' तथा 'काल' की नाना आकृतियों, उनके नाना भेदो से परे है, वह इनसे 'अन्य' है, उसी से यह विश्व का प्रपंच परिवर्तित हो रहा है, चल रहा है। वह धर्म को प्राप्त कराने वाला और पाप को काटने वाला है, भाग्य का वही स्वामी है, विश्व के धाम उस अमृत स्वरूप भगवान् को आत्मा में स्थित जान कर उसकी उपासना करे ॥६॥

वह ईश्वरो का परम-महेश्वर है, वह देवों का परम-देव है, वह पतियो का परम-पति है, वह परे से भी परे है, भुवन के स्वामी, स्तुति के योग्य उस देव को हम जानते है ॥७॥

उसे अपने लिये कुछ भी नही करना, वह जो-कुछ करता है उसके लिये उसे साधनो की आवश्यकता नही, उसके समान कोई

स वृक्षकालाकृतिभि· परोऽन्यो यस्मात्प्रपच· परिवर्ततेऽयम् ।
धर्मावहं पापनुद भगेश ज्ञात्वात्मस्थममृत विश्वधाम ॥६॥

स·—वह (ब्रह्म-देव), वृक्ष-काल+आकृतिभिः—वृक्ष (प्रकृति) और काल की आकृतियो (रूपो) से, परः—परे, पृथक्, अन्य—दूसरा है, यस्मात्—जिस (निमित्त-कारण) मे, प्रपंच·—(जगत् का) फैलाव, परिवर्त्तते—घूम रहा है, अयम्—यह, धर्म+आवहम्—धर्म (पुण्य) प्राप्त करानेवाले, पापनुदम्—पाप को परे हटानेवाले, भग+ईशम्—सकलैश्वयो के स्वामी को, ज्ञात्वा—जान कर, आत्मस्थम्—जीव-आत्मा मे स्थित, अमृतम्—अमर, विश्व-धाम—जगदाधार या जगद्-रूपी घर वाला, जगत् मे व्याप्त ॥६॥

तमीश्वराणा परम महेश्वर त देवताना परम च दैवतम् ।
पति पतीना परम परस्ताद्विदाम देव भुवनेशमीड्यम् ॥७॥

तम्—उस, ईश्वराणाम्—ऐश्वर्य-शालियो के (से), परमम्—श्रेष्ठ, बढ़कर, महेश्वरम्—महेश्वर, तम्—उस, देवतानाम्—देवताओ के भी, परमम्—परम, च—और, दैवतम्—देव (देवो के देव), पतिम्—पति (रक्षक-स्वामी), पतीनाम्—पतियो (रक्षको) के, परमम्—परे, परस्तात्—परे से, विदाम—जानें, देवम्—भगवान् को, भुवन+ईशम्—लोको के नियन्ता, लोक-पति, ईड्यम्—स्तुति के योग्य ॥७॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥८॥

न—नही, तस्य—उस (देव) का, कार्यम्—करने योग्य निज काम, करणम्—कार्य का साधन, च—और, विद्यते—है, न—नही, तत्सम—

नहीं दीख पड़ता, उससे अधिक कोई नहीं दीख पड़ता। सुनते हैं, उसकी परम शक्ति है, विविध शक्ति है, उसमें 'ज्ञान'-'बल'-'क्रिया'—ये तीनों स्वाभाविक हैं, अर्थात् किसी अन्य कारण पर आश्रित नहीं ॥८॥

लोक में उसका कोई पति नहीं, अर्थात् उस पर कोई हुकूमत करने-वाला नहीं, उसका कोई लिंग नहीं, चिह्न नहीं। वह जगत् का कारण है, इन्द्रियों के अधिप का भी वह अधिप है, जीवात्मा का स्वामी है, उसका कोई उत्पादक नहीं, अधिपति नही ॥९॥

जैसे मकड़ी तन्तुओं से अपने को आच्छादित कर लेती है, इसी प्रकार जो देव इकला 'प्रधान', अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न होने वाले तन्तु-रूप माया-जाल से अपने को स्वभाव से घेर लेता है, वह हमें ब्रह्म में लीनता प्रदान करे ॥१०॥

उसके बराबर, **च**—और, **अभ्यधिकः**—उससे बढ कर, **च**—और, **दृश्यते**—दिखाई देता है, **परा**—उत्कृष्ट, परम, **अस्य**—इसकी **शक्तिः**—सामर्थ्य, **विविधा**—नानाविध, **एव**—ही, **श्रूयते**—सुनी जाती है, **स्वाभाविकी**—स्वभाव-सिद्ध, **ज्ञान-बल-क्रिया**—ज्ञान, बल और कर्म, **च**—और ॥८॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥९॥

न—नही, **तस्य**—उसका; **कश्चित्**—कोई, **पतिः**—रक्षक, स्वामी, **अस्ति**—है, **लोके**—ससार मे, **न च**—और न ही, **ईशिता**—नियन्ता, ईश्वर, **न+एव**—न ही, **च**—और, **तस्य**—उसका, **लिङ्गम्**—चिह्न, पहचान कराने-वाला, **सः**—वह, **कारणम्**—(जगत् का) कारण है, **करण+अधिप+अधिपः**—साधनो के स्वामियो का भी स्वामी, **न च**—और नही, **अस्य**—इसका, **कश्चित्**—कोई, **जनिता**—उत्पादक, पिता, **न च**—और न ही, **अधिपः**—अधिष्ठाता, शासक, स्वामी है ॥९॥

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः
देव एकः स्वमावृणोत्। स नो दधात् ब्रह्माप्ययम् ॥१०॥

यः तु—जो तो, **ऊर्णनाभः इव**—मकडी के समान, **तन्तुभिः**—तन्तुओ (धागे) से; **प्रधानजैः**—प्रकृति से उत्पन्न, **स्वभावतः**—स्वभाव से, अनायास, **देवः**—देव ने, **एकः**—इकले, **स्वम्**—अपने को, **आवृणोत्**—ढका हुआ है, **सः**—वह, **नः**—हमे, **दधात्**—धारण करे (प्रदान करे), **ब्रह्म+अप्ययम्**—ब्रह्म मे लय को (हमे अपने मे लीन कर ले) ॥१०॥

वह देव एक है परन्तु अनेक भूतों में गूढ़ है, सर्व-व्यापी है, सब भूतों के अन्तरात्मा तक गया हुआ है। 'कर्म' का वह अध्यक्ष है, वह सब भूतों में है, परन्तु सब भूत उसमें है—वह सब भूतों का अधिवास है। वह साक्षी है, चेतन है, केवल है, निर्गुण है—सत्त्व, रज, तम, इन तीनों गुणों से अलग है ॥११॥

वह इकला अनेक निष्क्रिय तत्त्वों को वश में करने वाला है, वह एक बीज-रूप प्रकृति को अनेक बना देता है। जो धीर लोग आत्मा में स्थित उसे निकट से देखते है उन्हें निरन्तर सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं ॥१२॥

जो नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन है, जो एक होता हुआ अनेक जीवों की कामनाओं को पूर्ण करता है—वही इस सृष्टि का

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥११॥

एक.—एक, देवः—देव (भगवान्), सर्वभूतेषु—सब प्राणियो मे, गूढः—छिपा हुआ, व्याप्त है; सर्वव्यापी—सर्व-व्यापक; सर्वभूतान्तरात्मा—सब भूतो मे अन्तर्यामी, सब प्राणियो के आत्मा मे स्थित, कर्माध्यक्षः—कर्म का अधिष्ठाता, कर्म-फल का प्रदाता, सर्वभूताधिवासः—सब भूतो का आधार तथा सब भूतो मे बसने वाला, साक्षी—सब का यथार्थ द्रष्टा, चेता—चेतन (ज्ञानी); केवलः—केवल (अद्वितीय), निर्गुणः च—और (सत्त्व–रजस्–तमस्) गुणो से रहित–पृथक् ॥११॥

एको वशी निष्क्रियाणा बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

एक.—एक, वशी—वश मे रखनेवाला, नियन्ता, निष्क्रियाणाम्—कर्म-शून्य, निश्चेष्ट, बहूनाम्—अनेक, एकम्—एक, बीजम्—(कारण-प्रकृति रूप) बीज को; बहुधा—अनेक रूप मे, यः—जो, करोति—कर देता है, तम्—उसको, आत्मस्थम्—(अपने) आत्मा में विद्यमान, ये—जो; अनुपश्यन्ति—साक्षात् करते है, धीरा.—बुद्धिमान् एव धैर्यवान्, तेषाम्—उनका; सुखम्—सुख, आनन्द, शाश्वतम्—सदा रहने वाला, निरन्तर, न—नही; इतरेषाम्—दूसरो (अज्ञानियो) का ॥१२॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

नित्यः—नित्य, नित्यानाम्—नित्यो का, चेतनः—चेतन; चेतनानाम्—

कारण है, सांख्य और योग से वह प्राप्त होता है। यह जीव उस देव को जान कर सब पाशों से मुक्त हो जाता है ॥१३॥

वहां न सूर्य चमकता है, न चांद और तारे, न बिजलियां चमकती हैं, यह अग्नि तो कहां ? उसी की चमक से यह-सब चमकता है, उसी की ज्योति से यह-सब ज्योतिमान् हो रहा है ॥१४॥

भुवन-रूपी जलाशय के मध्य में देव-रूपी एक हंस है। वह हंस वही है, जो अग्नि होकर भी जल में जा बैठा है। आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि और अग्नि से जल--यही तो सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम है। आग्नेय-तत्त्व से जब जलीय-तत्त्व उत्पन्न होता है, तब मानो अग्नि ही जल में जा बैठती है। जल में छिपे हुए अग्नि-रूप हंस को जान कर मृत्यु-रूप नदी को यह जीव पार कर सकता है, वहां जाने के लिये और कोई मार्ग नहीं है ॥१५॥

चेतनो का, **एकः**—एक (ब्रह्म), **बहूनाम्**—बहुत (जीवो) की, **यः**—जो, **विदधाति**—(पूर्ण) करता है, **कामान्**—कामनाओ (भोगो) को, **तत्कारणम्**—उस (जगत् के) कारणभूत, **सांख्ययोग+अधिगम्यम्**—साख्य (प्रकृति-पुरुष-विवेक) और योग (चित्तवृत्ति-निरोध) से प्राप्त (ज्ञात) करने योग्य, **ज्ञात्वा**—जानकर, **देवम्**—देव (परमात्मा) को, **मुच्यते सर्वपाशैः**—सब बन्धनो से छूट जाता (मुक्त हो जाता) है ॥१३॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१४॥

न तत्र सूर्यः भाति—वहाँ सूर्य नही चमकता, **न चन्द्रतारकम्**—न चन्द्रमा और तारे, **न इमाः विद्युतः**—न ये बिजलिया, **भान्ति**—चमकती हैं, **कुतः**—कैसे, **अयम् अग्निः**—यह (तुच्छ) अग्नि, **तम् एव भान्तम् अनुभाति सर्वम्**—उसके चमकने पर ही ये सब चमकते हैं, **तस्य भासा**—उसकी चमक से, **सर्वम् इदम् विभाति**—यह सब चमक रहा है ॥१४॥

एको हँसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१५॥

एकः—एक, **हंसः**—सूर्य, आत्मा, हस पक्षी, **भुवनस्य**—लोक के, **अस्य**—इस, **मध्ये**—बीच मे, **सः एव**—वह ही, **अग्नि**—अग्नि, ज्ञानस्वरूप, **सलिले**—जल मे, **संनिविष्टः**—बैठा है, विद्यमान है, **तम् एव विदित्वा**—उसको ही जान कर, **अति मृत्युम् एति (मृत्युम् अति एति)**—मृत्यु को पार करता है

वह विश्व को रचने वाला है, विश्व को जानने वाला है, उसका कोई रचयिता नहीं, वह 'आत्म-योनि' है, अपने-आप अपने को उत्पन्न करने वाला है—स्वयं-भू है, 'ज्ञः' है, वह सब जानता है, काल का वह काल है, गुणों का आगार है, सर्ववित् है। वह 'प्रधान' अर्थात् प्रकृति तथा 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् जीवात्मा—इन दोनों का पति है, प्रकृति के तीनों गुणों का स्वामी है, जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय तथा जीव के बन्धन का वही कारण है ॥१६॥

वह 'तत्-मय' है, वही-वह है, वह 'अमृत' है; वह 'ईश-संस्थ' है, इस जगत् का स्वामित्व करने के लिये जो मर्यादा होनी चाहिये, वह उसमें पाई जाती है; वह 'ज्ञः' है—प्रज्ञान-घन है, सब जगह पहुंच कर सब-कुछ जान रहा है, इस भुवन का रक्षक है। वह इस जगत् का नित्य स्वामी है। जगत् पर हुकूमत करने के लिये, उसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण है ही नहीं, अर्थात् संसार का वही एक अन्तिम कारण है ॥१७॥

(मुक्त होता है), न अन्यः पन्थाः—नहीं दूसरा मार्ग, विद्यते—है, अयनाय—पहुचने के लिए ॥१५॥

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद् यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥१६॥

सः—वह, विश्वकृत्—जगत् का रचयिता, विश्वविद्—सर्वज्ञ या सब को प्राप्त (सर्वव्यापक), आत्मयोनिः—जीव का आधार या स्वयभू, ज्ञः—जाननेवाला, ज्ञाता, कालकारः—काल का भी कर्ता, गुणी—गुणो से युक्त, सर्वविद्—सर्वज्ञ, यः—जो, प्रधान-क्षेत्रज्ञपतिः—प्रधान (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) का स्वामी (अधिष्ठाता), गुण+ईशः—(तीनो) गुणो का नियन्ता, संसार-मोक्ष-स्थिति-बन्ध-हेतुः—ससार (जगद्रचना) और (जीवात्मा के) मोक्ष, स्थिति (पालन) और बन्ध (बन्धन) का कारण ॥१६॥

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥१७॥

सः—वह, तन्मय—तत्-स्वरूप (किसी अन्य से अनिर्मित), आत्ममय, हि—ही, अमृतः—अमर, ईशसंस्थ—ईश (शासक) की संस्था (मर्यादा) वाला, ज्ञः—ज्ञानी, सर्वग—सर्वत्र व्यापक, भुवनस्य—लोक का, अस्य—इस, गोप्ता—रक्षक, यः—जो, ईशे—नियमित रखता (नियता) है, अस्य जगतः—

जो पहले-पहल ब्रह्मा का निर्माण करता है, उसके अनन्तर जो उसके पास वेदों का प्रकाश भेजता है, जो आत्मा में बुद्धि के प्रकाश का संचार करता है, मैं मुमुक्षु उस देव की शरण में जाता हूं ।।१८।।

जो निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निर्दोष, निर्लेप है, जो अमृत तक पहुंचाने वाला पुल है, जो इन्धन की अग्नि की भांति निर्धूम है, मैं मुमुक्षु उस देव की शरण में जाता हूं ।।१९।।

जब लोग चर्म से आकाश को लपेटने लगेंगे, तब उस देव को जाने बिना भी दुःख का अन्त होने लगेगा, अर्थात् जैसे चमड़े से आकाश नहीं लपेटा जा सकता, वैसे उसे जाने बिना दुःख भी नही छूट सकता ।।२०।।

इस जगत् का, **नित्यम् एव**—सदा ही, **न**—नही, **अन्यः**—दूसरा, **हेतुः**—कारण; **विद्यते**—है, **ईशनाय**—शासन के लिए ।।१७।।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।।१८।।

यः—जो, **ब्रह्माणम्**—चतुर्वेद-ज्ञाता को, **विदधाति**—रचता है, **पूर्वम्**—पहले (जगत् के आदि मे), **यः वै**—जो ही, **वेदान्**—चारो वेदो को, **च**—और, **प्रहिणोति**—भेजता है, प्रकाशित करता है, **तस्मै**—उस (ब्रह्मा) के लिए, **तम् ह देवम्**—उस ही परम-देव की, **आत्म-बुद्धि-प्रकाशम्**—आत्मा में बुद्धि (ज्ञान) का प्रकाश करनेवाले, **मुमुक्षुः**—मोक्षार्थी, **वै**—निश्चय से, **शरणम्**—शरण, **अहम्**—मैं, **प्रपद्ये**—प्राप्त करता—जाता हू ।।१८।।

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ।।१९।।

निष्कलम्—कला (अवयवो) से रहित, **निष्क्रियम्**—कर्म से रहित, **शान्तम्**—शान्त, **निरवद्यम्**—निर्दोष, **निरञ्जनम्**—निर्लेप, **अमृतस्य**—अमरता (मोक्ष) के, **परम्**—सर्वोत्कृष्ट, **सेतुम्**—(दु ख से) पार करानेवाले पुल, **दग्ध+इन्धनम्**—जले इन्धनवाली, दीप्तिमान्, **इव**—समान, **अनलम्**—अग्नि को ।।१९।।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवा ।
तदा देवमविज्ञाय दु खस्यान्तो भविष्यति ।।२०।।

यदा—जब, **चर्मवत्**—मृग-चर्म की तरह, **आकाशम्**—आकाश को, **वेष्टयिष्यन्ति**—लपेटेंगे, **मानवाः**—मनुष्य, **तदा**—तब ही, **देवम्**—परमात्मा को, **अविज्ञाय**—न जान कर, विना जाने भी, **दुःखस्य**—दु ख का, **अन्त**—

तप के प्रभाव से और देव के प्रसाद से विद्वान् श्वेताश्वतर ऋषि ने ऋषियों के संघ द्वारा सेवित ब्रह्म का संन्यासियों को उपरि-वर्णित उपदेश दिया ॥२१॥

पुराकल्प में इस परम-गुह्य ब्रह्म का वर्णन वेदान्त-शास्त्र में पाया जाता है। अशान्त-चित्त, अपुत्र अथवा अशिष्य को इसका उपदेश नहीं करना चाहिये। शान्त-चित्त व्यक्ति को, पुत्र को अथवा शिष्य को ही इसका उपदेश करे ॥२२॥

जिन रहस्यों को इस उपनिषद् में कहा गया है, वे उसी महात्मा को प्रकाशित होते हैं जिसकी देव में—भगवान् में—परम-भक्ति होती है, और जिसकी जैसी भगवान् में भक्ति होती है वैसी ही भक्ति गुरु में भी होती है ॥२३॥

अन्त, समाप्ति, भविष्यति—होगी (जैसे आकाश का लपेटना असम्भव है, ऐसे भगवान् के विना जाने दुःख का अन्त भी असम्भव है) ॥२०॥

तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥२१॥

तपःप्रभावात्—तप के प्रभाव से, देवप्रसादात् च—और भगवान् के अनुग्रह से, ब्रह्म—ब्रह्म (ज्ञान) को, ह—पहिले कभी; श्वेताश्वतरः—श्वेताश्वतर नामी ऋषि ने, अथ—तो, विद्वान्—(ब्रह्म-) ज्ञाता, अत्याश्रमिभ्यः—संन्यासियों को, परमम् पवित्रम्—परम पावन; प्रोवाच—उपदेश किया था, सम्यग्—भली प्रकार, ऋषि-संघजुष्टम्—ऋषि-मण्डली द्वारा सेवित (अनुसृत) ॥२१॥

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥२२॥

वेदान्ते—वेदान्त-शास्त्र में, परमम्—परम; गुह्यम्—गुह्य (दुर्बोध), पुराकल्पे—प्राचीन काल में, प्रचोदितम्—वर्णन किया गया था, न—नहीं, अप्रशान्ताय—चित्त-शान्ति से शून्य, दातव्यम्—(उपदेश) देना चाहिये, न—नहीं, अपुत्राय—पुत्र से भिन्न को; अशिष्याय वा—या शिष्य से भिन्न को, पुनः—फिर ॥२२॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मन इति ॥२३॥

यस्य—जिसकी, देवे—परमात्म-देव (स्तुति में), परा भक्तिः—परम भक्ति है, यथा देवे—जैसी देव में (भक्ति है), तथा—वैसी, गुरौ—गुरु में है, तस्य—उस (भक्त) को, एते—ये, कथिताः—वर्णित हि—ही, अर्थाः—अर्थ (भाव, विचार), प्रकाशन्ते—प्रकाशित (ज्ञात) होते हैं, महात्मनः—महात्मा के, प्रकाशन्ते महात्मनः इति—ऐसे महात्मा को ज्ञात होते हैं (द्विरुक्ति उपनिषद् की समाप्ति-सूचक है) ॥